

एब्बशती



पञ्चशती
पञ्चशती
पञ्चशती
पञ्चशती
पञ्चशती

पञ्चशती

-आचार्य विद्यासागर

संस्कृत टीका एवं हिन्दी रूपान्तरण

- डॉ. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य

प्रकाशक : ज्ञानगंगा

३०, डिप्टीगंज, सदर बाजार,

दिल्ली - ११०००६

Ph. २६१६५२५, २५२६६५१

प्रथमावृत्ति : फरवरी १९६१

मूल्य : स्वाध्याय

१. अजितप्रसाद जैन, देहली

२. कपेशचन्द्र जैन, देहली

३. संजय जैन, देहली

मुद्रक प्रकाश आफसेट प्रिंटर्स, फोन : ३२७८३५८

प्रकाशकीय

जैन सन्तों की दिनचर्या में चिन्तन/मनन/लेखन का एक विशेष स्थान रहा है, है तथा रहेगा। उनकी इस प्रवृत्ति ने ही जैन साहित्य को गतन सुगुणित एवं संवर्धित किया। ये साधु अपने समय का सच्चे अर्थों में सदुपयोग करने में तत्पर रहते रहे हैं। 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमतां' वाली कहावत में भी यथेष्ट परिवर्धन कर वे काव्यशास्त्र के द्वारा मात्र किनोद का लक्ष्य न रख अध्यात्म की अगम गहराईयों की तहों में प्रवेश पाने की सुगमतर राहों को आविष्कारित करना ही लक्ष्य बनाते रहे। उनकी ज्ञानाराधना मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा या प्रतिस्पर्धा आदि कामनाओं से स्वखलित हो नदप्रवाह की तरह सहजगतिशील एवं निर्मज रही। शायद यही कारण है कि उनकी लेखनी को मार्मिकतथ्यों एवं लोकरुचियों के गर्भभेदन में कोई रुकावट या श्रम नहीं हुआ। उनकी चिन्तना ने विना किसी अपेक्षा के हितग्राही सत्य को प्रकट व प्रसारित किया। जो कि जैन वाङ्मय की अमोल धरोहर है।

वर्तमान में दिगम्बर जैन समुदाय में भास्वर नक्षत्र की तरह स्पष्ट एवं आकर्षक सत्ता को स्थापित करने वाले जैनावधूत परम पूज्य आचार्य 108 श्री विद्यासागर जी महाराज का नाम देदीप्यमान है। आपने आचार के क्षेत्र में आदर्श स्थापित किये हैं। उनको देखते हुए चतुर्थकालीन जैन सन्तों का स्मरण सहज ही हो जाता है तथा आज की इस चकाचौंध भरी दुनिया के समक्ष वे आश्चर्यजनक अवभासित होते हैं। तिस पर भी आपका यह दावा कतई नहीं होता कि यह संहिता का पूर्णतया अनुपालन है।

आचार्य विद्यासागर जी ने अपनी सशक्त कलम से अपने अनुभवों एवं लोकनीतियों को लिपिबद्ध किया। आप संस्कृत और हिन्दी पर साधिकार एवं समान रूप से लगातार 15-20 वर्षों से लिख रहे हैं। इस दौरान पांच संस्कृत शतकों की रचना हुई। जो कि पाठकों के कण्ठहार बन गये। कई संस्करण निकले। परन्तु आज संस्कृत के प्रति बढ़ती उपेक्षा के कारण आवश्यक लगा कि इन पर टीका के साथ हिन्दी रूपान्तरण भी होना चाहिए। आचार्य श्री से कई बार विनयपूर्वक निवेदन किया गया पर यह संभव न हो सका। अतः यह कार्य पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य को सौंपा गया। जो अब तैयार होकर आप सबके हाथों में भी है।

इन शतकों पर अनुसन्धान की दिशा में भी कार्य हो चुका और हो रहा है। एक शोध प्रबन्ध डा. आशालता मलैया, सागर ने "संस्कृत शतक परम्परा और आचार्य विद्यासागर के शतक" के नाम से प्रस्तुत किया। जो कि विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत हो प्रकाशित भी हो चुका है। एक प्रबन्ध दमोह से भी प्रस्तुत किया जा रहा है।

परम पूज्य आचार्य श्री के चरणों में विनम्र नमन-वन्दन अर्पित कर उनके प्रति श्रद्धा के सुमनों के द्वारा कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं तथा उनके उपकार को बहुशः स्मृत करते हैं। वृद्धावस्था में भी पं. पन्नालाल जी ने यह कार्य संपन्न कर दिया, लगता है यह सब जिनशासन का ही प्रभाव है अन्यथा उनके कांपते हाथ, हिलती गर्दन और स्थिर न हो सकने वाली आसन के साथ भी वे कैसे कार्य कर सकते ? उनका आभार मानना शब्दों की सामर्थ्य के बाहर है। इसके साथ ही इस कार्य में हमें बहुत से लोगों से सहयोग लेना पड़ा। इस में जिन भी महानुभावों में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप भी सहयोग दिया है उनके प्रति हम कृतज्ञ हैं।

जिनशासन की प्रभावना के साथ उसके अनुपालन की ओर हमारे कदम बढ़ सके, इसी भावना से साथ.....

— ज्ञानगंगा

आद्य-निवेदन

पूज्यवर आचार्य विद्यासागर जी महाराज दिवंगत पूज्यवर आचार्य ज्ञानसागर जी के प्रबुद्धतम शिष्य हैं। जन्मना कर्णाटक भाषाभाषी होने पर भी संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी भाषा पर आपका पूर्ण अधिकार है। हिन्दी भाषा का इतना शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण होता है कि उसे सुनकर यह प्रतीत नहीं होता है कि हिन्दी इनकी मातृभाषा नहीं है।

आप ज्ञान, ध्यान और तप में लीन रहने वाले अद्वितीय साधु हैं। पूर्वभव के संस्कार से अल्पवय में ही संसार, शरीर, भोगों से विरक्त हो आपने निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण की है। आपका प्रत्येक क्षण ज्ञान की आराधना में व्यतीत होता है। किसी अभ्यागत के आने पर दो चार मिनट में ही कुशल-प्रश्न को समाप्त कर शास्त्रीय चर्चा शुरु कर देते हैं। आपकी इस तपोमय साधना का ही फल है कि आप षट्खण्डागम तथा कर्मायपाहुड जैसे करणानुयोग के कठिन ग्रन्थों में पारंगत हो गये हैं और इसी के फलस्वरूप सागर, जबलपुर, ललितपुर, खुरई और पपौराजी में इन ग्रन्थों की नौ वाचनाएँ आयोजित की जा चुकी हैं।

दक्षिणप्रान्तीय होने पर भी अनेक वर्षों से आपका मंगल-विहार मध्यप्रदेश में हो रहा है और उससे प्रभावित होकर यहाँ के अनेक युवा महाव्रत धारण कर स्व-पर कल्याण कर रहे हैं। आपके संघ में अनेक साधु जैनगम के अच्छे ज्ञाता और प्रभावक वक्ता हैं। यद्यपि आप अपने संघ में आर्थिकाओं को नहीं रखते हैं तथापि आपसे दीक्षित आर्थिकाओं के अनेक संघ अपनी निर्दोष चर्चा और वक्तृत्व कला से जिनशासन की महती प्रभावना कर रहे हैं।

आचार्य विद्यासागर जी प्रतिभासंपन्न कवि भी हैं। इसीलिये आपने अनेक स्तोत्रों तथा कुन्दकुन्द और समन्तभद्राचार्य के अनेक ग्रन्थों का पद्यानुवाद किया है समणसुत्त का जैनगीता के नाम से पद्यानुवाद किया है। कुन्दकुन्द का कुन्दन नाम से वसन्ततिलका छन्द में समयसार का जब मधुर स्वर से पाठ करते हैं तब श्रोता भावविभोर हो जाते हैं। दो वर्ष पूर्व आपका मूकमाटी नाम का आध्यात्मिक महाकाव्य भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली से प्रकाशित हुआ है जो हिन्दी जगत् में बहुचर्चित और बहुप्रशंसित हुआ है।

संस्कृतभाषा के आप अधिकारी विद्वान् ही नहीं सुकवि भी हैं। संस्कृत साहित्य में समन्तभद्राचार्य ने स्तुतिविद्या नाम से जिनशतक की रचना की थी। महाकवि भर्तृहरि के शृंगारशतक, वैराग्यशतक और नीतिशतक संस्कृतज्ञ विद्वानों के बीच बड़े आदर से पढ़े जाते हैं। शतक रचना की लोकप्रियता संस्कृत में ही नहीं प्राकृत और हिन्दी में भी प्रसिद्धि को प्राप्त हो गई है अतः प्राकृत में भी ध्यानस्तव आदि तथा हिन्दी में भूधरशतक आदि लिखे गये हैं। यह परम्परा शतक तक ही सीमित नहीं रही सप्तशती (सतसई) के नाम से बुधजन और बिहारी ने भी अपनी रचनाओं से हिन्दी काव्य भाण्डार को भरा है।

आचार्य विद्यासागर जी का भी ध्यान शतक रचना की ओर आकृष्ट हुआ, और उसके फलस्वरूप उन्होंने विभिन्न वर्षायोगों में 1 श्रमणशतक 2 निरंजनशतक 3 भावनाशतक 4 परिषदजयशतक (ज्ञानोदय) और 5 सुनीतिशतक की रचना की। संस्कृत के साथ ही आपने इन सभी शतकों का पद्यानुवाद भी किया है। इन शतकों की रचना कहाँ, कब हुई और उनका प्रकाशन कहाँ से हुआ ? इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है --

1. श्रमणशतक - इसकी रचना विक्रम संवत् 2031 में अजमेर के वर्षायोग में हुई तथा इसका प्रकाशन दर्शनाचार्य गुलाबचन्द्र जी जबलपुर की ओर से हुआ।

2. निरंजनशतक - वीरनिर्वाण संवत् 2503 में कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र पर रचा गया तथा इसका प्रकाशन क्षेत्र कमेटी की ओर से हुआ।

3. भावनाशतक - विक्रम संवत् 2023 में फीरोजाबाद में रचा गया और इसका प्रकाशन निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन समिति कलकत्ता की ओर से हुआ।

4. परिषद्जयशतक (ज्ञानोदय) - वीरनिर्वाण संवत् 2503 में कुण्डलगिरि (कोनी जी) क्षेत्र पर रचा गया तथा इसका प्रकाशन दर्शनाचार्य गुलाबचन्द्र जी जबलपुर की ओर से हुआ।

5. सुनीतिशतक - वीरनिर्वाण संवत् 2510 में ईमरी (गिरिडीह) में रचा गया और इसका प्रकाशन श्री रतनलाल हिममतीसिंह जैन कलकत्ता की ओर से हुआ।

एक सुनीतिशतक को छोड़कर शेष चार शतकों की भाषा अत्यन्त दुर्लभ होने का कारण है कि उनमें अधिकांश अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग हुआ है। यमक, अनुप्रास तथा चित्र आदि शब्दालंकारों की प्रमुखता है। अर्थालंकारों की रचना करने की अपेक्षा शब्दालंकारों की रचना करना अत्यन्त कठिन है। परन्तु इस विषय में आचार्य विद्यासागर जी का वैद्व्य प्रशंसनीय है। रचनाओं को दुर्लभ देख आपने निरंजनशतक, भावनाशतक और श्रमणशतक में मूलश्लोकों के नीचे अन्वय भी दिया है। परन्तु अप्रसिद्ध शब्दों का जब तक कोष तथा समासविग्रह नहीं दिया जाता है तब तक अर्थबोध नहीं होता और अर्थबोध के बिना ग्रन्थकर्त्ता का अभिप्राय पाठक नहीं समझ पाता।

संपादन के लिए जब मेरे पास भावनाशतक की पाण्डुलिपि आई तब मैंने आचार्यश्री से प्रार्थना की थी कि जब तक इसकी संस्कृत टीका नहीं होती है तब तक मात्र अन्वय और पद्यानुवाद से मूल का भाव प्रस्फुटित नहीं होता। अतः इसकी संस्कृत टीका होना आवश्यक है। धृष्टतावश मैंने यह भी लिख दिया कि यदि आपको अवकाश न हो तो मुझे आज्ञा दीजिये, मैं लिख दूँ। महाराज ने प्रार्थना स्वीकार कर मुझे संस्कृत टीका लिखने की स्वीकृति दे दी। मैंने संस्कृत टीका लिखकर आचार्यश्री को समर्पित कर दी। उसे देखकर प्रकाशित करने की स्वीकृति हो गई। संस्कृत टीका से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई। गतवर्ष संघस्थ एक साधु ने भावनाशतक के समान शेष शतकों की भी संस्कृत टीका लिखी जाने की स्वीकृति प्राप्त कर ली। साथ ही मुझे आदेश दिया कि आप शेष चार शतकों पर भी संस्कृत टीका लिख दीजिये एवं श्लोकों का मूलानुगामी गद्यानुवाद भी कर दें। आज्ञा को शिरोधार्य कर मैंने संस्कृत टीका और मूलानुगामी गद्यानुवाद कर संघ में भेज दिया। आचार्यश्री ने अधिकांश विश्वलोचन कोष का उपयोग किया है अतः टीका लिखते समय उसे तथा अन्य कोषों को भी सामने रखा गया है।

मात्र हिन्दी पद्यों का पाठ करने वाले पाठकों की अभिरुचि का ध्यान रखते हुए पाँचों शतकों का पद्यानुवाद अन्त में एक साथ दिया है। आदि में संस्कृत श्लोक, अन्वय, संस्कृत टीका और मूलानुगामी गद्यानुवाद दिया है।

आगे इन शतकों में निरूपित प्रमेय का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक जान पड़ता है -

श्रमणशतक - कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार के चारित्राधिकार में श्रमण की परिभाषा देते हुए लिखा है -

समसत्त्वबधुवगो समसुहदुक्खो पसंसाणितसमो ।

समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो सम्मणो ॥

जिसे शत्रु और मित्रवर्ग समान है, जिसे सुख और दुःख में समता है, जो प्रशंसा और निन्दा में मध्यस्थ है, जिसे पापाणखण्ड और सुवर्ण में समानता है तथा जीवन और मरण में जो समता रखता है वह श्रमण है।

ऐसे श्रमणों को सम्बोधित करने के लिए ही आचार्यश्री ने श्रमणशतक की रचना की है। शतक में दिये गये सभी संबोधन एक से एक बढ़कर हैं। इसमें मूल में आर्या और पद्यानुवाद में वसन्ततिलका ऋन्द का प्रयोग हुआ है। साधु को विषयवासना से विरक्त रहने का उपदेश है -

जलाशये जलोद्भवमिवात्मानं भिन्नं जलतोऽनुभव ।

प्रमादी माऽये भव भव्य विषयतो विरक्तो भव ॥ 35 ॥

हे भव्य ! प्रमादी मत हो, विषय से विरत हो, जिस प्रकार कमल जल से भिन्न रहता है उसी प्रकार तू भी अपने आपको विषय से भिन्न अनुभव कर ।

पद्यानुवाद देखिए -

जैसे रहे जलज जो जल से निराला,

वैसे बना रह सदा जड़ से खुशाला ।

क्यों तू प्रमत्त बनता, बन भोग-त्यागी,

रागी नहीं बन कभी, बन वीतरागी ॥

इसका एक संस्करण डॉ. प्रभाकर शास्त्री एम. ए., पी. एच. डी., डी. लिट्. अजमेर के सम्पादन में प्रकाशित हुआ था, उसकी प्रस्तावना आदि पठनीय है।

निरंजनशतक - ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव वाला आत्मा अनादि काल से अजन--कर्मकालिमा से दूषित हो रहा है। जिन्होंने रत्नत्रय की साधना से उस कर्मकालिमा को दूरकर दिया है और अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव में लीन हो चुके हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी निरंजन कहलाते हैं। यह निरंजन अवस्था अर्हन्त अवस्था पूर्वक होती है, इसलिए उन्हें भी निरंजन कहा जाता है। वे भी चार घातियाँ कर्मों का क्षय कर जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त हैं। इस शतक में इन्हीं सकल-निकल परमात्माओं का स्तवन है। स्तवन में भक्त ने भगवान् से एकरूपता प्राप्त करने का प्रयास किया है। शरीर और आत्मा में भेदविज्ञान हुए बिना निरंजन अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। अतः भक्त उनसे प्रार्थना करता है --

कुरु कृपां करुणाकरकेवलं क्षिपविदीशविदं मयि केवलम् ।

तनुचितोः प्रविधाय विभाजनं निजमये यदणं मुखभाजनम् ॥

हे करुणाकर ! हे अनन्तज्ञान के ईश ! मुझ पर कृपा करो, मुझे ज्ञान दो, जिससे मैं शरीर और आत्मा का विभाजन कर सकूँ।

हिन्दी पद्य भी देखिये--

हे ईश ! धीश ! मुझमें बल बोधि डालो,

कारुण्यधाम करुणा मुझ में दिखाओ ।

देहात्म में वश विभाजन जो करूंगा,

शीघ्रातिशीघ्र सुखसागर तो बनूंगा ॥

संस्कृत में द्रुतविलासित और हिन्दी में वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग हुआ है।
 भावनाशतक - भावनाशतक का अपर नाम काण्डक में दिया है- तीर्थकर ऐसे बने। भावनाशतक में तीर्थकरप्रकृति के बन्ध करने में कारणभूत दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का नवीन शैली में वर्णन है, नवीन शैली से लिखने का तात्पर्य यह है कि इसमें दर्शनविशुद्धि को निर्मलदृष्टि, विनयसंपन्नता को विनयावनति, शीनद्रवतष्वनतिघार को सुशीलता, अभीष्टज्ञानोपयोग को निरन्तरज्ञानोपयोग, संवेग को संवेग, शक्तिरस्त्याग को त्यागवृत्ति, शक्तिरस्तप को सत्तप, साधुसमाधि को साधुसमाधिसुधासाधन, आदि नामों से व्यवहृत किया है।

शतक में एक एक भावना के बाद एक मुरजबन्ध लिखा है। मुरजबन्ध में अनुष्टुप् और शेष पद्यों में आर्या छन्द का प्रयोग किया गया है।

मुरजबन्ध कई प्रकार का होता है। इस शतक में सामान्य मुरजबन्ध की रचना की गई है, उसके लिखने की विधि अलंकार-चिन्तामणि में इस प्रकार दी है--

पूर्वार्धमूर्ध्वपंक्तौ तु लिखित्वाद्द परं ततः ।

एकान्तरितमूर्ध्वाधां मुरजं निगदंतु कविः ॥

अर्थात् सर्वप्रथम श्लोक के पूर्वार्ध को पंक्ति के आकार में लिखकर उत्तरार्ध को भी पंक्ति के आकार में उसके नीचे लिखें। इस अलंकार में प्रथम पंक्ति के प्रथम अक्षर को द्वितीय पंक्ति के द्वितीय अक्षर के साथ और द्वितीय पंक्ति के प्रथम अक्षर को प्रथम पंक्ति के द्वितीय अक्षर के साथ मिलाकर पढ़ना चाहिये। यही क्रम श्लोक के अन्तिम अक्षर तक जारी रहता है। यह सामान्य मुरजबन्ध का लक्षण है। इसका प्रयोग इस शतक के 10, 16, 22, 28, 34, 40, 46, 52, 58, 64, 70, 82, 88, 94 और 100 वे श्लोकों में किया गया है।

वैयावृत्य भावना का एक श्लोक देखिये--

समौक्तिकोऽत्र कालिगः कलितः कमनीयमणिना कलिगः ।

दुर्लभो भुवि कलिगस्तथा युतोऽनेन सकलिगः ॥

जिस प्रकार इस भूमि में मोतियों से सहित हाथी दुर्लभ है, तथा मणि से युक्त नाग दुर्लभ है उसी प्रकार वैयावृत्य से युक्त मुनि, इन तीनों अर्थों को एक ही श्लोक में गुम्फित करना चमत्कार की वस्तु है।

पद्यानुवाद भी देखिये--

य साधु सेवक कहां मिलते कहां हैं ?

जो जातरूप धरते जग में अहा हैं ।

प्रत्येक नाग मणि से कब शोभता है,

प्रत्येक नाग कब मौक्तिक धारता है ॥

इसकी प्रस्तावना में बन्धस्वामित्वविधय (धवला की अष्टम पुस्तक) के आधार पर प्रचलित सोलहकारणभावनाओं का मूलस्रोत बताया गया है। इस शतक की मंरे द्वारा लिखित संस्कृत टीका भी मुद्रित की गयी है।

परिषहजयशतक - इसका अपर नाम जानांदय है। इस शतक में संवर के "स गुप्तिसमिनिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः" इस सूत्र में प्रतिपादित संवर के कारणों में से परिषहजय का वर्णन है। "मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषाढव्याः परिषहाः" तत्त्वार्थसूत्रकार ने

गृहीतसंयम के मार्ग से च्युत न होने तथा निर्जरा के लिये क्षुधादि 22 परिषहों पर विजय प्राप्त करने का आदेश दिया है। परिषहों पर विजय प्राप्त किये बिना मुनि पद का निर्बाध निर्वाह नहीं होता, अतः इन्हीं पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा लेखक ने दी है। शतक में द्रुतविलम्बित छन्द का और पद्यानुवाद में मुक्तक छन्द का प्रयोग किया है। इसमें आचार्यश्री ने मूल श्लोक के साथ अन्वय नहीं दिया है। सभी श्लोकों में अन्त्यानुप्रास रखा गया है।

शीतपरिषहजय का एक पद्य देखिये --

चलतु शीततमोऽपि सदागति-रमृतभावमुपैतु सदागतिः ।

जगति कम्पवती रसदा गतिः स्वखलति नो वृषतोऽपि सदागतिः ॥

अर्थात् भले ही अत्यन्त शीतल सदागति - वायु चल रही हो, भले ही सदागति - अग्नि अमृत जैसी प्रियता को प्राप्त हो, भले ही संसारी लोगों की गति कम्पन से सहित हो परन्तु सदागति - साधु धर्म से स्वखलित नहीं होता।

इसी का पद्यानुवाद देखिये--

शीत शील का अविरल अविकल बहता जब है अनिल महा,

ऐसा अनुभव जन जन करते अमृत-तुल्य का अम्ल रहा ।

पग से शिर तक कपड़ा पहिना कप कप करता जगत रहा,

किन्तु दिगम्बर मुनि पद से नहि विचलित हो मुनि जगत रहा ॥

सुनीतिशतक - आचार्य महाराज की यह प्रासाद गुण युक्त सुबोध रचना है। इसकी रचना उपजाति छन्द में हुई है तथा पद्यानुवाद में मुक्तक छन्द का प्रयोग किया है। सम्पूर्ण शतक हितावह नीतियों से परिपूर्ण है। नमूना के लिए एक श्लोक देखिये --

भोगानुवृत्तिर्विधिबन्धहेतु-योगानुवृत्तिर्भवसिन्धुहेतुः ।

बीजानुसारं फलितं फलं तत् किं निम्बवृक्षे फलितं रसालम् ॥ 35 ॥

भोगों का अनुसरण कर्म बन्ध का कारण है और योगों का अनुसरण संसार सागर से पार होने के लिए सेतु के समान है। बीज के अनुसार ही फल लगता है। क्या नीम के वृक्ष में कभी आम लगा है ?

पद्यानुवाद देखिये --

भोगी बनकर भोग भोगना भव बन्धन का हेतु रहा,

योगी बन कर योग साधना भव सागर का सेतु रहा ।

जैसा तुम बोओगे वैसा बीज फलेगा अहो सखे,

निम्ब वृक्ष पर सरस आम फल कभी लगे क्या कहो सखे ! ॥

आचार्य विद्यासागर जी का जीवनवृत्त में "कुन्दकुन्द का कुन्दन" और "जैन गीता" में दे चुका हूँ अतः यहाँ उसे पुनरुक्त नहीं कर रहा हूँ। आपके द्वारा लिखित और प्रकाशित साहित्य की सूची परिशिष्ट में दी गई है। यहाँ तो मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि आचार्य विद्यासागर जी महाराज पुण्यशाली परमतपस्वी साधु हैं, जिस क्षेत्र पर आपका चातुर्मास होता है वहाँ भारत के कोने कोने से श्रद्धालु लोग सपरिवार पहुँचते हैं तथा क्षेत्रों पर आवास की न्यूनता अनुभव में आने लगती है। आपके नाम पर पिसनहारी की मठिया जबलपुर में आचार्य विद्यासागर शोध संस्थान संचालित है। इसी तरह श्री वर्णा दिगम्बर जैन गुरुकुल आपके निर्देशन

में चल रहा है तथा जबलपुर और सागर में ब्राह्मी विद्याभ्रम चल रहा है। इन सब संस्थाओं से जिनशासन की प्रभावना बढ़ रही है। आपके द्वारा इसी प्रकार धर्मप्रभावना होती रहे यह भावना है।

उपर निर्दिष्ट पांच शतकों का प्रकाशन "पंचशती" के नाम से हो रहा है। संस्कृत टीकाओं के लिखने में अशुद्धियों का होना संभव है अतः मैं उनके लिए आचार्यश्री तथा सुविज्ञ पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ। हाथों में कम्पन होने से मेरे द्वारा लिखी प्रेस कापी का पुनर्लेखन श्री ब्र. राकेश जी को करना पड़ा है जिसे उन्होंने स्वान्तःसुखाय स्वयं किया है तथा मुद्रण और प्रूफ संशोधन का कार्य पूर्ण मनोयोग के साथ किया है अतः उनका आभारी हूँ।

इस पंचशती के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग श्री अजितप्रसाद, श्री करेशचन्द्र एवं श्री संजयकुमार दिल्ली वालों ने किया है अतः धन्यवाद के पात्र हैं। सम्प्रति उपलब्ध जैन विद्वानों में संस्कृत भाषा के गहन अध्ययन के प्रति अभिरुचि न देख मानसिक संताप को प्रकट करता हुआ आकांक्षा रखता हूँ कि पूज्य गणेश प्रसाद वर्णा की जैन शिक्षा संस्थाओं को स्थापित करने में जो भावना थी उसे साकार करते रहें।

श्री वर्णा दिग. जैन गुरुकुल,
पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर
30-9-1990

विनीत
पन्नालाल साहित्याचार्य

परिचय

आचार्यश्री विद्यासागर जी ने श्रमणशतक, भावनाशतक, निरंजनशतक, परिपहजयशतक एवं सुनीतिशतक में तथा इनके टीका एवं शिक्षा गुरु महाकवि आचार्य प्रवर श्री ज्ञानसागर जी महाराज ने अपने जयोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय एवं भद्रोदय संस्कृत महाकाव्यों तथा दयोदय जैसे चम्पूकाव्य में कुछ ऐसे शब्दों के भी प्रयोग किये हैं, जो सामान्यतः तद्विषयक अर्थों में अप्रचलित से हैं। संस्कृत साहित्यकारों एवं इतिहासकारों का जैन कोश वाङ्मय से विशेष परिचय नहीं हो पाने के कारण से भी इस अभाव की पूर्ति नहीं हो सकी। उपरोक्त दोनों आचार्यों ने अपने साहित्य में शब्द-अर्थ, का संघट्टि में आचार्य श्रीधरसेन के "विश्वलोचनकोश" का उपयोग विशेष रूप से किया है। विश्वलोचन कोश संस्कृत विद्वज्जगत् के बीच में नहीं पहुंच पाने के कारण उनके द्वारा उसका सम्यक्पारायण तथा ऐतिहासिक काल (समय) निर्धारण नहीं हो सका! वैसी ही स्थिति महाकवि धनंजय के द्वारा रचित "नाममालाकोश" व "अनेकार्थनाममाला" के साथ भी रही है। अतएव उक्त कोशकारों के सम्बन्ध में यहां संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है, ताकि संस्कृत साहित्य के अध्येता इन कोशकारों एवं उनकी कृतियों से भी परिचित हो सकें।

आचार्य श्रीधरसेन -

श्रीधरसेन जैन वाङ्मय में कोश-साहित्य के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा रचित 'विश्वलोचन' कोश प्राप्त है। कोश के अन्त में प्राप्त प्रशस्ति के अनुसार इसका अपर नाम 'मुक्तावलि-कोश' भी है। सेनसंघ के आचार्य मुनिसेन को आपने गुरु के रूप में स्मरण किया है जो कुशल कवि एवं नैयायिक थे। स्व. पं. परमानन्द शास्त्री# के अनुसार नेमिकुमार के पुत्र कवि वाग्भट ने 'काव्यानुशासन' की वृत्ति में पुष्पदन्त के साथ मुनिसेन और उनकी रचनाओं की ओर संकेत किया है, जो आज अनुपलब्ध है। द्वादशांग के कुछ अंशों तथा पट्खण्डागम के ज्ञाना धरसेनाचार्य से भिन्न श्रीधरसेन काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् और आशुकवि भी थे। नानाशास्त्रों के पारगामी विद्वान् होने के साथ ही श्रीधरसेन बड़े-बड़े राजाओं के श्रद्धास्पद एवं पूज्य भी थे।

विश्वलोचन कोश में 2453 श्लोक हैं। इसमें स्वरवर्ण और ककार आदि के वर्णक्रम से शब्दों का संकलन किया गया है। यथा 'साधन' शब्द में चूँकि 3 अक्षर हैं अतः यह कोश में नान्तवर्ग के 'न तृतीयान्त' में प्राप्त होगा। शब्दों को कोश में ढूँढने/प्राप्त करने की विशिष्ट प्रक्रिया इसकी विशिष्टता है। नानार्थ कोशों में यह सबसे बड़ा कोश है। कोश की मौलिक विशेषता के सम्बन्ध में इसके संपादक श्री नन्दलाल शर्मा ने लिखा है - "संस्कृत में कई नानार्थ कोश हैं, परन्तु जहां तक हम जानते हैं कोई भी इतना बड़ा और इतने अधिक अर्थों का बतलाने वाला अन्य नहीं है। इसमें एक शब्द के अधिक से अधिक अर्थ बतलाये गये हैं। उदाहरण के लिए 'रुचक' शब्द को लीजिये। जहां 'अमरकोश' में इसके चार व 'मंदिनी' में दश अर्थ बतलाये गये हैं, वहां 'विश्वलोचन' में बारह अर्थ बतलाये गये हैं, यही इस कोश की विशेषता है।"

प्रशस्ति के चतुर्थ पद्य में 'पदविदां च पुरं निवासी' वाक्य से श्रीधरसेन का निवास स्थान ज्ञात होता है, पर उसके सम्बन्ध में विशेष स्पष्टीकरण इस समय कहना शक्य नहीं है। छटवें पद्य में कवि ने स्वयं लिखा है कि मैंने इस कोश की रचना कवि नागेन्द्र और अमरसिंह के कोशों का सार लेकर की है। कोश अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

© विश्वलोचनकोश, रचयिता - आचार्य श्रीधरसेन, संपा. श्री नन्दलाल शर्मा, प्रका. निर्णयसागर प्रेस, बंबई, प्रथम संस्करण 2438।

जैनधर्म का प्राचीन इतिहास (भाग 2), लेखक-पं. परमानन्द शास्त्री, प्रका. मेसर्स रमेशचन्द्र जैन, मोंटारवाले, राजपुर रोड, दिल्ली, वीरनिर्वाण संवत् 2500, पृष्ठ 418।

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्यऽ के अनुसार सुन्दरगणि ने अपने धातुरत्नाकर में विश्वलोचन कोश के उद्धरण दिये हैं। धातुरत्नाकर का काल ईस्वी 1624 है, अतः श्रीधरसेन का समय ई. 1624 के पहले अवश्य है। विक्रमोर्वशीय पर रंगनाथ ने ईस्वी 1656 में टीका लिखी है। इस टीका में विश्वलोचन कोश का उल्लेख किया गया है। अतः यह सत्य है कि विश्वलोचन की रचना 16 वीं सदी के पूर्व की होगी।

शैली की दृष्टि से विश्वलोचन पर हैम, विश्वप्रकाश और मेदिनी इन तीन कोशों का प्रभाव दृष्टिगत होता है। यतः विश्वप्रकाश का रचना काल ई. 1105, मेदिनी का समय इसके कुछ वर्ष पश्चात् अर्थात् 12 वीं शताब्दी का उत्तरार्ध और हैम का भी 12 वीं शती का उत्तरार्ध है। अतः विश्वलोचन कोश का समय 13 वीं शताब्दी का उत्तरार्ध या 14 वीं शताब्दी का पूर्वार्ध मानना चाहिए। पं. परमानन्द शास्त्री ने श्रीधरसेन का समय 13 वीं शताब्दी में होने की संभावना व्यक्त की है।

§ तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग 4), लखक- स्व. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, प्रका. श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद, सागर, प्रथम संस्करण, वीर निर्वाण संवत् 2501, पृष्ठ 61।

- जैनधर्म का प्राचीन इतिहास (भाग 2), पृष्ठ 419।

महाकवि धनंजय

महाकवि धनंजय ने स्वयं अपने किसी ग्रन्थ में अपना परिचय अथवा समय आदि का उल्लेख नहीं किया है। महाकवि धनंजय के 'द्विसंधानमहाकाव्य' के अन्तिम पद्य की व्याख्या से टीकाकार ने इनके पिता का नाम वसुदेव, माता का नाम श्रीदेवी तथा गुरु का नाम दशरथ सूचित किया है। ये दशरूपक के लेखक से भिन्न हैं।* कवि गृहस्थ धर्म और गृहस्थोचित षट्कर्मा का पालन करता था। इनके विपापाहार स्तोत्र के सम्बन्ध में कहा जाता है कि कवि के पुत्र को सर्प ने डस लिया था, अतः सर्प विष को दूर करने के लिए ही इस स्तोत्र की रचना की गयी थी।

कृतित्व - [1] 'धनंजय नाममाला' के नाम से ख्यात यह कोश सुन्दर, व्यवहारोपयोगी तथा विद्यार्थी जगत् के लिए आवश्यक शब्दों से समृद्ध है। महाकवि धनंजय ने 205 श्लोकों के इस छोटे-से कोश में बड़े ही कौशल से संस्कृत भाषा के प्रमुख शब्दों का चयन कर सागर में भर दिया है। इसलिए प्रतिहार राजा महेन्द्रपाल के उपाध्याय तथा काव्यमीमांसा के कर्ता राजशेखर ने कवि और उसके काव्य/साहित्य की प्रशंसा की है। इस कोश में लगभग 1700 शब्दों के अर्थ दिये गये हैं। पर्यायवाची शब्दों के संग्रह के लिए प्रसिद्ध इस कोश में शब्द से शब्दान्तर बनाने की प्रक्रिया है जो कवि के अनुपम वैदुष्य, निराली पद्धति के लिए चर्चित है, यह विद्या अन्यत्र देखने में नहीं आती। जैसे 'पृथिवी' वाचक नामों के आगे 'धर' शब्द या धर के पर्यायवाची शब्द जोड़ देने से 'पर्वत' के नाम, 'मनुष्य' के वाचक नामों के आगे 'पति' शब्द या स्वामिन् जैसे समानार्थक शब्द जोड़ देने से 'राजा' के नाम, 'वृक्ष' के नामों के आगे 'चर' शब्द जोड़ देने पर 'बन्दर' के नाम तथा 'पृथिवी' वाचक शब्दों के आगे 'रुह' जोड़ देने से 'वृक्ष' के नाम बन जाते हैं।

[2] नाममाला के अतिरिक्त दूसरी कृति 'अनेकार्थ नाममाला' के नाम से जानी जाती है। 46 पद्यां वाली यह कृति श्लोक प्रमाण की अपेक्षा अल्प है किन्तु इसमें अनेकार्थ बोधक शब्दों का सूक्ष्मदृष्टि से विवरण उपलब्ध होता है।

पी. एल. वैद्य के अनुसार^७ नाममाला की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इस पर अमरकीर्ति का भाष्य रचित है। जिसमें नाममाला के जहां पर्यायवाची शब्दों की व्युत्पत्ति देकर स्पष्टीकरण किया गया है वहीं अपनी दृष्टि में आए कुछ और पर्यायवाची शब्दों को भी शामिल कर दिया है। उनके भाष्य की वही सरणि पद्धति है जो कि अमरकोश की प्रसिद्ध टीका में क्षीरवामी ने अपनायी है। भाष्य में प्रत्येक शब्द की व्याकरण सिद्ध व्युत्पत्ति सूत्र निर्देशपूर्वक बताई गयी है। उणादि से सिद्ध हो या अन्य रीति से पर कोई भी शब्द निर्व्युत्पत्ति नहीं रह गया है। व्युत्पत्तियों की प्रमाणिकता के लिए भाष्यकार ने लगभग 15-20 ग्रन्थों एवं 8-10 ग्रन्थकारों का नाम निर्देश प्रमाण कोटि में उपस्थित किया है।

सेन्द्रवंश (सेनवंश) में उत्पन्न, त्रैविद्य एवं शब्दवेदा उपाधि से अलंकृत महापण्डित अमरकीर्ति दशभक्त्यादि महाशास्त्र के रचयिता वर्धमान के समकालीन, विद्यानन्द के पुत्र विशालकीर्ति के सधर्मा माने जाते हैं एवं इनका काल लगभग ईस्वी 1450 के करीब माना जाता है।⁸ अमरकीर्ति के भाष्य सहित नाममाला का संपादन पं. शम्भूनाथ त्रिपाठी, व्याकरणाचार्य सप्ततीर्थ द्वारा किया गया है।

पं. महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य के अनुसार⁹ सभाष्य नाममाला के अतिरिक्त 153 श्लोकों में निबद्ध 'अनेकार्थ निघण्टु' पं. हरगोविन्द शास्त्री द्वारा सम्पादित एवं मुद्रित भी है। इसके अन्त में प्राप्त पुष्पिका वाक्य - "इति महाकविधनंजयकृते निघण्टुसमये शब्दसंकीर्णं अनेकार्थप्ररूपणो द्वितीयपरिच्छेदः" में महाकवि धनंजय का उल्लेख स्पष्टतया किया गया है, परन्तु रचनाशैली आदि से यह निश्चयतः नहीं कहा जा सकता कि यह कृति इन्हीं धनंजय की है।

[3] तीसरी कृति 'विषापाहार' स्तोत्र है जो आदि ब्रह्मा ऋषभदेव के स्तवन रूप में 39 इन्द्रवज्रा वृत्तों का स्तुति ग्रन्थ है। यह स्तवन अपने प्रसाद, ओज, गाम्भीर्य, प्रौढ़ता और अनुठी उक्तियों के लिए सुप्रसिद्ध है। इस पर अनेक संस्कृत टीकाएं प्राप्त हैं जिनमें 16 वीं शती के विद्वान् पार्श्वनाथ के पुत्र नागचन्द्र की तथा दूसरी टीका चन्द्रकीर्ति की विशिष्ट है।

[4] धनंजय कवि का सन्धान शैली में काव्यवैशिष्ट्य से परिपूर्ण सर्वप्रथम, प्राचीन तथा महत्वपूर्ण काव्य है - 'द्विसन्धान महाकाव्य'।¹⁰ इसके रचयिता होने के कारण महाकवि धनंजय संस्कृत साहित्य जगत् में 'द्विसन्धानकवि' नाम से भी जाने जाते हैं। 18 सर्गों में विभक्त तथा आठ सौ श्लोकों में निबद्ध इस महाकाव्य को 'राघव-पाण्डवीयकाव्य' के नाम से भी जाना जाता है। भोज (11 वीं शती ईसवी के मध्य) के अनुसार द्विसन्धान उभयालंकार के कारण होता है। जो तीन प्रकार का है - प्रथम वाक्यगत श्लेष है, द्वितीय अनेकार्थ स्थिति है और तृतीय राघव-पाण्डवीय की तरह पूरा काव्य ही दो कथाओं को कहने वाला हो। एक साथ रामायण और महाभारत की कथा को कुशलता पूर्वक प्रत्येक पद्य/श्लोक में दो अर्थों में प्रस्तुत करते हैं। प्रथम अर्थ से रामचरित निकलता है तो दूसरे अर्थ से पाण्डवों के इतिवृत्त के साथ कृष्णचरित प्रतिपादित है।

शास्त्र एवं काव्य जगत् की दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इस ग्रन्थ में कथानक संक्षिप्त तथा सुरुचिपूर्ण है तथा कवि ने सन्धान काव्य में जिन काव्यांचित गुणों को आवश्यक माना है उनका प्रयोग अवश्य ही किया है। द्विसन्धान महाकाव्य जहां रसों की नवीन सुन्दर योजना, शब्दालंकार, अर्थालंकार, उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, परिसंख्या, वक्रोक्ति, आक्षेप, अतिशयोक्ति, निश्चय, समुच्चालंकार के लिए प्रसिद्धि को प्राप्त है वहीं वैश्वदेवी, प्रहर्षिणी, अपहवक्त्र जैसे विशिष्ट एवं वैतालीय, जलधरमाला, वसंततलिका आदि 31 प्रकार के छन्दों से परिपूरित तथा व्याकरण, राजनीति, सामुद्रिकशास्त्र, लिपिशास्त्र, गणित तथा ज्योतिष विषयक चर्चाओं में भी परिपूर्ण है।

‘राघव-पाण्डवीय’ महाकाव्य पर कुछ टीकाएं उपलब्ध हैं। प्रथम ‘पदकौमुदी’ टीका के कर्ता विनयचन्द्रपण्डित के प्रशिष्य तथा देवनन्दि के शिष्य कवि नेमिचन्द्र हैं। दूसरी ‘राघव-पाण्डवीयप्रकाशिका’ टीका के कर्ता रामचन्द्र के पुत्र कवि देववाह या देवर हैं तथा बदरीकृत संस्कृत टीका भी उपलब्ध है।

कालनिर्धारण - स्व. पं. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य, बौद्धदर्शन प्राध्या. संस्कृत महाविद्यालय वाराणसी के अनुसार कवि के स्थिति काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। इनका समय डॉ. के. बी. पाठक ने 1123 से 1140 ईसवी के मध्य माना है। डॉ. ए. बी. कीथ ने ‘संस्कृत साहित्य के इतिहास’ में धनंजय कवि का समय पाठक द्वारा अभिमत ही स्वीकार किया है। [देखें पृ. 173]। और इसी आधार से श्री रामावतार शर्मा ने ‘कल्पद्रुमकोश’ की प्रस्तावना [पृ. 32] पर कवि का समय 12 वीं सदी लिख दिया है। परन्तु धनंजय का उक्त काल निर्धारण उचित नहीं है।

स्व. पं. महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य के अनुसार, चूंकि इनके द्विसन्धान काव्य का उल्लेख धाराधीश भोजराज के समकालीन आचार्य प्रभाचन्द्र [ई. 11 वीं सदी] ने अपने ‘प्रमेयकमलमार्तण्ड’ [पृ. 402] में किया है, इसके अतिरिक्त वादिराजसूरि [सन् 1025] ने अपने ‘पार्श्वनाथचरित’ में कवि धनंजय और द्विसन्धान महाकाव्य दोनों का उल्लेख किया है, अतएव धनंजय इन दोनों से पूर्ववर्ती होने के कारण 11 वीं शताब्दी के विद्वान् सिद्ध नहीं होते।*

जल्हण [12 वीं सदी] ने राजशेखर के नाम से अपनी ‘सूक्तिमुक्तावली’ में जो पद्य उद्धृत किया है, वह प्रतिहारराजा महेन्द्रपालदेव [वि. सं. 960 के लगभग] के उपाध्याय एवं ‘काव्यमीमांसाकार’ राजशेखर का है।¹⁰ इनका उल्लेख सोमदेवसूरि ने [ई. 960] के ‘यशस्विलकचम्पू’ में भी पाया जाता है। अतः राजशेखर जो ‘प्रबन्धकोश’ के कर्ता राजशेखर से भिन्न हैं, का समय 10 वीं सदी सुनिश्चित है। राजशेखर के द्वारा प्रशंसित होने के कारण धनंजय का समय 10 वीं सदी के बाद का नहीं हो सकता।

डॉ. हीरालाल जैन ने ‘षट्खण्डागम’ (प्रथमभाग) की प्रस्तावना (पृ. 62) में यह सूचित किया है कि आचार्य जिनसेन के गुरु वीरसेन स्वामी ने षट्खण्डागम की ‘धवलाटीका’ में ‘अनेकार्थ नाममाला’ का 39 वां पद्य इति शब्द की व्याख्या में उद्धृत किया गया है।¹¹ धवला टीका विक्रम सं. 805-873 (ई. सन् 748-816) में समाप्त हुई। अतः धनंजय कवि का समय 8 वीं सदी का उत्तरार्ध या नवीं सदी के पूर्वार्द्ध के बाद का नहीं हो सकता।¹²

नाममाला के अन्त में धनंजय ने 'तत्त्वार्थराजवार्तिककार' अकलंकदेव का उल्लेख 'प्रमाणमकलंकस्य' श्लोक में किया। अकलंकदेव का समय ई. 7 वीं सदी निश्चित है, अतः धनंजय 7 वीं सदी के पूर्व के नहीं हो सकते। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार से धनंजय महाकवि का काल 8 वीं सदी प्रमाणित/ सिद्ध होता है।

* जैनधर्म का प्राचीन इतिहास (भाग 2), लेखक- पं. परमानन्द शास्त्री, प्रका. - मेसर्स रमेशचन्द्र जैन, मोटरवाले, राजपुर रोड़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, वीर निर्वाण संवत् 2500, पृष्ठ 138।

⊙ पी. एल. वैद्य, मयूरभंज प्रोफे. एवं अध्यक्ष-संस्कृत पाली विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा 'सभाष्य नाममाला' का अंग्रेजी प्राक्कथन, पृष्ठ 5।

स्व. पं. महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य द्वारा 'नाममाला-सभाष्य' की प्रस्तावना, पृष्ठ 12-13।

\$ नाममाला (अमरकीर्ति के भाष्य सहित), संपा. पं. शम्भूनाथ त्रिपाठी, प्रका. - भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथमसंस्करण, वीर निर्वाण सं. 2476 प्रस्तावना, पृष्ठ 13।

- द्विसंघानमहाकाव्य, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण।

% सभाष्य नाममाला- प्रस्तावना, पृष्ठ 13, शेष विवरण पूर्वोक्तवत्।

+ सभाष्य नाममाला, प्रस्तावना, पृष्ठ 12, शेष विवरण पूर्वोक्तवत्।

* तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, लेखक-स्व. पं. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, प्रका. श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्दत्परिषद, सागर, प्रथम संस्करण 2501, पृष्ठ 7।

⊙ जैनधर्म का प्राचीन इतिहास (भाग 2), लेखक-पं. परमानन्द शास्त्री, शेष विवरण पूर्वोक्तवत् पृष्ठ 140।

जैनधर्म का प्राचीन इतिहास (भाग 2), पृष्ठ 140।

\$ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृष्ठ 7-8, शेष विवरण पूर्वोक्तवत्।

• • •

अनु क्रम

श्रमणशतक १-५१

पद्यानुवाद ५२-६७

निरंजनशतक ६९-१२७

पद्यानुवाद १२८-१४२

भावनाशतक १४३-१९७

पद्यानुवाद १९८-२१३

परीपहजयशतक २१५-२६३

पद्यानुवाद २६४-२७९

सुनीतिशतक २८१-३३०

पद्यानुवाद ३३१-३४४

श्रमण शतक

[१]

श्रीवर्धमान ! माऽय आकलय्य नत-सुराप्तमानमाय ! ।

विधींश्चामानमाय - मचिरेण कलयामानमाय ! ।।

अये श्री वर्धमान ! नतसुर ! आप्तमानमाय ! अमानमाय ! (त्वं) विधीन् अमान् च अचिरेण अमा आकलय्य यं मा (मां) कलय।

श्रीति- अये श्रीवर्धमान! हे सन्मते! हे नतसुर! नताः सुरा यस्मै नतसुरस्तत्सम्बुद्धौ। हे आप्तमानमाय! मानं च ज्ञानं च मा च लक्ष्मीश्च यश्च यशश्चेति मानमायाःआप्ताः प्राप्ता मानमाया येन तत्सम्बुद्धौ। 'स्त्रियां स्यान्मा रमायां च'। 'मानं प्रमाणे प्रस्थादौ'। 'यो वातयशसोः पुंसि' इतिच विश्वलोचनः। हे अमानमाय! मानो गर्वश्च माया छलं चेति मानमाये अविद्यमाने मानमाये यस्य तत्सम्बुद्धौ त्वम् विधीन् कर्माणि अमान् च रोरांश्च। अचिरेण शीघ्रं अमा साकं। आकलय्य नाशयित्वा मा मां अयं -कल्याणं यद्वा यं यशः कलय प्रापय ॥१॥

अर्थ- जिनके समक्ष देव नम्रीभूत हैं-जिन्हें देव नमस्कार करते हैं, जिन्होंने ज्ञान, लक्ष्मी और यश को प्राप्त किया है तथा जो मान और माया से रहित हैं, ऐसे हे वर्धमान जिनेन्द्र! मेरे कर्म और जन्म-जरा-मृत्युरूप रोगों को एक साथ शीघ्र ही नष्ट कर मुझे अय-कल्याणरूप अवस्था अथवा सुयश को प्राप्त कराओ ॥१॥

[२]

तमनिच्छन् पुनर्भवं नृपनतमुकुटमणिलसितपुनर्भवम् ।

नत्वेच्छे पुनर् भवं भद्रबाहुमहमपुनर्भवम् ।।

तं पुनर्भवं अनिच्छन् अहं नृपनतमुकुटमणिलसितपुनर्भवं भद्रबाहुं नत्वा पुनः अपुनर्भवम् भवम् इच्छे ।

तमिति- तं प्रसिद्धं सर्वजनप्राप्तं पुनर्भवं पुनर्जन्म अनिच्छन् अनभिलषन् अहं स्तोता। नृपनतमुकुटमणिलसितपुनर्भवं नृपाणां चन्द्रगुप्तप्रभृतिनरेन्द्राणां नतानि नम्राणि यानि मुकुटानि मौलयस्तत्र स्थितैर्मणिभी रत्नैर्लसिताः सुशोभिताः पुनर्भवा नखा यस्य तं भद्रबाहुं तन्नामानं श्रुतकेवलिनं नत्वा नमस्कृत्य पुनः पश्चात् नमस्कार-फलस्वरूपं अपुनर्भवं पुनर्जन्मरहितं भवं पर्यायं मुक्तावस्थामिति यावत् इच्छेऽभिलषामि। 'इच्छे' इत्यत्रात्मनेपदमार्षम् ॥२॥

(३)

अर्थ- जगत्प्रसिद्ध पुनर्जन्म को न चाहता हुआ मैं राजाओं के नम्रीभूत मुकुटमणियों से सुशोभित नखवाले भद्रबाहु श्रुतकेवली को नमस्कार कर पश्चात् पुनर्जन्म से रहित सिद्धपर्याय की इच्छा करता हूँ ॥२॥

[३]

प्रणमामि 'कुन्दकुन्द' भव्यपद्मबन्धुं धृतवृषकुन्दम् ।
गतं च समताकुं दं परमं सम्यक्त्वैककुन्दम् ॥

भव्यपद्मबन्धुं धृतवृषकुन्दं, समताकुं गतं परमं दं च (गतं), सम्यक्त्वैककुन्दं 'कुन्दकुन्दं' प्रणमामि ।

प्रणमामीति- भव्यपद्मबन्धुं भव्या एव पद्मानि कमलानि तेषां बन्धुं प्रहर्षकरं । धृतवृषकुन्दं धृतो वृषस्य कुन्दश्चक्रं येन तं 'कुन्दो माध्ये पुमांश्चक्रे भ्रमौ निधिसुरद्विषो' इति विश्वलोचनः । समताकुं समता साम्यपरिणतिरेव कुः धरित्री तां 'क्षमाधरित्री क्षितिश्च कुः' इति धनञ्जयः । परमं श्रेष्ठं दं च शुद्धिं च गतं प्राप्तं 'दः शुद्धौ देवने दास्तु' इति विश्वलोचनः । सम्यक्त्वैककुन्दं सम्यक्त्वमेव एकोऽद्वितीयः कुन्दो निधिर्यस्य तं । कुन्दकुन्दं तन्नामाचार्यप्रवरं प्रणमामि नमस्करोमि ॥३॥

अर्थ- जो भव्य जीवरूपी कमलों के बन्धु हैं— उन्हें हर्षित करने वाले हैं, जिन्होंने धर्मचक्र को धारण किया है, जो समतारूपभूमि तथा श्रेष्ठ पवित्रता को प्राप्त हैं और सम्यग्दर्शन ही जिनकी अद्वितीय निधि है, उन कुन्दकुन्दाचार्य को मैं प्रणाम करता हूँ ॥३॥

[४]

शुचौ स्वपदे शीतकं यो 'ज्ञानाब्धिं' सदुपदेशी तकम् ।
निज-संपदेऽशीतकं यजेऽघशुचिविपदे शीतकम् ॥

यः सदुपदेशी, तकं शुचौ स्वपदे शीतकम् अशीतकम्, अघशुचिविपदे शीतकं 'ज्ञानाब्धिं' [ज्ञानसागरम्] निजसंपदे यजे ।

शुचाविति- यः सदुपदेशी सत्समीचीनमुपदिशतीत्येवंशील आसीत् । तकं तमेव तकं स्वार्थेऽकच्प्रत्ययः । स्वपदे स्वस्थाने शीतकं सुस्थितं स्वस्य ज्ञायकस्वभावे स्थितमित्यर्थः । 'शीतकः सुस्थिते शीतकालेऽनागतदर्शिनि' इति विश्वलोचनः । अशीतकं अशीतोऽप्रमत्तः क आत्मा यस्य तम् । अघशुचिविपदे अघं पापमेव शुचिविपद्- ग्रीष्मर्तुविपत्तिस्तस्यै शीतकं शीतं च तत् कं च जलं चेति शीतकं शिशिरसलिलं ज्ञानाब्धिं ज्ञानसागरनामाचार्यनिजसंपदे स्वकीयसम्पत्त्यै आत्मज्ञानसम्पत्तिलाभाय यजे पूजयामि । 'शुचिः पुंस्युपधाशुद्धमन्त्रिण्याषाढबर्हिषोः । शृङ्गारग्रीष्मयोः श्वेनमेध्यानुपहते त्रिषु' इति विश्वलोचनः । 'वावारिकं पयोऽम्भोऽम्बु' इति धनञ्जयः ॥४॥

(४)

अर्थ- मैं आत्मज्ञानरूप संपदा के लिए उन ज्ञानसागर आचार्य की पूजा करता हूँ। जो सदुपदेशी थे, शुद्ध आत्मस्वभाव में स्थित थे, प्रमादरहित थे और पापरूपी ग्रीष्म ऋतु की व्यासरूप विपत्ति को दूर करने के लिए शीतलजल थे ॥४॥

[५]

अये ! सरस्वति ! मातः संसारादहमतिभीतो मातः ।

विलम्बं कलय मा त उपासकं प्रपालय माऽतः ॥

अये सरस्वति मातः!अहं संसारात् मातः अतिभीतः अतः विलम्बं मा कलय, ते उपासकं मा (मां) प्रपालय ।

अय इति-अये सरस्वति!मातः!हे शारदे मातः!अहं संसारात् मातःसंसाररूपाद् बन्धात् 'माक्षेपे मानबन्धयोः' इति विश्वलोचनः।अतिभीतः सातिशयं त्रस्तोऽस्मि। अतो विलम्बं कालक्षेपं मा कलय नो कुरु। ते तव उपासकं सेवकं मा स्तोतारं 'त्वामौ द्वितीयायाः' इति सूत्रेण मास्त्रित्यस्य स्थाने मादेशः। प्रपालय प्रकर्षेण रक्ष ॥५॥

अर्थ- हे सरस्वतिमातः ! मैं संसाररूप बंध से अत्यन्त भयभीत हूँ, अतः विलम्ब मत करो, अपने सेवक—शुद्ध की रक्षा करो ॥५॥

[६]

वच आश्रित्य साधु तां साधुनुतां साधुगुणपयसा धुताम् ।

साधुतार्थमसाधुतां साधुरुपोज्ज्य वदे साधुताम् ॥

साधुः (अहं) साधु-वचः आश्रित्य असाधुताम् उपोज्ज्य साधुतार्थं साधुनुतां साधुगुणपयसा धुतां तां साधुतां वदे ।

वच इति- साधुर्मुनिरहम् । साधु समीचीनं वचो वचनमाश्रित्यावलम्ब्य । असाधुतां दुर्जनतां उपोज्ज्य त्यक्त्वा । साधुतार्थं साधुतायै इदमिति साधुतार्थं साधुतायाः प्राप्यै साधुनुतां साधुभिर्नुतां स्तुतां । साधुगुणपयसा साधूनां गुणाः साधुगुणा मुनीनां मूलगुणास्त एव पयो जलं तेन धुतां प्रक्षालितां तां प्रसिद्धां साधुतां साधोर्भावः साधुता तां श्रमणतां वदे संदिशामि कथयामीत्यर्थः । संदेशार्थत्वादात्मनेपदप्रयोगः। 'साधुर्वाधुषिके पुंसि चारुसज्जनयोस्त्रिषु' इति विश्वलोचनः। साधवः साधुतामङ्गीकुर्वन्त्विति भावनया जिनवचनानुसारं साधुतां वर्णयामीति भावः ॥६॥

अर्थ- मैं साधु—श्रेष्ठ वाणी का आश्रय लेकर तथा असाधुता—दुर्जनता को छोड़कर सज्जनों के द्वारा स्तुत और साधुओं के मूलगुणरूपी जल से धुली हुई उस साधुता का, साधुता की प्राप्ति के लिये कथन करता हूँ ॥६॥

[७]

मनाङ् मानं मोरसि मुनिरेतु रचयतु रुचिं जिनवचसि ।

वसत्वरण्ये रहसि स्नातुमिच्छति स्वचित्सरसि ॥

मुनिः उरसि मनाङ् मानं मा एतु। (चेत्) स्वचित् सरसि स्नातुम् इच्छति (तदा) जिनवचसि रुचिं रचयतु, रहसि अरण्ये (च) वसतु।

मनाङ्किति- मुनिर्यतिः उरसि हृदये मनाङ् ईषदपि मानं ज्ञानादिजातं गर्वं मा एतु न प्राप्नोतु। चेत् स्वचित् सरसि स्वस्य चिदेव सरस्तस्मिन् स्वकीयज्ञानकासारे स्नातुं स्नानं कर्तुमिच्छति वाञ्छति तर्हि जिनवचसि रुचिं प्रीतिं रचयतु करोतु। रहसि एकान्ते अरण्ये वने वसतु निवासं कुरु ॥७॥

अर्थ-मुनि को चाहिये कि वह हृदय में किञ्चित् भी मान को प्राप्त न हो। यदि वह आत्मज्ञान रूपी सरोवर में स्नान करना चाहता है तो जिनवचन-जिनागम में रुचि करे एवं एकान्त वन में निवास करे ॥७॥

[८]

याति यतिर्यदि जातु न कर्म तस्यावश्यं हृदि भातु ।

स्वतत्त्वमिति हि विधातुर्गीर्जगद्भ्यः सुखं ददातु ॥

“यदि यतिः कर्म न याति जातु, (तदा) तस्य हृदि स्वतत्त्वम् अवश्यं भातु” -इति विधातुः गीः, (सा) जगद्भ्यः सुखं ददातु ।

यातीति- यदि यतिः साधुः जातु कदाचित् कर्म बाह्यक्रियाडम्बरं न याति न प्राप्नोति तर्हि तस्य हृदि मानसे ‘स्वान्तं हृन्मानसं मनः’ इत्यमरः। अवश्यं नियमेन स्वतत्त्वमात्मतत्त्वं भातु शोभताम्। इत्येवंप्रकारा विधातुर्भगवतो गीर्भारती जगद्भ्यो लोकेभ्यो निश्चयेन सुखं ददातु ॥८॥

अर्थ- यदि मुनि कभी बाह्यक्रियाओं के आडम्बर को प्राप्त न हो तो उसके हृदय में आत्मतत्त्व नियम से सुशोभित होने लगे। जिनेन्द्र भगवान् की ऐसी वाणी जगत् के लिये सुख प्रदान करे ॥८॥

[९]

भवता विषयवासनाऽपास्यतामुपास्यतां निजभावना ।

प्राहेति जैनोऽमना यद् भवन्तमटेत् शिवाङ्गना ॥

भवता विषयवासना अपास्यताम्, निजभावना उपास्यताम्। यद् भवन्त शिवाङ्गना अटेत्-इति अमनाः जैनः प्राह ।

भवतेति- हे साधो ! भवता त्वया विषयवासना पञ्चेन्द्रियविषयाभिरुचिः।

स्यतां त्यज्यताम् । निजभावना स्वस्वभावचिन्तनमुपास्यतां सेव्यतां क्रियतामित्यर्थः । यद् यस्मात् शिवाङ्गना मुक्त्यङ्गना भवन्तं त्वां अटेत् प्राप्नुयात् । इतीत्थम् । अमना भावमनोरहितः । जैनो जिन एव जैनः । प्राह प्रोवाच ॥९॥

अर्थ- हे साधो ! तुम्हे विषयवासना-इन्द्रियविषयों की अभिरुचि छोड़ देनी चाहिए और स्व-स्वरूप की भावना करना चाहिये, जिससे मुक्तिरूपी स्त्री तुझे वर सके, ऐसा भावमनरहित-केवलज्ञानी जिनदेव ने कहा है ॥९॥

[१०]

श्रमैकफलारम्भतः पौद्गलिक-पुण्यपापोपलम्भतः ।

दृक्कथमुदेति हन्त ! नवनीतं नीरमन्थनतः ? ॥

पौद्गलिक-पुण्यपापोपलम्भतः श्रमैकफलारम्भतः हन्त ! दृक् कथम् उदेति ? (किं) नीरमन्थनतः नवनीतम् (उदेति) ?

श्रमैकेति- हे मुने ! श्रमैकफलारम्भतः श्रम एवैकं फलं यस्य स श्रमैकफलः स चासावारम्भश्च तस्मात् खेदप्रदायक विविधकार्यप्रारम्भात् पौद्गलिक पुण्यपापोपलम्भतः पौद्गलिके पुद्गलाज्जाते ये पुण्यपापे सुकृतदुष्कृते तयोरुपलम्भता प्राप्तेः दृक् सम्यग्दर्शनं कथं उदेति उत्पद्यते हन्तेति खेदे । नीरमन्थनतः तोयमन्थनात् किं क्वापि नवनीतं प्राप्यते ? अपि तु न प्राप्यते ॥१०॥

अर्थ- एक खेद ही जिसका फल है, ऐसे आरम्भ से तथा पौद्गलिक पुण्यपाप की प्राप्ति से सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न हो सकता है ? खेद की बात है कि, क्या कही जल के मन्थन से मक्खन की प्राप्ति होती है ? अर्थात् नहीं ॥१०॥

[११]

स्वानुभवकरणपटवस्ते तान्विकतपस्तनूकृततनवः ।

विविक्तपटाश्च गुरवस्तिष्ठन्तु हृदि मे मुमुक्षवः ॥

स्वानुभवकरणपटवः तान्विकतपस्तनूकृततनवः मुमुक्षवः विविक्तपटाश्च ते गुरवः मे हृदि तिष्ठन्तु ।

स्वानुभवेति- ये स्वानुभवकरणपटवः स्वस्यानुभवः स्वानुभवस्तस्य करणे पटवो निपुणाः सन्ति । ये तान्विकतपस्तनूकृततनवः तनौ भवं तान्विकं शारीरिकं यत्तपस्तेन तनूकृता तनुः शरीरं यैस्ते । ये विविक्तपटा विविक्तस्त्यक्तः पटो वस्त्रं यैस्ते निरम्बराः । ये च मुमुक्षवो मोक्षाभिलाषिणः सन्ति ते गुरवो मे मम स्तोतुः हृदि हृदये तिष्ठन्तु आसीना भवन्तु । तेषामहं प्रतिक्षणं ध्यानं करोमीति भावः ॥११॥

अर्थ- जो स्वानुभाव के करने में निपुण हैं, जिनका शरीर, शारीरिक तप से कृश

हो गया है, जिन्होंने वस्त्र का परित्याग कर दिया है और जो मोक्षाभिलाषी हैं, वे गुरु हमारे हृदय में स्थित हों । मैं निरन्तर उनका ध्यान करता हूँ ॥११॥

[१२]

निन्द्यं न नीतमस्तं मनो नैमित्तिकं येन समस्तम् ।

अन्धोऽरुणं प्रशस्तं किं संपश्यति पुरुषं स तम् ॥

येन समस्तं नैमित्तिकं निन्द्यं मनः अस्तं न नीतम्, किं स तं प्रशस्तं पुरुषं संपश्यति ? (नैव), यथा अन्धः प्रशस्तम् अरुणम् (नैव पश्यति) ।

निन्द्यमिति- येन मुनिना समस्तं नैमित्तिकं निमित्तेन जातं निन्द्यं मनश्चित्तं लक्षणया मनोव्यापारः । अस्तं समाप्तिं न नीतं नो प्राप्तं स किं प्रशस्तं श्रेष्ठं तं पुरुषं परमात्मानं संपश्यति समवलोकते ? नेत्यर्थः । तदेवोदाह्रियते—अन्धः किं प्रशस्तं विभ्राजमानमरुणं सूर्यं किं पश्यति ? नेत्यर्थः । 'पुरुषः पुन्नागमातङ्गे माधवे परमात्मनि' 'अरुणोऽनूरूसूर्ययोः' इति च विश्वलोचनः ॥१२॥

अर्थ- जिसने समस्त नैमित्तिक निन्दनीय मन को अस्त नहीं किया वह क्या प्रशस्त परमात्मा का अवलोकन कर सकता है ? जैसे अन्धा मनुष्य क्या प्रशस्त सूर्य को देख सकता है ? अर्थात् नहीं ॥१२॥

[१३]

जितक्षुधादिपरिषहः पुद्गलकृतरागादि-भावासहः ।

वीतरागतामजहच्चाञ्चति यतिः स्वं मुदा सह ॥

जितक्षुधादिपरिषहः पुद्गलकृत-रागादि-भावासहः वीतरागताम् अजहत् यतिः स्वं मुदा सह अञ्चति ।

जितेति- जितक्षुधादिपरिषहः जिताः क्षुधादयः परिषहा येन तथाभूतः । पुद्गल-कृतरागादिभावासहः पुद्गलकृता ये रागादिभावास्तेषामसहः । वीतरागतां नीरागपरिणतिमजहत् अत्यजन् यतिः साधुः स्वं निजात्मानं मुदा हर्षेण सह साकं अञ्चति गच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः । 'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसंमदः' इत्यमरः ॥१३॥

अर्थ- जिसने क्षुधा आदि परिषहों को जीत लिया है, जो पुद्गलकृत रागादिभावों को सहन नहीं करता है और वीतरागता को नहीं छोड़ता है, ऐसा साधु हर्ष के साथ स्वात्मा को प्राप्त होता है ॥१३॥

[१४]

वै यम्ययत्यप्ययं दिव्यं स्वीयमनिन्द्यं यद् द्रव्यम् ।

निश्चयनयस्य विषयं गृहीव परिग्रही नाव्ययम् ॥

अयं परिग्रही यमी अपि निश्चयनयस्य विषयं यद् स्वीयम् अनिन्द्यं दिव्यम् अव्ययं द्रव्यं गृही इव वै न अयति ।

वै इत्यादि- अयमेष परिग्रही सग्रन्थो यमी मुनिरपि निश्चयनयस्य विषयं गोचरं यत् स्वीयं स्वकीयं अनिन्द्यं प्रशस्यं दिव्यमनुपमं अव्ययमनश्वरं द्रव्यं तद् गृहीव गृहस्थ इव वै निश्चयेन न अयति न प्राप्नोति । यथा सग्रन्थो गृहस्थः शुद्धबुद्धस्वभावं स्वात्मानं न लभते, नानुभवति तथा सग्रन्थो मुनिरपि न लभते इत्यर्थः ॥१४॥

अर्थ- यह परिग्रहवान् मुनि भी निश्चयनय के विषयभूत, अनिन्दनीय, दिव्य और अविनाशी स्वकीय द्रव्य को गृहस्थ के समान प्राप्त नहीं होता। अर्थात् जिस प्रकार परिग्रही गृहस्थ शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार परिग्रही साधु भी नहीं प्राप्त होता।

भावार्थ- दीक्षा के समय परिग्रह का सर्वथा त्यागकर पश्चात् किसी कार्य के ब्याज से परिग्रह को स्वीकार करने वाला मुनि भी गृहस्थ के समान आत्मानुभव से वञ्चित रहता है ॥१४॥

[१५]

अमन्दमनोमराल ! विविक्तविविधविकल्पवीचिजालम् ।
कलितवृषकमलनालं वित्-सरो मुक्त्वाऽन्येनालम् ॥

अमन्दमनोमराल ! विविक्त-विविध-विकल्पवीचिजालं कलितवृषकमलनालं वित्सरः मुक्त्वा अन्येन अलम् ।

अमन्देति- स्वीयं मनः सम्बोधयति कविः—हे अमन्दमनोमराल! मन एव मरालो हंसो मनोमरालः अमन्दश्चासौ चपलश्चासौ मनोमरालश्चेति तत्सम्बुद्धौ । विविक्तविविधविकल्पवीचिजालं विविधविकल्पा एव वीचयस्तरङ्गास्तासां जालं समूहः विविक्तं रहितं विविधविकल्पवीचिजालं यस्मिन् तथाभूतं । कलितवृषकमलनालं कलितं धृतं वृषकमलस्य धर्मसरोजस्य नालं मृणालं यस्मिन् तत् । वित्सरो विदेव सरस्तं ज्ञानकासारं मुक्त्वा त्यक्त्वा अन्येन सरसा अलं व्यर्थमिति यावत् । ज्ञानसरोवर एव रमस्वेति भावः ॥१५॥

अर्थ- हे चञ्चलमनरूपी हंस! नाना विकल्परूपी तरङ्गों के जाल से रहित तथा धर्मरूप कमल की मृणालों से सहित जो ज्ञानरूपी सरोवर है उसे छोड़ अन्य सरोवर व्यर्थ हैं ॥१५॥

[१६]

यो हीन्द्रियाणि जयति विश्वयत्नेन स जायते यतिः ।

मुनिरयं तं कलयति शुद्धात्मानं च ततोऽयति ॥

यः इन्द्रियाणि विश्वयत्नेन जयति, स यतिः जायते। अयं मुनिः तं कलयति, ततः शुद्धात्मानं च अयति।

य इति- यो हि निश्चयेन विश्वयत्नेन सम्पूर्णप्रयत्नेन इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि दृषीकाणि जयति स्ववशीकरोति स इन्द्रियविजेता यतिर्मुनिः जायते। अयमेष मुनिः स्तोता तमिन्द्रियविजयं इन्द्रियविजेतारं यतिं वा कलयति संपादयति प्राप्नोतीति यावत्। ततस्तस्मात् शुद्धात्मानं रागादिविभावरहितमात्मानम् अयति प्रपद्यते ॥ १६ ॥

अर्थ- जो पूर्ण यत्न से इन्द्रियों को जीतता है निश्चय से वह यति—साधु है। यह मुनि इन्द्रियविजय अथवा इन्द्रियविजेतापने को प्राप्त होता है। अतः रागादिविकारों से रहित शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता है—उस रूप परिणमन करता है ॥ १६ ॥

[१७]

सुपीतात्मसुधारसः संयमी सुधीर्यश्च सदाऽरसः ।

ऋषे! विषयस्य सरसः किल किं वार्वाञ्छति नरः सः ? ॥

ऋषे! यः सुपीतात्मसुधारसः सुधीः संयमी सदा अरसः सः नरः विषयस्य सरसः वार् किल वाञ्छति ? सुपीतेति- ऐ ऋषे! यः सुपीतात्मसुधारसः सुपीतः अनुभूत आत्मैव सुधारसोऽमृतरसो येन तथाभूतः। संयमी संयत इन्द्रियविजयीत्यर्थः। सुधीः सम्यग्ज्ञानोपेतः। सदा सर्वदा अरसो विषयास्वादरहितो वर्तते इति शेषः। स नरो मनुजो विषयस्यपञ्चेन्द्रियविषयभूतस्पर्शादिः सरसः सरोवरस्य वार्जलं, 'वार्वारिकं पयोऽम्भोऽम्बु पाथोऽर्णः सलिलं जलम्' इति धनञ्जयः। किं वाञ्छति? कांक्षति? नेति यावत्। किलेति वाक्यालङ्कारे ॥ १७ ॥

अर्थ- हे ऋषे ! जिसने आत्मारूपी अमृतरस का अच्छी तरह पान किया है, जो संयमी है, हिताहितों के विवेक से सहित है और सदा विषयास्वाद से विरक्त है, वह मनुष्य विषयरूपी तालाब के जल की क्या इच्छा करता है ? अर्थात् नहीं ॥ १७ ॥

[१८]

यः समयति स्वसमयं विबोधबलेन विहाय परसमयम् ।

संवरोऽस्तु स्वयमयं तस्यास्रवारिः प्रतिसमयम् ॥

यः विबोधबलेन परसमयं विहाय स्वसमयं समयति, तस्य अयम् आस्रवारिः संवरः स्वयं प्रतिसमयम् अस्तु ।

य इति- यो मुनिः विबोधबलेन सम्यग्ज्ञानबलेन परसमयं परपदार्थं विहाय त्यक्त्वा स्वसमयं स्वशुद्धात्मानं समयति सम्यक्प्रकारेण प्राप्नोति तमनुभवतीति यावत्। तस्य प्रतिसमयं प्रतिक्षणं आस्रवारिरास्रवविरोधी अयं संवरः कर्मगमननिरोधः स्वयं स्वतः अस्तु भवतु। परसमयप्रवृत्तिरेवास्रवः स्वसमयप्रवृत्तिरेव संवरो भवतीति भावः। 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः ॥१८॥

अर्थ- हे भगवान्! जो विज्ञान के बल से परसमय-परपदार्थों को छोड़कर स्वसमय-निज शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता है, उसी का अनुभव करता है, उसके प्रत्येक समय-क्षण क्षण में आस्रव का विरोधी संवर स्वयं प्राप्त होता है। ॥१८॥

[१९]

व्रतिनो न शल्यत्रयं कलयन्तु किलाऽखिलारत्नत्रयम् ।

शुद्धं स्पृशन्त्वत्र यं निजात्मानं स्तुतजगत्त्रयम् ॥

-अखिलाः व्रतितः किल रत्नत्रयं कलयन्तु, न शल्यत्रयम्। यं स्तुतजगत्त्रयं शुद्धं निजात्मानम् अत्र स्पृशन्तु ।

व्रतिन इति- अखिलाः सर्वे व्रतिनो व्रतवन्तः। किल निश्चयेन रत्नत्रयं सम्यग्दर्शन- ज्ञानचारित्ररूपं कलयन्तु प्राप्नुवन्तु। शल्यत्रयं मायामिथ्यात्वनिदानरूपं न कलयन्तु। किञ्च, अत्र जगति शुद्धं निर्विकारं, स्तुतजगत्त्रयं स्तुतं जगत्त्रयेणेति स्तुतजगत्त्रयं त्रिलोकवन्द्यमित्यर्थः निजात्मानं स्वात्मानं स्पृशन्तु समनुभवन्तु । रत्नत्रयरूपलक्षणेन लक्ष्यभूतं निजात्मानमनुभवन्त्विति भावः ॥१९॥

अर्थ- समस्त व्रतीः मनुष्य यथार्थ में रत्नत्रय को प्राप्त हों-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। माया, मिथ्यात्व और निदानरूप शल्य को प्राप्त न हों। साथ ही, उस रत्नत्रय रूप लक्षण से जगत्त्रय के द्वारा स्तुत निजशुद्ध आत्मा का स्पर्श-अनुभव करें ॥१९॥

[२०]

अधिगतोचितानुचितः स्वचिन्तनवशीकृतचञ्चलचित्तः ।

शिवपथपथिकः कश्चित् पदं कुपथं नयति किं क्वचित् ? ॥

कश्चित् अधिगतोचितानुचितः स्वचिन्तनवशीकृतचञ्चलचित्तः शिवपथपथिकः किं क्वचित् कुपथं पदं नयति ?

अधीति- अधिगतोचितानुचितः उचितं च अनुचितं चेत्युचितानुचिते अधिगते ज्ञाते उचितानुचिते येन स योग्यायोग्यविचारचतुरः। स्वचिन्तनवशीकृतचञ्चलचित्तः

स्वस्य चिन्तनेन वशीकृतं चञ्चलचित्तं येन सः। शिवपथपथिकः शिवस्य मोक्षस्य पन्थाः शिवपथस्तस्य पथिकः पान्थः कश्चित् कोऽपि जनः क्वचित् कुत्रापि किं पदं चरणं कुपथं कुमार्गं नयति प्रापयति ? अपि तु नैव नयति। 'अकथितं च' इत्यनेन नयते द्विकर्मकत्वं प्रसिद्धम् ॥२०॥

अर्थ- जिसने उचित और अनुचित को जान लिया है तथा आत्मचिन्तन के द्वारा जिसने चञ्चलचित्त को अपने अधीन कर लिया है, ऐसा मोक्षमार्ग का कोई पथिक कहीं क्या अपना पग कुमार्ग में ले जाता है ? अर्थात् नहीं ॥२०॥

[२१]

जिनसमयं जानीत आत्मानं नेति जिनेन स गीतः ।

यद्यपि यो भवभीतः प्रमादेन विकारं नीतः ॥

'यद्यपि यो भवभीतः, प्रमादेन विकारं नीतः, जिनसमयं जानीते, सः आत्मानं न (जानीते)' -इति जिनेन (सः) गीतः ।

जिनेति - भवभीतः भवात् संसारात् भीत उद्विग्नः यो जनः प्रमादेन अनवधानतया 'प्रमादोऽनवधानता' इत्यमरः । विकारं विकृतिं नीतः प्राप्तः स यद्यपि जिनसमयं जिनसिद्धान्तं जानीते विपुलं द्रव्यश्रुतं जानाति तथापि आत्मानं ज्ञायकस्वभावमात्मानं न जानाति कर्मनोकर्मभिन्नं स्वात्मानं न परिचिनोति । इतीत्थं जिनेनार्हता गीतः कथितः । आत्मज्ञानेन विना द्रव्यश्रुतज्ञानस्य गरिमा नास्तीति भावः ॥२१॥

अर्थ- यद्यपि जो संसार से भयभीत है परन्तु प्रमाद से विकार को प्राप्त हो गया है वह जिनसमय-जिनशास्त्र को जानता हुआ भी आत्मा को नहीं जानता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

भावार्थ-आत्मज्ञान के बिना ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्व का विशाल श्रुतज्ञान भी मोक्षमार्ग में सहायक नहीं है, परन्तु आत्मज्ञान से सहित अष्टप्रवचनमातृका का अल्पज्ञाने भी आत्मा को केवलज्ञानी बना देता है ॥२१॥

[२२]

मायादिभावमवहन्ननघज्ञानघनौघममलं महः ।

मुहुः कलयामि तदहमुदीक्ष्य मयूरो मुदा सह ।।

मायादिभावम् अवहन् अहं मयूरः तद् अमलं महः अनघज्ञानघनौघं मुहुः उदीक्ष्य मुदा सह कलयामि ।

मायादीति- मायादिभावं दम्भादिविकृतिपरिणतिम् अवहन् अदधत् अहं स्तोता

मयूरो नीलकण्ठः तत्प्रसिद्धं अमलं विमलं महस्तेजोरूपं अनघज्ञानघनौघं अनघं निष्पापं ज्ञानमेव घनौघं मेघसमूहं उदीक्ष्य समवलोक्य मुदा प्रमोदेन सह सार्धं मुहुः ध्वनिं करोमि नृत्यामि वा। यथा गगने गर्जन्तं घनाघनं समुद्वीक्ष्य केकी केकां कुर्वाणो हर्षेण नृत्यति तथाहं समवसरणस्थितजिनेन्द्रस्य केवलज्ञानवैभवमुन्नयनो विलोक्य प्रमुदितो मुहुर्मुहः स्तवनं विदधानो नृत्यामीति भावः ॥२२॥

अर्थ- मायाचार आदि विकारीभावों को न धारण करने वाला मैं मयूर, उस प्रसिद्ध तेजोमय निष्कलङ्क ज्ञानरूप मेघसमूह को देखकर हर्ष के साथ स्तवन करता हूँ अथवा नृत्य करता हूँ ॥२२॥

[२३]

सद्दृग्विद्भ्यां मित्रं युक्तं व्यक्तमात्मनश्च चरित्रम् ॥

सुखं ददाति विचित्रं तीर्थं त्वं धारय पवित्रम् ॥

सद्दृग् विद्भ्यां युक्तं, व्यक्तं यत् विचित्रं सुखं ददाति, तीर्थं पवित्रं मित्रं (एतादृशं) आत्मनः चरित्रं त्वं धारय।

सदिति- सद्दृग्विद्भ्यां सम्यग्दर्शनज्ञानाभ्यां युक्तं सहितं व्यक्तं प्रकटितं यद् विचित्रं विविधमाश्चर्यकरं वा स्वर्गापवर्गसमुद्भूतं सुखं ददाति। पवित्रं निर्दोषं निश्छलं मित्रं हितकरं तीर्थं तीर्थस्वरूपं संसारसिन्धुसंतरणघट्टस्वरूपमिति यावत्। आत्मनो न तु देहस्यैव चरित्रं धारय स्वीकुरु सम्यग्दर्शनज्ञानसहितं सम्यक्चारित्रमात्मनः पवित्रं मित्रमस्ति। अतः हे श्रमण! तदेव स्वीकुर्विति भावः ॥२३॥

अर्थ- सम्यग्दर्शन और सग्यज्ञान से युक्त प्रकट हुआ जो विविध सुख को देता है, मित्र तथा तीर्थ स्वरूप उस आत्मचारित्र-निश्चयचारित्र को हे श्रमण ! धारण करो ॥२३॥

[२४]

यः स्वकमनुभवति स तां लभतेऽसुलभां श्रियमिति मतं सताम् ॥

येहानन्यसदृशतां समावहति शुचिं विलासताम् ॥

यः स्वकम् अनुभवति, स तां असुलभां श्रियं लभते, या (श्रीः) इह अनन्यसदृशतां शुचिं विलासतां (च) समावहति—इति सतां मतम् ।

य इति- यो मुनिः स्वकं स्वस्य क आत्मा तं अनुभवति तत्रैव रमत इति यावत्। स तां तादृशीं असुलभां दुर्लभां श्रियमनन्तचतुष्टयरूपश्रियं लक्ष्मीं लभते प्राप्नोति, या श्रीः इह लोके अनन्यसदृशताम् अन्योपमारहितां शुचिं पवित्रतां विलासतां शोभां च समावहति दधाति। इतीत्थं सतां साधूनां मतमस्तीति शेषः ॥२४॥

(१३)

अर्थ- जो मुनि निज आत्मा का अनुभव करता है वह उस दुर्लभ लक्ष्मी को प्राप्त होता है जो इस जगत् की अनुपम पवित्रता और शोभा को धारण करती है।

भावार्थ- बारहवें गुणस्थान में होने वाली आत्माश्रित शुक्लध्यान की भूमिका नियम से अनन्तचतुष्टयरूप अनुपम लक्ष्मी को प्रदान करती है ॥२४॥

[२५]

समुपलब्धौ समाधौ साधुस्तथागतरागाद्युपाधौ ।

यथा सरिद् वारिनिधौ मुदमुपैति च निर्धनो निधौ ॥

गतरागाद्युपाधौ समुपलब्धौ समाधौ साधुः तथा मुदम् उपैति, यथा सरित् वारिनिधौ निर्धनः च निधौ (उपैति)।

समुपलब्धाविति- गतरागाद्युपाधौ गतो विनष्टो रागाद्युपाधिर्यस्मिन् तस्मिन् वीतरागपरिणतिमय इत्यर्थः समाधौ शुक्लध्याने समुपलब्धौ समीचीना उपलब्धिः प्राप्तिर्यस्य तथाभूते सति साधुः श्रमणः तथा तादृशं मुदं हर्षम् उपैति प्राप्नोति यथा यादृशं वारिनिधौ सागरे समुपलब्धे सरित् स्रवन्ती मुदं प्रमोदमुपैति। यथा च निधौ निधाने समुपलब्धे निर्धनो दरिद्रः समुपैति ॥२५॥

अर्थ- रागादिरूप उपाधि से रहित शुक्लध्यान के प्राप्त होने पर मुनि उस प्रकार हर्ष को प्राप्त होता है, जिस प्रकार समुद्र के प्राप्त होने पर नदी और खजाना के मिलने पर दरिद्र मनुष्य ॥२५॥

[२६]

भवकारणतो देह-रागात्किल दूरीभवन् सदेह ।

सुखप्रदे स्वपदेऽहमनुवसामि मुनिर्जितादेह! ॥

जितादेह! भवकारणतः देहरागात् इह सदा दूरीभवन् अहं मुनिः सुखप्रदे स्वपदे अनुवसामि ।

भवेति- हे जितादेह! जितः पराभूतः अदेहोऽनङ्गो येन तत्सम्बुद्धौ हे जितकाम! भवकारणतः भवस्य संसारस्य कारणं निमित्तं तस्मात्। देहरागात् शरीरप्रीतेः। इह जगति सदा सर्वदा दूरीभवन् अहं मुनिः सुखप्रदे सुखदायिनि स्वपदे स्वस्थाने, आत्मस्वरूप इति यावत् 'पदं व्यवसितस्थानत्राणलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। अनुवसामि सततं निवसामि तत्रैव रम इत्यर्थः ॥२६॥

अर्थ- हे कामविजेता! जिनेन्द्र! संसार के कारणभूत शरीरसम्बन्धी राग से सदा दूर रहता हुआ मैं मुनि, सुखदायक निजपद में—ज्ञायकस्वभावी निजआत्मा में निवास करता हूँ ॥२६॥

[२७]

प्राप्तो यैरेवैष स्वात्मानुभवो गतरागद्वेषः ।

तैर्जगति कोऽवशेषः प्राप्तव्योऽत्र ततो विशेषः ॥

एष गतरागद्वेषः स्वात्मानुभवः यैः (एषः) प्राप्तः तैः अत्र जगति ततः विशेषः कः प्राप्तव्यः अवशेषः ?

प्राप्त इति- एषोऽयं गतरागद्वेषो गतौ रागद्वेषौ यस्मात् स रागद्वेषरहितः स्वानुभव आत्मानुभवो यैरेष महाभागैः प्राप्तो लब्धः । तैरत्र जगति ततः स्वानुभवात् विशेषोऽधिकः कः किं नामधेयः प्राप्तव्यः प्राप्तुं योग्यः । अवशेषोऽवशिष्टः । स्वात्मानुभव एव जगति सर्वतो महानस्तीति भावः ॥२७॥

अर्थ- जिन महानुभावों ने रागद्वेष से रहित स्वानुभव को प्राप्त कर लिया, उन्हें इस जगत् में स्वानुभव से अधिक और विशेष बाकी क्या रहा? अर्थात् कुछ नहीं ॥२७॥

[२८]

रागादीन् सुधीः पुमान् नैमित्तिकाननियतान् नैतीमान् ।

अनधिगततत्त्वोऽसुमान् यति तु पर्यायान् परकीयान् ॥

सुधीः पुमान् इमान् नैमित्तिकान् अनियतान् रागादीन् न एति । अनधिगततत्त्वः असुमान् तु परकीयान् पर्यायान् याति ।

रागादीनिति- सुधीः शोभना धीर्यस्य स विवेकवान् पुमान् पुरुषः नैमित्तिकान् निमित्तेन चारित्रमोहोदयेन जाताः समुत्पन्नास्तान् नैमित्तिकान् इमान् सम्प्रति अनुभूयमानान् अनियतान् अस्थिरात् रागादीन् रागादिबिकारान् न एति न प्राप्नोति । तु किन्तु अनधिगततत्त्वः अनधिगतं तत्त्वं वस्तुस्वरूपं येन तथाभूतः । असुमान् प्राणी परकीयान् परस्येमे परकीयास्तान् निमित्तदृष्ट्या न्यदीयान् पौद्गलिकानिति यावत् पर्यायान् परिणामान् याति प्राप्नोति । निमित्तजन्यत्वाद् रागादयः स्वकीया न सन्ति किन्तु पौद्गलिकचारित्रमोहोदयजनितत्वात् परकीयाः सन्तीति भावः ॥२८॥

अर्थ- ज्ञानी मनुष्य इन नैमित्तिक अस्थिर रागादि को प्राप्त नहीं होता—उन्हें अपना नहीं मानता । परन्तु तत्त्वव्यवस्था को न जानने वाला अज्ञानी प्राणी परकीयपर्यायों को प्राप्त होता है—उन्हें अपनी मानता है ॥२८॥

[२९]

बध्यते विधिना विधिः स प्राहेति बोधैकनिधिर्विधिः ।

साधुर्विहितात्मविधिः येनाधिगतो हि विधेर्विधिः ॥

येन हि विधेः अधिगतः (एतादृशः) विहितात्मविधिः साधुः (भवति) । स बोधैकनिधिः —“विधिः विधिना बध्यते” इति प्राह ।

बध्यतं इति- येन हि विधेः कर्मणो विधिर्विधानं अधिगतो ज्ञातः विहितात्मविधिः विहितः कृत आत्मविधिरात्मकृत्यं येन तथाभूतः। साधुर्मुनिर्भवति। स बोधैकनिधिः बोध एव सम्यग्ज्ञानमेवैकोऽद्वितीयो निधिः कोषः। विधिर्विधिना बध्यते बद्धः क्रियते 'विधिर्वेधसि काले ना विधाने नियतौ स्त्रियाम्' इति विश्वलोचनः ॥२९॥

अर्थ- जिसने विधि-कर्म-भाग्य की विधि को जान लिया, जिसने आत्मा का विधि-कार्य-संवर-निर्जरा सम्पन्न कर ली है और सम्यग्ज्ञान ही जिसकी अद्वितीय निधि है ऐसा साधु अपनी विधि-नियमित चर्या से बद्ध होता है, बँधा रहता है, ऐसा विधि-ब्रह्मा-जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥२९॥

[३०]

यदा साऽऽत्मानुभूतिरुदेति शुद्धचैतन्यैकमूर्तिः।

मुनिर्नश्वरविभूति-मिच्छति किं दुःखप्रसूतिम् ? ।।

शुद्धचैतन्यैकमूर्तिः सा आत्मानुभूतिः यदा उदेति, (तदा) किं मुनिः नश्वरविभूतिं दुःखप्रसूतिम् इच्छति ? (नेति)

यदेति- शुद्धचैतन्यैकमूर्तिः शुद्धस्य रागादिरहितस्य चैतन्यस्य एका अद्वितीया मूर्तिः सा प्रसिद्धा आत्मानुभूतिः स्वानुभूतिः यदा उदेति प्रकटीभवति तदा किं मुनिः दुःखप्रसूतिं दुःखस्य प्रसूतिर्यस्यां तथाभूतां नश्वरविभूतिं भङ्गुरसम्पदां किं इच्छति ? अपि तु नेच्छति ॥३०॥

अर्थ- शुद्ध चैतन्य की अद्वितीयमूर्तिस्वरूप वह आत्मानुभूति जब प्रकट होती है तब क्या मुनि दुःख को उत्पन्न करने वाली भङ्गुर संपदा की इच्छा करता है ? अर्थात् नहीं ॥३०॥

[३१]

भवत्यां भोगसंपदि मुनिर्मोदमेति न कदापि सपदि ।

धारयति समतां हृदि हा ! न विषण्णो भवति च विपदि ॥

भोगसंपदि भवत्यां (सत्यां) सपदि मुनिः कदापि मोदं न एति। हा ! (सः) विपदि विषण्णो न भवति, हृदि (चो)समतां धारयति।

भवत्यामिति- भोगसंपदि भवत्यां विद्यमानायां मुनिः साधुः कदापि जात्वपि सपदि शीघ्रं मोदं हर्षं न एति न प्राप्नोति। हृदि हृदये समतां माध्यस्थ्यवृत्तिं धारयति विपदि विपत्तौ च विषण्णो विषादयुक्तो न भवति। हा हर्षं ॥३१॥

अर्थ-भोगसंपदा के रहते हुए मुनि कभी भी शीघ्र हर्ष को प्राप्त नहीं होता। हृदय में समता को धारण करता है और हर्ष है कि विपत्ति में खेदखिन्न भी नहीं होता ॥३१॥

[३२]

पदं कुट्टष्ट्यै देहि मा सास्ति भवेऽत्र दुःखप्रदेऽहिः ।

त्वमित्थमवेहि देहिंस्तां त्यज स्वसम्पदं यदेहि । ।

अत्र दुःखप्रदे भवे सा (कुट्टष्टिः) अहिः अस्ति। (अतः) त्वं कुट्टष्ट्यै पदं मा देहि। (हे) देहिन् ! इत्थम् अवेहि, तां त्यज। यत् (यस्मात् कारणात्) स्वसम्पदम् एहि।

पदमिति- अत्र दुःखप्रदे दुःखदायके भवे संसारे सा प्रसिद्धा कुट्टष्टिः अहिः सर्पोऽस्ति। अतः त्वं कुट्टष्ट्यै पदं चरणं स्थानं वा मा देहि। हे देहिन् ! हे प्राणिन् ! इत्थं अवेहि जानीहि। तां कुट्टष्टिं त्यज यत् यस्मात्कारणात् स्वसंपदं एहि प्राप्नुहि ॥३२॥

अर्थ- इस दुःखदायक संसार में मिथ्यादर्शन ही सर्प है। अतः तुम उसके लिये पद-स्थान मत देओ-उस ओर पग मत बढ़ाओ। हे प्राणी ! ऐसा तुम जानो, उस मिथ्यादर्शन को छोड़ो जिससे स्वसंपदा को प्राप्त हो सको ॥३२॥

[३३]

जलाशये जलोद्भवमिवात्मानं भिन्नं जलतोऽनुभव ।

प्रमादी माऽये भव भव्य ! विषयतो विरतो भव । ।

अये ! भव्य ! प्रमादी मा भव, विषयतः विरतो भव। आत्मानं जलाशये जलोद्भवम् इव जलतः भिन्नम् अनुभव ।

जलाशय इति- अये भव्य ! हे भव्य ! प्रमादी कुशलेष्वनादर प्रमादः सोऽस्ति प्रमादी मा भव नैधि। विषयतः पञ्चेन्द्रियभोगोपभोगतो विरतो निवृत्तो भव। आत्मानं चैतन्यमयं स्वं जलाशये सरोवरे जलोद्भवमिव कमलमिव जलतः सलिलात् पक्षे डलयोरभेदाज्जडतः पौद्गलिकविषयतो भिन्नं पृथग्भूतं अनुभव संविद्धि। यथा जलजं जलादुत्पन्नं जले निवसदपि स्वं ततो भिन्नं रक्षति तथा त्वमपि भवादुद्भूतो भवे कृतनिवासोऽपि तस्मात्स्वं भिन्नं जानीहीति भावः ॥३३॥

अर्थ- हे भव्य ! तू प्रमादी मत हो, पञ्चेन्द्रियो के विषय से निवृत्त हो। जिसप्रकार जलज-कमल जल से उत्पन्न होकर भी अपने आपको जल से भिन्न रखता है। उसी प्रकार तू भी संसार से उत्पन्न होकर भी जड़ः-पौद्गलिक संसार से अपने आपको पृथक् अनुभव कर ॥३३॥

[३४]

भिन्नोऽहमङ्गान्मद-रूपिणोऽपि च भिन्नमित्यङ्गमदः ।

मुञ्चामीत्वेति मद-माङ्गं हे गत-भवहेतुमद ! ॥

—हे गतभवहेतुमद ! अहम् अङ्गात् भिन्नः। अपि च अरूपिणः मत् अदः अङ्गं भिन्नम् अस्ति-इति ईत्वा (अहं) आङ्गं मदं मुञ्चामि ।

भिन्न इति- हे गतभवहेतुमद! भवस्य हेतुर्भवहेतुः संसारकारणं स चासौ मदो गर्वश्चेति भवहेतुर्मदः गतो विनष्टो भवहेतुमदो यस्य तत्संबुद्धौ। अहं चैतन्यपुञ्ज अङ्गात् देहात् 'देहोऽपघनकायाङ्गम्,' इति घनञ्जयः। भिन्नः पृथग्भूतः अस्मीति शेषः। अपि च किञ्च, अरूपिणोऽमूर्तात् मत् अस्मत्तः अद एतत् अङ्गं देहो भिन्नमस्ति। इतीत्थं ईत्वा ज्ञात्वाहं आङ्गं अङ्गस्येदमाङ्गं शरीरसम्बन्धिनं मदं गर्वं मुञ्चामि त्यजामि ॥३४॥

अर्थ-हे संसार के कारणभूत मद से रहित! मैं शरीर से भिन्न हूँ और यह शरीर भी मुझ अमूर्तिक से भिन्न है, ऐसा जानकर मैं शरीर सम्बन्धी मद-गर्व को छोड़ता हूँ॥३४॥

[३५]

विगतेऽधे मनोभुवि विहरति शुद्धात्मनि मुनिः स्वयंभुवि ।

कथं बद्धः प्रभुर्विः खे चरितु-मिदमसाध्यं भुवि ॥

अधे मनोभुवि गते (सति) शुद्धात्मनि स्वयंभुवि मुनिः विहरति। (यथा) बद्धः विः खेचरितुं कथं प्रभुः? इदं भुवि असाध्यं (वर्तते)।

विगत इति- अधे पापरूपे मनोभुवि मनसि भवति जायत इति मनोभूस्तस्मिन् कामे विगते नष्टे सति मुनिः साधुः स्वयंभुवि अनाद्यनन्ते शुद्धात्मनि रागादिरहितत्वाच्छुद्धे स्वात्मनि विहरति रमते। तदेवोदाहरियते—बद्धो पाशनियन्त्रितो विः पक्षी रवे विहायसि चरितुं गन्तुमुत्पतितुमिति यावत् कथं कुतः प्रभुः समर्थः? इदं बद्धस्य खे गमनं भुवि लोके असाध्यं असंभवं अस्ति। यथा बद्धो विहगो विहायसि चरितुमसमर्थोऽस्ति तथा मनोजबाधसंपृक्तो मनुजः स्वात्मनि विहर्तुमसमर्थोऽस्तीति भावः ॥३५॥

अर्थ- पापी काम के नष्ट हो जाने पर मुनि अनाद्यनन्त शुद्धात्मा में रमण करता है। जैसे जाल में बँधा पक्षी क्या आकाश में उड़ने के लिए समर्थ है? अर्थात् नहीं है। यह कार्य पृथिवी में असाध्य है ॥३५॥

[३६]

यस्य हृदि समाजातः प्रशमभावः श्रमणो यथाजातः ।

दूरोऽस्तु निर्जरातः कदापि मा शुद्धात्मजातः ॥

यस्य हृदि प्रशमभावः समाजातः (स) यथाजातः श्रमणः शुद्धात्मजातः निर्जरातः कदापि दूरः मा अस्तु।

यस्येति- यस्य मुनेः हृदि हृदये प्रशमभावः सम्यक्त्वस्य चिह्नभूतो गुणविशेषः 'रागादिषु च दोषेषु चित्तवृत्तिनिर्वहणम्। तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समस्तत्रतभूषणम् ।' इति प्रशमलक्षणम्। समाजातः समुत्पन्नः स यथाजातो दिगम्बरः श्रमणः साधुः शुद्धात्मजातः शुद्धात्मनि जायत इति शुद्धात्मजा तस्याः तसिलन्तप्रयोगः। निर्जरातः कर्मणामेकदेशक्षयो निर्जरा तस्याः कदापि जात्वपि दूरो दूरवर्ती मास्तु प्रशमभावः सम्यग्दृष्टेर्भवति सम्यग्दृष्टेश्च-प्रतिसमयम-संख्यातगुणितनिर्जरा जायत इति सिद्धान्तः॥३६॥

अर्थ- जिसके हृदय में प्रशमभाव प्रकट हुआ है वह दिगम्बर मुद्रा का धारक-निर्ग्रन्थ साधु शुद्धात्मा से होने वाली निर्जरा से भी दूर नहीं हो॥३६॥

[३७]

यत् संसारे सारं स्थायीतरमस्ति सर्वथाऽसारम् ।

सारं तु समयसारं मुक्तिर्यल्लभ्यते साऽरम् ॥

संसारे यत् स्थायीतरं सारं (तत्) सर्वथा असारम् अस्ति। सारं तु समयसारम् (एव) यत् सा मुक्तिः अरं लभ्यते।

यदिति- संसारे आजवंजवे स्थायीतरं स्थायिन इतरत् स्थायीतरं क्षणभङ्गुरं यत् सारं धनमस्ति तत्सर्वथा सर्वप्रकारेण असारं सारहीनमस्ति। तु किन्तु समयसारं शुद्धात्मपरिणतिः सारं श्रेष्ठमस्ति यत् यस्मात् सा प्रसिद्धा मुक्तिः मोक्षः अरं शीघ्रं लभ्यते प्राप्यते 'सारं न्याये जले वित्ते सारं स्याद्वाच्यवद्वरे' इति विश्वलोचनः, लघुक्षिप्रमरं दुतम्' इत्यमरः॥३७॥

अर्थ- संसार में जो क्षणभङ्गुर सार-धन है वह सब प्रकार से असार है-सारहीन है। सार-श्रेष्ठ तो समयसार-शुद्धात्म परिणति ही है जिससे वह मुक्ति शीघ्र प्राप्त होती है॥३७॥

[३८]

निस्सङ्गः सदागतिः विचरतीव कन्दरेषु सदागतिः ।

ततो भवति सदागतिः स्वरसशमितमारसदागतिः ॥

-स्वरसशमितमारसदागतिः निस्सङ्गः सदागति इव सदागतिः कन्दरेषु विचरति। ततः (तस्मात् कारणात्) सदागतिः भवति।

निस्सङ्ग इति- स्वरसशमितमारसदागतिः स्वरसेन आत्मबलेन स्वानुभवरूपजलेन शमितो विध्यापितो मारः काम एव सदागतिरग्निः सदागतिरिव समीरण इव निस्सङ्गे निष्परिग्रहः सदागतिः साधुः कन्दरेषु गह्वरेषु विचरति विहरति ततस्तस्मात्कारणात् सदागतिः निर्वाणोऽस्य भवति। 'सदागतिर्गन्धवाहे निर्वाणेऽपि सदीश्वरे' इति विश्वलोचनः ॥३८॥

अर्थ- जिसने स्वरस—आत्मबल अथवा स्वानुभवरूप जल से कामरूपी अग्नि को शान्त कर दिया है ऐसा वायु के समान निःसङ्ग साधु वन की गुफाओं में विचरण करता है इस कारण उसे सदागति—निर्वाण प्राप्त होता है ॥३८॥

[३९]

सरस्तत् पुष्करेण यतितिमिर्भातु ध्यानपुष्करेण ।

मृदुता च पुष्करे न नरेऽविरते गीः पुष्करे न ॥

तत् सरः पुष्करेण भातु, यतितिमिः ध्यानपुष्करेण (भातु) पुष्करे च मृदुता (भातु) अविरते नरे न (भातु) पुष्करे गीः न (भातु)।

सर इति- तत् प्रसिद्धं सरः कासारः पुष्करेण पद्मेन भातु शोभताम्। यतितिमिः यतिरेव तिमिर्मीन इति मीनः। ध्यानपुष्करेण ध्यानमेव पुष्करं जलं तेन भातु। पुष्करे कमले मृदुता कोमलता भातु। अविरतेऽसंयते जने मृदुता न भातु। गीः शब्दश्च पुष्करे विहायसि न भात्विति सम्बन्धः। 'पुष्करं व्योम्नि पानीये हस्तिहस्ताग्रपद्मयोः' इति विश्वलोचनः ॥३९॥

अर्थ- वह सरोवर पुष्कर—कमल से सुशोभित हो और मुनिरूप मीन ध्यानरूपी पुष्कर—जल से सुशोभित हो। कोमलता पुष्कर—कमल में सुशोभित हो असंयमी मनुष्य में नहीं और शब्द पुष्कर आकाश में नहीं ॥३९॥

[४०]

संसारमूलमेन आर्तरीद्रद्वयं रोचते मे न ।

हेममयः कथमेण ईप्सितस्तेन रामेण ? ॥

संसारमूलम् आर्तरीद्रद्वयं एनः मे न रोचते। हेममयः एणः तेन रामेण कथम् ईप्सितः ?

संसार इति- संसारमूलं संसारस्य मूलं कारणं, आर्तरीद्रद्वयं आर्तं च रौद्रं चेत्यार्तरीद्रे तयोर्द्वयं आर्तरीद्राख्यकुध्यानयुगलम्। एनः पापरूपम्, तत् मे मुनये न रोचते रुचिकरं नास्ति। हेममयः सुवर्णमय एणो मृगस्तेन विवेकवता पुराणप्रसिद्धेन च रामेण कथं केन कारणेन ईप्सितोऽभिलषितः। सौवर्णमृगलोभेन यथा रामो दारापहरणादिकं दुःखं

प्राप्तस्तथाऽऽर्त्तरीद्राभि धानकुड्यानयोगेन जनो भवे बम्भमीति ततस्तत्पापरूपं
ध्यानयुगलं साधुना न कर्तव्यमिति भावः ॥४०॥

अर्थ- संसार के प्रमुख कारण, पापरूप आर्त और रौद्रध्यान मुझे अच्छे नहीं
लगते। सुवर्णमय मृग विवेकी राम के द्वारा कैसे चाहा गया? ॥४०॥

[४१]

स्वानुभवैकयोगतः परां वीतरागतां यो गतः ।

बिभेत्यङ्गवियोगतः किं चलति शुद्धोपयोगतः ? ॥

स्वानुभवैकयोगतः यः परां वीतरागतां गतः, सः किम् अङ्गवियोगतः बिभेति ? शुद्धोपयोगतः चलति ?

स्वान्विति- यो मुनिः स्वानुभवैकयोगतः स्वानुभवस्य य एकोऽद्वितीयो योगः
सम्बन्धस्तस्मात्परां श्रेष्ठां वीतरागतां वीतरागपरिणतिं गतः प्राप्तः स किं अङ्गवियोगात्
शरीरवियोगाद् बिभेति भीतो भवति, न भवतीत्यर्थः। अपि च शुद्धोपयोगतः किं चलति
विचलितो भवति ? न भवतीत्यर्थः ॥४१॥

अर्थ- जो मुनि स्वानुभव के अद्वितीय संयोग से वीतरागता को प्राप्त हुआ है वह
क्या शरीर के वियोग से डरता है? और शुद्धोपयोग से विचलित होता है? अर्थात्
नहीं? ॥४१॥

[४२]

यो दूरो निजस्वतश्चरति च दृक्कंजविकास-भास्वतः ।

स हि परभावनास्वतः कुर्याद् रुचिमज्ञानी स्वतः ॥

दृक्कंजविकासभास्वतः निजस्वतः यः दूरः चरति, अतः स हि अज्ञानी परभावनासु स्वतः रुचिं कुर्यात्।

य इति- यो मुनिः दृक्कंजविकासभास्वतः दृक् सम्यग्दर्शनमेव कंजं कमलं तस्य
विकासे भास्वान् सूर्यस्तथाभूतात् । निजस्वतः निजं स्वकीयं यत्त्वं धनं तस्मात् दूरो
विप्रकृष्टः सन् चरति विहरति। यः स्वानुभवशून्य इत्यर्थः। अतो निजस्वरहितत्वात् स हि
अज्ञानी सारासारज्ञानरहितः निश्चयेन परभावनासु परेषां परपदार्थानां भावनासु चिन्तनेषु
स्वतः स्वस्मात् स्वयमेवेत्यर्थः। रुचिं प्रीतिं कुर्यात् विदध्यात्। 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं
त्रिष्वात्मीये धनेऽस्त्रियाम्' इति विश्वलोचनः ॥४२॥

अर्थ- जो मुनि, सम्यग्दर्शनरूपी कमल को विकसित करने के लिये सूर्यरूप
आत्मधन से दूर रहता है इसीलिये वह अज्ञानी परपदार्थों की भावनाओं में स्वयं रुचि
करता है ॥४२॥

[४३]

कलय व्रतानि पञ्च तापपदानि मुञ्च पापानि पञ्च ।
नो हि रागप्रपञ्च-मजं भज स्तुतशत—सुरपञ्च ॥

पञ्च व्रतानि कलय, तापपदानि पञ्च पापानि मुञ्च। स्तुतशतसुरपम् अजं भज, रागप्रपञ्चं नो हि (भज)।

कलयेति- पञ्च पञ्चसंख्यकानि व्रतानि
अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहनामधेयानि व्रतानि कलय प्राप्नुहि स्वीकुर्वित्यर्थः
'हिंसानृतस्तेयब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्ब्रतम्' इति ब्रतलक्षणम्। तापपदानि तापस्य
नरकादिगतजन्यदुःखस्य पदानि स्थानानि पञ्च पापानि हिंसादीनि मुञ्च त्यज। हि
निश्चयेन रागप्रपञ्चं पञ्चेन्द्रियविषयप्रीतिविस्तारं नो भज न सेवस्व। स्तुतशतसुरपं स्तुतः
शतसुरपैः शतेन्द्रैस्तथाभूतम् अजं जन्मातीतजिनेन्द्रं भज सेवस्व च समुच्चयार्थः ॥४३॥

अर्थ- अहिंसा आदि पांचव्रतों को धारण करो, दुःख के स्थानभूत पांच पापों को छोड़ो। राग का विस्तार मत करो और सौ इन्द्रों के द्वारा स्तुत जिनदेव की सेवा करो ॥४३॥

[४४]

भवहेतुभूता क्षमा त्यक्ता जिनेन या स्वीकृता क्षमा ॥
तां विस्मर नृदक्ष ! मा, यतः सैव शिवदाने क्षमा ॥

या भवहेतुभूता क्षमा जिनेन त्यक्ता, (या च) क्षमा स्वीकृता, हे नृदक्ष! तां (क्षमां) मा विस्मर, यतः सा एव शिवदाने क्षमा (वर्तते)।

भवेति- भवहेतुभूता भवस्य संसारस्य हेतुभूता कारणभूता या क्षमा पृथिवी जिनेन
त्यक्त्वा, भवहेतुभूता भवस्य श्रेयसो हेतुभूता य क्षमा क्षान्तिः जिनेन स्वीकृता। हे नृदक्ष!
नृषु नरेषु दक्षश्चतुरो नृदक्षो तत्सम्बुद्धौ हे चतुरनर! तां जिनेन्द्राङ्गीकृतां क्षमां मा विस्मर
विस्मृतां कुरु यतो यस्मात् सैव क्षमा शिवदाने मोक्षदाने क्षमा समर्थास्ति। 'क्षितौ
क्षान्तावपि क्षमा' इति 'भवः श्रीकण्ठसंसारश्रेयःसत्तापिजन्मसु' इति च विश्वलोचनः।
क्षमाद्वये विवेकः कर्तव्य इति भावः ॥४४॥

अर्थ- जो संसार की कारणभूत है ऐसी क्षमा—पृथिवी का जिनेन्द्र भगवान् ने त्याग किया है और कल्याण प्राप्ति में जो हेतुभूत है ऐसी क्षमा—शान्ति को स्वीकृत किया है। हे चतुरनर! तू जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा स्वीकृत क्षमा को मत भूल। क्योंकि मोक्षप्रदान करने में वही क्षमा—समर्थ है ॥४४॥

[४५]

प्रत्ययो यस्य वृत्तं जिने निजचिन्तनतो मनो वृत्तम् ।

तस्य वृत्तं हि वृत्तं कथयतीतीदमत्र वृत्तम् ॥

यस्य जिने प्रत्ययो वृत्तं, निजचिन्तनतः (यस्य) मनः वृत्तं, तस्य वृत्तं हि वृत्तम्-इति इदं वृत्तम् अत्र कथयति ।

प्रत्यय इति- यस्य जिने प्रत्ययो विश्वासः श्रद्धा वा वृत्तं जातं सामान्ये नपुंसकलिङ्गप्रयोगः। यस्य मनश्चित्तं निजचिन्तनतो निजस्य चिन्तनं तस्मिन् 'सार्वविभक्तिनस्तसिल् वृत्तं वर्तमानम्। हि निश्चयेन तस्य वृत्तं चरितं वृत्तं परमार्थचरितमस्ति। सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानसहितमेव वृत्तं परमार्थतो वृत्तं भवतीत्यर्थः। इतीत्यम् अत्र जगति संदर्भे वा इदं वृत्तं छन्दः कथयति निवेदयति। 'त्रिषु वृत्तं तु चरिते वृत्तं छन्दसि वर्तते' इति। 'प्रत्ययः प्रेमविश्रम्भप्रश्रयप्रसरेऽर्चने' इति च विश्वलोचनः ॥४५॥

अर्थ- जिसका जिनेन्द्र भगवान् में विश्वास है और आत्मचिंतन में जिसका मन लगा हुआ है उसी का चारित्र वास्तव में चारित्र है ऐसा रहस्य यहां यह छन्द हमें बता रहा है ॥४५॥

[४६]

रुचिमेति कुधीः के न परवस्तुदत्तचित्तो युतोऽकेन ।

स्वस्थो जीवति केन सह मुनिस्तं नमामि केन ॥

अकेन युतः परवस्तुदत्तचित्तः कुधीः के न रुचिम् एति। स्वस्थः मुनिः केन सह जीवति, तं केन नमामि। रुचिमिति- अकेन दुःखेन पापेन वा 'अकं दुःखाघयोः' इति विश्वलोचनः। युतः सहितः परवस्तुदत्तचित्तः परवस्तुषु आत्मेतरपदार्थेषु दत्तं योजितं चित्तं येन सः परचिन्तनपर इति यावत्। कुधीः कुत्सिता धी र्यस्य स कुबुद्धिः के आत्मनि 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु' इति विश्वलोचनः। रुचिं प्रीतिं प्रतीतिं वा न एति न प्राप्नोति। यः स्वस्थः स्वस्मिन् तिष्ठतीति स्वस्थः आत्मचिन्तनतत्परः। मुनिः केन सुखेन जीवति तं केन शिरसा 'शिरोमूर्धोत्तमाङ्गं कम्' इति धनञ्जयः, 'कं सुखे वारि शीर्षे च' इति विश्वलोचनः ॥४६॥

अर्थ- जो अक-दुख या पाप से सहित है तथा जिसका चित्त परपदार्थों में लग रहा है, ऐसा कुबुद्धि-अज्ञानी मानव क-आत्मा में रुचि-प्रीति अथवा प्रतीति को प्राप्त नहीं होता। इसके विपरीत जो मुनि स्वस्थ-आत्मस्थ होता हुआ क-सुख से जीवित रहता है उसे मैं क-शिर से नमस्कार करता हूँ ॥४६॥

[४७]

क्व सा दाहकता विना तिष्ठतु कथं, स च तथा विनाऽविना ।
वस्तुतोऽस्तु यच्च विना ज्ञानमात्मना किन्तु न विना ॥

सा दाहकता अविना विना क्व कथञ्च तिष्ठतु? स (अग्निः) तथा विना च (कथं तिष्ठतु?) वस्तुतः यत् ज्ञानं विना विना-अस्तु, किन्तु आत्मना (विना) न (अस्तु)। (भवतीत्यर्थः)।

क्वेति- सा प्रसिद्धा दाहकता दाहकस्य भावो दाहकता दहनशीलता अविना-अग्निना विना क्व कुत्र कथं केन प्रकारेण तिष्ठतु? स चाविश्च अग्निश्च तथा दाहकतया विना क्व कथं तिष्ठतु? वस्तुतः परमार्थतः । यत् ज्ञानं विना आकाशेन विना अस्तु तयो गुणगुणिसम्बन्धाभावात् किन्तु आत्मना विना नास्तु। यथा दाहकता ह्याग्निना विना न तिष्ठति, अग्निश्च दाहकतां विना न तिष्ठति गुणगुणिभावात्। एवं ज्ञानं ह्यात्मना विना न तिष्ठति, आत्मा च ज्ञानं विना न तिष्ठति। ज्ञानमाकाशेन विना वरं तिष्ठतु तयोर्गुणगुणिसम्बन्धाभावादिति भावः । 'विः खगाकाशयोः पुमान्' इति विश्वलोचनः। अत्र 'विना' इति विशब्दस्य तृतीयान्तप्रयोगः ॥४७॥

अर्थ- वह दाहकता अग्नि के विना कहाँ और कैसे रह सकती है और अग्नि दाहकता के विना कैसे रह सकती है? वास्तव में ज्ञान वि-आकाश के विना तो रह सकता है पर आत्मा के विना नहीं रह सकता।

भावार्थ- जिसप्रकार गुणगुणी सम्बन्ध होने से दाहकता और अग्नि पृथक्-पृथक् अस्तित्व नहीं रखते उसी प्रकार ज्ञान और आत्मा गुणगुणी सम्बन्ध होने से पृथक्-पृथक् अस्तित्व नहीं रखते। आकाश के साथ ज्ञान का गुणगुणी सम्बन्ध नहीं है। अतः दोनों का अस्तित्व पृथक्-पृथक् सिद्ध है ॥४७॥

[४८]

न निश्चयेन नयेन किन्त्वलङ्कृतस्तद्विषयेण येन ।

यस्तं ब्रजेन्नयेन मुक्तिरसंयमिनस्तान् ये न ॥

यः निश्चयेन नयेन न अलंकृतः, किन्तु तद् (तस्य निश्चयनयस्य) विषयेण येन (अलंकृतः) तं (नरं) मुक्तिः नयेन ब्रजेत्। (परञ्च) ये असंयमिनः तान् न (ब्रजेत्)।

नेति- यो मुनिः निश्चयेन नयेन शुद्धवस्तुस्वरूपप्ररूपकेण नयेन नालङ्कृतो न विशोभितः किन्तु तद्विषयेण तस्य निश्चयस्य विषयेण निश्चयानुरूपप्रवर्तनेन येन कारणेन अलङ्कृतस्तेन तं नरं मुक्तिर्नयेन परम्परया ब्रजेत् प्राप्नुयात्। किन्तु ये असंयमिनो व्यदहारचारित्रेणापि शून्याः सन्ति तान् न ब्रजेत् न प्राप्नुयात्। ये श्रद्धा सहितं निर्दोषं व्यवहारचारित्रं धरन्ति ते परम्परया मुक्तिं प्राप्नुवन्ति परन्तु ये सर्वथाऽसंयमिनः सन्ति तेषां मुक्तिप्राप्तिर्दुर्लभास्तीति भावः ॥४८॥

अर्थ- जो निश्चयनय से अलङ्कृत नहीं है किन्तु उसके विषयभूत संयमाचरण से अलङ्कृत है उस मनुष्य को मुक्ति नय—परम्परा से प्राप्त हो सकती है। परन्तु जो असंयमी हैं उन्हें मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती ॥४८॥

[४९]

त्वं त्याज्यं त्यज मानं विस्मर यममलमात्मानं मा नम् ।

भवन्नमानी मानं गतः स जिनोऽनन्यसमानम् ॥

त्वं त्याज्यमानं त्यज, यम् अमलम् आत्मानं न मा विस्मर । स जिनः अमानी भवन् अनन्यसमानं मानं गतः ।

त्वमिति- ऐ श्रमण! त्वं त्याज्यं त्यक्तुं योग्यं मानं गर्वं त्यज मुञ्च। यं प्रशस्तं अमलं निर्मलं आत्मानं नं जिनं मा विस्मर विस्मृतं नो कुरु। स जिनः अमानी मानरहितो भवन् अनन्यसमानं अनुपमं मानं ज्ञानं समादरं वा गतः प्राप्तः। 'नकारो जिनपूज्ययोः' इति विश्वलोचनः ॥४९॥

अर्थ- हे मुने! तू छोड़ने योग्य मान को छोड़। प्रशस्त निर्मल आत्मा तथा जिनदेव को मत भूल। वह जिनदेव मान—गर्व रहित होते हुए अनुपम—अद्वितीय मान—ज्ञान अथवा आदर को प्राप्त हुये हैं।

भावार्थ- यतश्च मानरहित जिनदेव सर्वाधिक मान—समादर अथवा ज्ञान को प्राप्त हुए, अतः मान—गर्व को छोड़ना श्रेयस्कर है ॥४९॥

[५०]

यदि भवभीतोऽसि भवं भज भक्त्याऽभवमिच्छसि भव्य भवम् ।

दृशावस्य मनोभवं त्वङ्कुरु शुच्या निजानुभवम् ॥

भव्य! यदि भवभीतः असि, अभवं भवम् (च) इच्छसि चेत् शुच्या दृशा मनोभवम् आवस्य त्वं भक्त्या भवं भज, निजानुभवं (च) कुरु।

यदीति- -हे भव्य! यदि भवभीतो भवात् संसाराद् भीतस्त्रस्तोऽसि। अभवं नास्ति भवो जन्म यस्मिंस्तं भवं पर्यायं चेच्छसि तर्हि शुच्या पवित्रया दृशा दृष्टया विचारेणेति यावत् मनो-भवं मदनं काममित्यर्थः। आवस्य समाप्य नष्टं कृत्वेति यावत्। त्वं भक्त्या समादरेण भवं जिनेन्द्रं भज सेवस्व निजानुभवं च स्वसंवेदनं च कुरु विधेहि ॥५०॥

अर्थ- हे भव्य! यदि तू संसार से भयभीत है और अभव—जन्मरहित भव—सिद्धपर्याय को चाहता है तो निर्मलदृष्टि—सम्यक्त्व अथवा विवेक से मनोभव—काम को नष्ट कर भक्तिपूर्वक भव—जिनेन्द्रदेव की आराधना कर तथा शुद्ध आत्मा का अनुभव कर ॥५०॥

[५१]

सन्तः समालसन्तः सन्तु सन्ततं स्वे स्वकं भजन्तः ।

अन्तेऽनन्ततामतः प्रयान्तु शिवालये वसन्तः ॥

सन्तः स्वकं भजन्तः (अतएव) समालसन्तः स्वे सन्ततं सन्तु। अतः अन्ते शिवालये वसन्तः अनन्ततां प्रयान्तु।

सन्त इति-सन्तः साधवः स्वकं स्वस्य क आत्मा तं भजन्तः सेवमानाः। अतएव समालसन्तः सम्यगासमन्ताच्च शोभमाना सन्ततं निरन्तरं स्वे आत्मनि सन्तु तद्धानपरा भवन्तु अतः आत्तरमणाद् अन्ते च शिवालये मोक्षे वसन्तः । अनन्ततां नास्ति अन्तो यस्य सोऽनन्तस्तस्य भावस्तामविनश्वरतां प्रयान्तु प्राप्नुवन्तु ॥५१॥

अर्थ- साधुजन स्वकीय आत्मा का भजन करते हुये एवं सम्यक् प्रकार से सुशोभित होते हुए निरन्तर आत्मा में रहें—उसी का चिन्तन—मनन करें। इससे अन्त में मुक्तिधाम में रहते हुए अनन्तता—अविनश्वरता को प्राप्त हों ॥५१॥

[५२]

सुकृतैनोभ्यां मौनमिति ब्रज मत्वाहं देहमौ ! न ।

ध्रुवौ धर्मावमौ न रागद्वेषौ च ममेमौ नः॥

औ ! नः! "अहं देहं न, मम इमौ रागद्वेषौ अमौ ध्रुवौ धर्मो न"—इति मत्वा सुकृतैनोभ्यां मौनं ब्रज।

सुकृतैनोभ्यामिति- औ ! नः! हे मानव! 'नः' इति नृशब्दस्य सम्बुद्धौ रूपम्। अहं देहं शरीरं न। शरीराद् भिन्नोऽस्मीति भावः। मम इमावेतौ रागद्वेषौ अमौ रोगौ ध्रुवौ स्थायिनौ धर्मौ स्वभावौ न स्तः। इति मत्वा सुकृतैनोभ्यां सुकृतं च एनश्चेति सुकृतैर्नसी ताभ्यां पुण्यपापाभ्यां मौनं वाचं यमत्वं मुनित्वं वा ब्रज गच्छ। पुण्यपापविकल्पातीतो भवेति भावः ॥५२॥

अर्थ- हे मानव! मैं देह—शरीर नहीं हूँ और मेरे ये रागद्वेषरूपी रोग स्थायी धर्म नहीं हैं, ऐसा मानकर पुण्यपाप से मौन को प्राप्तकर अर्थात् इनका विकल्प छोड़ शुद्धात्म का अनुभव कर ।

भावार्थ- जब कर्म, नोकर्म और भावकर्म तेरे नहीं हैं तब पुण्य—पाप की चर्चा क्या? वे भी तेरे नहीं हैं अतः इनमें तू आत्मबुद्धि का त्याग कर ॥५२॥

[५३]

भावना चेद्धि भवतः कदा निवृत्तिरियमिति भवेद् भवतः ।

निक्षिपतु मनोऽभवतः पदयोर्दूरं मनोभवतः ॥

‘भवतः इयं निवृत्तिः कदा भवेत्’ - इति हि भवतः भावना चेत् (अ) भवतः पदयोः मनः निक्षिपतु, मनोभवतः (मनः) दूरं निक्षिपतु।

भावनेति- ‘भवतः संसारात् इयं निवृत्तिर्विमुक्तिः कदा कर्हि भवेत्’ इति हि भवतस्तव भावना विचारसन्ततिश्चेत्? तर्हि अभवतः भवतीति भवन् न भवन् अभवन् तस्य भवमगृह्णतो जिनस्येति यावत् पदयोश्चरणयोः मनो मानसं निक्षिपतु निदधातु। मनोभवतः मनसि भवो जन्म यस्य स मनोभवः कामस्तस्मात् मनो दूरं निक्षिपतु। जिनचरणार्चनं मनोभवपरिहरणं च भवतो निवृत्तिसाधनमस्तीति भावः ॥५३॥

अर्थ- ‘संसार से यह निवृत्ति कब होगी’ ऐसी निश्चय से यदि तेरी भावना है तो तू अभवतः—जन्म ग्रहण न करने वाले अरहन्त के चरणों में मन लगा और काम से मन को दूर रख ॥५३॥

[५४]

स ना नैति नालीकः स्वं तेनेतोऽर्थोऽतो नालीकः ।

यः समाननालीकः शिवश्रियेऽप्यस्तु नालीकः ? ॥

स ना नालीकः, यः स्वं न एति। अतः हे न ! तेन अलीकः अर्थः इतः यः (च) समाननालीकः (वर्तते), स शिवश्रिये अपि अलीकः न अस्तु ? (अस्तु एव-इत्यर्थः)।

स इति- स ना पुमान् नालीकोऽज्ञोऽस्ति ‘नालीकः पिण्डजेऽप्यज्ञे’ इति विश्वलोचनः। यः स्वं आत्मानं नैति न प्राप्नोति न जानीते वा। अतः हे न! हे जिन! ‘नकारो जिनपूज्ययोः’ इति विश्वलोचनः। तेन पुंसा अलीको मिथ्या अर्थः इतः प्राप्तः यः समाननालीकः मानेन गर्वेण सहितः समानः, समानश्चासौ नालीकश्चेति समाननालीकः सगर्वाज्ञः अहङ्कारी मूर्खश्चेति यावत् वर्तते। स शिवश्रिये मोक्षलक्ष्म्यै अपि अलीकोऽप्रियो नास्तु न भवतु? अपि तु भवत्वेव। ‘अलीकं त्रिदिवे क्लीबं मिथ्यायामप्रिये त्रिषु’ इति विश्वलोचनः ॥५४॥

अर्थ- वह मनुष्य नालीक—मूर्ख है जो आत्मा को नहीं प्राप्त होता—नहीं जानता। अतः हे जिन! उसने अलीक—मिथ्या अर्थ को प्राप्त किया है—जान रखा है जो समाननालीक—अहङ्कारी एवं अज्ञानी है। ऐसा मनुष्य शिवश्री—कल्याणकारी लक्ष्मी अथवा मोक्षलक्ष्मी के लिए भी अलीक—अप्रिय क्यों न हो? अवश्य हो ॥५४॥

[५५]

तेनाऽऽप्यते साऽऽशु चिदेकमूर्तिश्च गतार्थैकाऽशुचिः ।

धृतदशधर्मैकशुचिर्यो निजं श्रमणः श्रयति शुचिः ॥

गतार्थैकाऽशुचिः चिदेकमूर्तिः च सा आशु तेन आप्यते, यः श्रमणः धृतदशधर्मशुचिः शुचिः निजं श्रयति ।

तेनेति- तेन श्रमणेन गतार्थैकाशुचिः गता विनष्टा अर्थस्यार्थपुरुषार्थस्यैका प्रमुखा अशुचिरपवित्रता यस्यां सा। सा प्रसिद्धा ज्ञानिजनसुलभेति भावत्। चिदेकमूर्तिः चित्तश्चैतन्यस्यैका अद्वितीया मूर्तिः ज्ञानैकमूर्तिरिति यावत् । आशु शीघ्रम् आप्यते प्राप्यते यः धृतदशधर्मशुचिः धृतो दशधर्माणां क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणां शुचिः पवित्रता येन तथाभूतः। शुचिरुज्ज्वलहृदयः श्रमणः साधुः निजं स्वात्मानं श्रयति सेवते। यो विगतार्थरुचिः क्षमाप्रभृतिदशधर्माङ्कृतश्च भवति स एव ज्ञानैकमूर्तिं निजात्मानं ध्यातुमर्हतीति भावः। 'शुचिः पुंस्युपधाशुद्धमन्त्रिण्याषाढबर्हिषोः' इति विश्वलोचनः । च समुच्चयार्थः ॥५५॥

अर्थ- उस श्रमण-साधु के द्वारा वह प्रसिद्ध-ज्ञानिजन सुलभ अर्थपुरुषार्थ सम्बन्धी अपवित्रता से रहित चैतन्य की अद्वितीयमूर्ति प्राप्त की जाती है, जो दशधर्म सम्बन्धी पवित्रता को धारण करने वाला उज्ज्वलहृदय श्रमण निज आत्मा का आश्रय लेता है ॥५५॥

[५६]

परिणतो दृशा साकं यदि नैति विधेरुदयात् सहसाऽकम् ।

कं मुक्तिरेतु साकं कश्चामितं तदाञ्जसा कम् ॥

यदि ना दृशा साकं परिणतः विधेः उदयात् सहसा अकम् एति तदा सा मुक्तिः कं कं अञ्जसा एतु ? कः (च) अमितं कम् (एतु) ?

परिणत इति- यदि चेत् ना नरो दृशा सम्यग्दर्शनेन साकं सार्धं परिणतस्तद्रूपं प्राप्तः। विधेः कर्मणा उदयात् चारित्रमोहोदयस्य प्राबल्यात् सहसा झटिति अकं पापं 'अकं दुःखाघयोः' इति विश्वलोचनः। ऐति प्राप्नोति। सम्यग्दृष्टिर्भूत्वापि कर्मोदयवशतः पापं करोति। तदा सा प्रसिद्धा रत्नत्रयलभ्या मुक्तिः कं किन्नामधेयं कं आत्मानं अञ्जसा परमार्थत एतु प्राप्नोतु? किमपि नेत्यर्थः। कश्च क आत्मा च अमितमनन्तं कं सुखं एतु प्राप्नोतु? अपि तु न कोऽपीत्यर्थः ॥५६॥

अर्थ- यदि सम्यग्दर्शन के साथ तद्रूपता को प्राप्त हुआ मनुष्य कर्म के उदय से सहसा पाप को प्राप्त होता है अर्थात् चारित्र से पतित होता है, तो रत्नत्रय की एकता से प्राप्त होने वाली मुक्ति किस आत्मा को यथार्थरूप से प्राप्त होगी? अर्थात् किसी को नहीं। इसी प्रकार चारित्र से पतित कौन मनुष्य अनन्तसुख को प्राप्त होता है? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ- मात्र सम्यग्दर्शन से मोक्ष प्राप्त होने वाला नहीं है। उसके साथ सम्यग्ज्ञान और पाप के परिहाररूप सम्यक्चारित्र का होना भी अनिवार्य आवश्यक है।
॥५६॥

[५७]

निजीयं ननु नरायं श्रयन्तु मुनयो जडमयं न रायम् ।

चेन्न ते (किं) (वा) नरा यं वाञ्छन्ति न विज्ञा नरा यम् ॥

ननु मुनयः निजीयं नरायं श्रयन्तु, जडमयं रायं न। चेत् न, ते किन्नराः (वानराः) विज्ञाः नराः यं यं न वाञ्छन्ति ।

निजीयमिति-ननु निश्चयेन मुनयः श्रमणा निजीयं निजस्येदं निजीयं स्वात्मीयं न रायं नश्चासौ राश्चेति नरायस्तं पूज्यधनं श्रयन्तु समवलम्बन्ताम्। जडमयमचेतनात्मकं रायं धनं न श्रयन्तु। चेत् न, यद्येवं न कुर्वन्ति तदा ते किन्नराः कुत्सिता नराः किन्नरा वानरा मर्कटाः भवन्ति। विज्ञाः सविवेका नराः यं यं यशोधनं न वाञ्छन्ति नेच्छन्ति। अज्ञा जना एव जडं धनं गृह्णन्ति तेन च यशो वाञ्छन्ति, ज्ञानिनो मुनयस्तु स्वात्मोत्थं धनं स्वीकुर्वन्ति यशसश्च निरुत्सुका भवन्तीति भावः ॥५७॥

अर्थ- मुनि आत्मसम्बन्धी पूज्यधन का अवलम्बन लेवें, अचेतनधन का नहीं। यदि ऐसा नहीं करते हैं तो वे किन्नर हैं—खोटे मनुष्य हैं अथवा वानर हैं। ज्ञानी मनुष्य यश की इच्छा नहीं करते।

भावार्थ- अज्ञानी मनुष्य जड़—अचेतन धन का संग्रह कर उससे यश की इच्छा करते हैं। परन्तु ज्ञानी मनुष्य-आत्मा के ज्ञानादिगुणरूप प्रशस्तधन का संग्रह करते हैं और उससे यथार्थ यश को स्वयमेव प्राप्त होते हैं ॥५७॥

[५८]

अत्र सुखं न वै भवे स्वीये कथमपि कुरु रुचिं वै भवे ।

माने वचसि वैभवे मा भ्रम मुधा मुने! वै भवे ॥

वै अत्र भवे सुखं न। वै मुने! कथमपि स्वीये वैभवे ऐभवे माने वचसि (वा) रुचिं कुरु। भवे मुधा मा भ्रम।

अत्रेति- ए मुने! हे श्रमण! वै निश्चयेन अत्र भवे संसारे सुखं न शातं नास्तीति शेषः। कथमपि केनापि प्रकारेण स्वीये स्वस्येदं स्वीयं तस्मिन् ऐभवे मोक्षभवे 'स्मृतिसम्बोधनाह्वनेऽव्ययमैस्तु शिवे पुमान्' इति विश्वलोचनः। वा समुच्चये 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरिवार्थे च समुच्चये' इत्यमरः। वैभवे विभोर्भगवत् इदमिति वैभवं

तस्मिन् भगवत्सम्बन्धिनि माने ज्ञाने वचसि सिद्धान्ते च रुचिं प्रीतिं श्रद्धां वा कुरु विधेहि ।
वाऽथवा भवे संसारे श्रेयसि वा मुधा व्यर्थं मा भ्रम भ्रमं संदेहं भ्रमणं वा नो कुरु । 'भवः
श्रीकण्ठसंसारश्रेयःसन्ततिजन्मसु' इति विश्वलोचनः ॥५८॥

अर्थ- हे मुने! निश्चय से इस संसार में सुख नहीं है। तू किसी तरह अपने
मोक्षरूप भव में अथवा वैभव-भगवत्सम्बन्धी ज्ञान और सिद्धान्त में रुचिकर, व्यर्थ ही
संसार में मत भटक, अथवा भव-कल्याण के विषय में भ्रम-संदेह मत कर ॥५८॥

[५९]

ते यान्ति सुखं समये समावसन्ति हि सदाधिगतसम! ये ।

दुःखं हि गते समये कार्यमपि च कृतं तदसमये ॥

(हे) अधिगतसम! ये समये सदा समावसन्ति, हि, ते सुखं यान्ति । हि समये गते दुःखम्, असमये कृतं
तत् कार्यम् अपि च (दुःखम्) ।

त इति- हे अधिगतसम! अधिगतं प्राप्तं समं श्रेष्ठं येन तत्सम्बुद्धौ 'समावर्षे
सदृक्सर्वमान्येषु च समं त्रिषु' इति विश्वलोचनः । ये जनाः सदा सर्वदा समये स्वात्मनि
सिद्धान्ते वा समावसन्ति सम्यक्प्रकारेण निवसन्ति तद्धानं विदधतीति भावः । ते हि
निश्चयेन सुखं शर्म यान्ति प्राप्नुवन्ति । हि यतः समये काले सिद्धान्ते गते सति दुःखं
भवति । असमये अकाले कृतं तत्कार्यमपि दुःखं दुःखरूपं भवतीत्यर्थः । 'समयाः
शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः ॥५९॥

अर्थ- हे अधिगतसम! हे श्रेष्ठ पदार्थों को प्राप्त करने वाले श्रमण! जो मुनि सदा
समय-शुद्धात्मा में वास करते हैं- उसका ध्यान करते हैं वे निश्चय से सुख को प्राप्त
होते हैं। क्योंकि समय-सिद्धान्त अथवा योग्यकाल के निकल जाने पर दुःख होता है,
इसके सिवाय जो कार्य असमय-अयोग्यकाल में किया जाता है वह भी दुःखरूप होता
है ॥५९॥

[६०]

स्वं सुदृशाऽमागच्छममितगुणानां सदा समागच्छ ।

मा कमपि च मागच्छ वदात्रेति शीघ्रमागच्छ ॥

अमितगुणानां गच्छं स्वं सुदृशा अमा सदा समागच्छ । "अत्र शीघ्रम् आगच्छ, (तत्र) मा गच्छ" - इति
कम् अपि मा वद ।

स्वमिति- हे मुने! त्वं अमितगुणानां अपरिमितगुणानां गच्छं समूहरूपं स्वं
शुद्धात्मानं सुदृशा सम्यग्दर्शिनः अमा साकं सदा सर्वदा समागच्छ प्राप्तं कुरु । 'अत्र शीघ्रं

आगच्छ, तत्र मा गच्छ' इति कमपि जनं मा वद नो कथय। स्वचिन्तने परकीयो विकल्पो बाधको भवतीत्यर्थः ॥६०॥

अर्थ- हे मुने! अपरिमित गुणों के समूह स्वरूप स्वशुद्धात्मा को सम्यग्दर्शन के साथ प्राप्त करो। 'तुम यहाँ आओ, वहाँ मत जाओ' ऐसा किसी से मत कहो।

भावार्थ- स्वचिन्तन में पर-विकल्प बाधक होता है। अतः उस ओर से दृष्टि हटाना श्रेयस्कर है ॥६०॥

[६१]

खविषयो यो नागतः समादृतश्च येन गतोऽनागतः ।

सत्यं यश्च नागतः किं बिभेति यते! स नागतः ॥

(हे) यते! यः आगतः गतः अनागतः खविषयः येन च न समादृतः यः (च) ना सत्यं गतः, स किं नागतः बिभेति ? (न इति)

खविषय इति- हे यते! मुने! यः आगतः प्राप्तो वर्तमान इत्यर्थः। यो गतो व्यतीतो भूत इत्यर्थः। यश्च अनागतः अप्राप्तो भविष्यन्नित्यर्थः। खविषयः खानां स्पर्शनादीन्द्रियाणां विषयो भोग्यपदार्थः। येन च साधुना न समादृतः समादरेण गृहीतः। यश्च ना नरः सत्यं सते हितं सत्यं साधुहितकरं तत्त्वमिति शेषः। स किं नागतः सर्पतः किं बिभेति भीतो भविष्यति? अपि तु न। इन्द्रियविषयेभ्यो विरक्तः सम्यक् तत्त्वं च गतो नरो मृत्युसाधनेभ्यो न बिभेति सदा निःशङ्को निर्भयो भवतीति भावः ॥६१॥

अर्थ- हे मुने! जो वर्तमान में प्राप्त हैं, पहले प्राप्त थे और आगे प्राप्त होंगे — ऐसे तीन काल सम्बन्धी इन्द्रियविषय जिसके द्वारा आदर को प्राप्त नहीं हुए हैं। साथ ही, जो मनुष्य सत्य—यथार्थवस्तुस्वरूप को जान चुका है वह क्या नाग—सर्प से भयभीत होगा?

अर्थात् नहीं ॥६१॥

[६२]

ते मुनिजनका नत्वा स्वरसं कलयन्ति कजनका न! त्वा ।

जनाः (नराः) पयः किं न त्वाऽऽस्वाद्यं पक्वपौंडकानत्त्वा ॥

हे न! ते मुनिजनकाः कजनकाः (ये) त्वा नत्वा स्वरसं कलयन्ति। जनाः (नराः) पक्वपौंडकान् अत्त्वा आस्वाद्यं पयः किं न (कलयन्ति) ? (तु पादपूर्त्यै)।

त इति- हे न! हे जिन! ते मुनिजनका मुनयश्च ते जनाश्च मुनिजनाः, मुनिजना एव मुनिजनकाः स्वार्थे क प्रत्ययः। कजनकाः कस्य सुखस्य जनका उत्पादकाः सन्तीति शेषः। ये त्वा भवन्तं नत्वा नमस्कृत्य स्वरसं आत्मारसं शुद्धात्मानुभवानन्दं कलयन्ति प्राप्नुवन्ति।

जनाः नराः पक्वपौण्डकान् पक्वानिक्षून् अत्वा खादित्वा किं आस्वाद्यं आस्वादनीयं पयो दुग्धं न कलयन्ति नो गृह्णन्ति? अपि तु कलयन्त्येव। जिननमनमात्मानुभवस्य कारणमस्तीति भावः। तु पादपूतौ ॥६२॥

अर्थ- हे जिनदेव! वे मुनिजन सुख के जनक हैं, जो आपको नमनकर आत्मरस—आत्मानुभव को प्राप्त होते हैं। पका हुआ गन्ना खाकर क्या मनुष्य मधुर दूध को ग्रहण नहीं करते? ॥६२॥

[६३]

जिनपदपद्मयमस्य नुमञ्जति स यश्चादरं यमस्य ।

वाणीरितीयमस्य सन्मतेश्च गुरोर्जितयमस्य ॥

‘यः जिनपदपद्मयमस्य नुमञ्जति -सः (च) यमस्य आदरम्-अञ्जति’ इति समन्तेः गुरोः अस्य जितयमस्य च इयं वाणी (वर्तते) ।

जिनेति- यो जिनपदपद्मयमस्य जिनेन्द्रचरणारविन्दद्वितयस्य नुं स्तुतिं ‘नुः स्तोतरि नुतौ स्त्री च’ इति विश्वलोचनः। अञ्जति गच्छति पूजयति वा स च यमस्य चारित्रस्य आदरं अञ्जति। इति इयमेषा वाणी भारती अस्य सन्मतेः पश्चिमतीर्थकरस्य। जितयमस्य जितो यमो मृत्युर्येन तस्य गुरोश्च। अस्तीति शेषः। जिनचरणकमलयुगलविनतो जन एव सम्यक्चारित्रं सादरं बिभर्तीति भावः। ‘संयमे यमजे धर्मराजे ध्वाङ्क्षे युगे यमः’ इति विश्वलोचनः ॥६३॥

अर्थ- जो जिनेन्द्रदेव के चरणकमलयुगल की स्तुति को प्राप्त होता है वह चारित्र के आदर को प्राप्त होता है, ऐसी महावीर तथा मृत्युञ्जयी गुरु की वाणी है। ॥६३॥

[६४]

योऽत्ति न सदाहारं रत्नत्रयं च कलयति न सदा हारम् ।

गतमानसदाहाऽरं तमेतु स त्रासदं हा! रम् ॥

यः सत् आहारं न अत्ति, रत्नत्रयं हारं च सदा न कलयति, हे गतमानसदाह! सः (जनः) त्रासदं तं कम् अरं हा! एतु।

य इति- यो जनः सदाहारं संश्चासावाहारश्चेति सदाहारस्तं शुद्धसात्त्विकं भोजनम्। न अत्ति न भक्षयति। रत्नत्रयं सम्यग्दर्शनादित्रिकरूपं हारं प्रैवेयकं सदा सर्वदा न कलयति न दधाति स जनः हे गतमानसदाह! गतो विनष्टो मानसस्य हृदयस्य दाहस्तापो यस्य तत्सम्बुद्धौ। त्रासदं दुःखप्रदं तं प्रसिद्धं रं कामाग्निम्। अरं शीघ्रं एतु

प्राप्नोतु। हा खेदे। विशुद्धाहारी रत्नत्रयधारी च जनो मदनाग्निना न दह्यत इति भावः।
'रस्तु कामानले वह्नौ तीक्ष्णे' इति विश्वलोचनः। 'लघुक्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः
॥६४॥

अर्थ- जो मनुष्य शुद्ध सात्त्विक आहार को ग्रहण नहीं करता और न सदा
रत्नत्रयरूपी हार को धारण करता है। हे कामाग्नि सम्बन्धी मानसिक दाह से रहित
मुने! वह, खेद है दुःखदायक कामाग्नि को शीघ्र ही प्राप्त होवे ॥६४॥

[६५]

सुखिनः सुखे सखे न मरुत्सखाः खेचरोऽयुतः सखेन ।

नरो जिनदास ! खे न ह्यार्तस्ततः स्वे वस खे न ॥

सखे, जिनदास ! मरुत्सखाः सुखे सुखिनः न सः खेचरः खेन अयुतः, नरः खेन आर्तः, ततः स्वे वस, खे न
(वस)।

सुखिन इति- हे सखे जिनदास ! मित्रजिनभक्त ! मरुत्सखाः मरुतां देवानां
सखायो, मरुत्सखाः । 'राजाहसखिभ्यष्टच्' इति टच् समासान्तः। इन्द्रः सुखे स्वर्गे 'सुखं
शर्मण्यपि स्वर्गे' इति विश्वलोचनः। सुखिनः सुखसहिताः न सन्तीति शेषः। स प्रसिद्धः
खेचरो विद्याधरः खेन सुखेन 'खमाकाशे दिवि सुखे बुद्धौ संवेदने पुरे' इति विश्वलोचनः।
अयुतो रहितोऽस्तीति शेषः। नरो मनुजो खेन पीडया हि यतः आर्तः पीडितः। ततः स्वे
स्वस्मिन् शुद्धात्मस्वरूपे वस। खे इन्द्रिये जातित्वादेकवचनप्रयोगः। इन्द्रियेषु मा रमस्वेति
भावः ॥६५॥

अर्थ- हे मित्र ! जिनदास ! इन्द्र स्वर्ग में सुखी नहीं है, वह खेचर-विद्याधर सुख
से रहित है और मनुष्य वेदना से पीडित है। अतः तू अपने आप में -शुद्धात्मस्वरूप में
निवास कर, इन्द्रियों में नहीं ॥६५॥

[६६]

तप्त ! मनोभववसुना भव्य चिदनुभवसवेन भव वसुना ।

तृप्तोऽलं भववसु ना स्यात् सुखीत्वा विद्भववसुना ॥

भव्य ! मनोभववसुना तप्त ! चिदनुभव सवेन वसुना तृप्तः भव, भववसुना अलम् ना विद्भववसु ईत्वा
सुखी स्यात् ।

तप्तेति- मनोभववसुना मनोभवः काम एव वसुः अग्निस्तेन।
'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति विश्वप्रकाशः। तप्त ! संतप्त ! हे भव्य ! चिदनुभवसवेन
चितोऽनुभव एव सर्वं जलं तेन 'सर्वं जलाह्वयोः स्नाने' इति विश्वलोचनः। तृप्तो भव

संतुष्ट एधि। भववसुना भवस्य संसारस्य वसु धनं स्वर्णादिकं माणिक्यादिकं वा तेन। 'वसु तोये धने मणौ' इति विश्वः। अलं पर्याप्तं निषेधार्थकोऽव्ययः। ना पुमान् विद्भववसु विद् ज्ञानमात्मा वा तद्भवं तदुत्पन्नं वसु धनं ईत्वा लब्ध्वा सुखी सौख्योपेतः स्यात् ॥६६॥

अर्थ- हे कामाग्नि से संतप्त भव्य! तू आत्मानुभवरूप जल से संतुष्ट हो जा, संसार के धन से वाज आओ। क्योंकि मनुष्य आत्मोत्थधन को पाकर सुखी हो सकता है ॥६६॥

[६७]

जडजेन माऽक्षरेण कुरु किन्तु सम्बन्धममाऽक्षरेण ।
कलयितुं विना क्षरेण न दवेन कुस्तप्ताऽक्ष ! रेण ॥

जडजेन अक्षरेण सम्बन्धं मा कुरु, किन्तु हे अक्ष! अक्षरेण अमा (सम्बन्धं कुरु) । रेण दवेन तप्ता कुः क्षरेण विना न कलयतु।

जडजेनेति- हे अक्ष! अक्ष्णोति व्याप्नोतीत्यक्ष आत्मा तत्सम्बुद्धौ हे आत्मन् ! त्वं जडजेन पौद्गलिकेन अक्षरेण द्रव्यश्रुतवर्णेन सम्बन्ध मा कुरु नो विधेहि। किन्तु अक्षरेण ब्रह्मरूपेणात्मना सम्बन्धं कुरु। 'अक्षरं न द्वयोर्मोक्षे ब्रह्मणि व्योमवर्णयोः' इति विश्वलोचनः। अमा साकं सम्बन्धं कुरु । रेण तीक्ष्णेन दवेन वनाग्निना तप्ता कुः पृथिवी क्षरेण मेघेन जलेन वा विना न कलयतु प्राप्नोतु शान्तिमिति योज्यम्। 'रस्तु कामानले वह्नौ तीक्ष्णे' इति 'क्षरो मेघे क्षरं नीरे' इति विश्वलोचनः । 'वने च वनवह्नौ च दवो दाव इहेष्यते' इत्यमरः । नवपूर्वाधिकैकादशाङ्गद्रव्यश्रुतपाप्मी न तरति संसारसागरादिति भावश्रुतेन सम्बन्धं विधेहीति भावः ॥६७॥

अर्थ- हे आत्मन्! पौद्गलिक अक्षररूप द्रव्यश्रुत से सम्बन्ध मत करो, किन्तु अक्षर-ब्रह्मरूप आत्मा से सम्बन्ध करो अर्थात् भावश्रुत से सम्बन्ध जोड़ो; क्योंकि तीक्ष्ण दावानल से संतप्तभूमि जल अथवा मेघ के बिना शान्ति को प्राप्त नहीं हो सकती ।

भावार्थ- जिस प्रकार संतप्त पृथिवी को शान्त करने के लिए जल की आवश्यकता है। उसी प्रकार विषयानलसंतप्त आत्मा को शान्त करने के लिए भावश्रुत की आवश्यकता है ॥६७॥

[६८]

असावभावो भावः पर्यायस्य न भावस्य च भावः ।
त्रैकालिकस्तु भावः परमेष्ठिमत्स्येति भावः ॥

(३४)

असौ भावः अभावः च पर्यायस्य, भावस्य भावः न। भावः तु त्रैकालिकः- इति परमेष्ठिमतस्य भावः।

असाविति- असौ अनुभवगोचरो भाव उत्पादः, अभावो व्ययश्च पर्यायस्य भवति। भावस्य द्रव्यस्य भाव उत्पादो नास्ति। भावस्तु द्रव्यं तु त्रैकालिकस्त्रिकालवर्ती नित्य इत्यर्थः। इतीत्थं परमेष्ठिमतस्य जैनदर्शनस्य भावोऽभिप्रायोऽस्तीति शेषः। 'भावोऽभिप्राय आशयः' इत्यमरः। जैनदर्शने तत्त्वं नित्यानित्यात्मकं प्रतिपादितं तच्च द्रव्यदृष्ट्या नित्यं पर्यायदृष्ट्या चानित्यं वर्तते। इत्थमुत्पादव्ययौ पर्यायस्य भवतो द्रव्यं तु त्रैकालिकत्वाद् भावरूपं विद्यत इति भावः ॥६८॥

अर्थ- यह उत्पाद और व्यय पर्याय का है, द्रव्य का नहीं। भाव-द्रव्य तो त्रैकालिक है-नित्य है, यह जैनमत का भाव-आशय है। ॥६८॥

[६९]

यत्र रागाय वीचिर्मरीचेश्चेतसि चेन्मदो-वीचिः ।

तत्र न चकास्तु वीचिः किं न स दुःखपूर्णोऽवीचिः ॥

यत्र मरीचेः चेतसि रागाय वीचिः च मदः वीचि (स्यातां) चेत्, तत्र वीचिः न चकास्तु। सः किं दुःखपूर्णः अवीचिः न? (अस्त्येन्न)

यत्रेति-मरीचेमुनि यत्र चेतसि हृदये रागाय रतिपरिणामाय वीचिरवकाशः, वीचिस्तरङ्गरूपः सन्ततिबद्धः स्वल्पो वा मदोऽहङ्कारश्च विद्यते चेत् तत्र मुनिहृदये वीचिः सुखं न चकास्तु न शोभताम्। एवंभूतः स मरीचिर्मुनिः किं दुःखपूर्णः संकटापन्नोऽवीचिर्नरको न वर्तते? अपि तु वर्तत एव । 'वीचिर्द्वयोः स्वल्पतरङ्गयोः। अवकाशे सुखे चाथ' इति 'मरीचिर्नाश्रयो दीप्तौ मुनौ ना कृपणेऽपि च' इति 'अवीचिर्नरके घूर्मि विरहे घूर्मिवर्जिते' इति च सर्वत्र विश्वलोचनः ॥६९॥

अर्थ- मुनि के जिस हृदय में राग के लिये अवकाश है तथा अल्प अथवा सन्ततिबद्ध अभिमान है, उसमें सुख सुशोभित नहीं हो सकता। ऐसा मुनि क्या दुःखों से भरा हुआ नरक नहीं है? अर्थात् नरक ही है।

भावार्थ- रागद्वेष के रहते यथार्थ सुख की अनुभूति नहीं हो सकती ॥६९॥

[७०]

यो भुवि मुनिलिङ्गमितस्तेनाप्यत इति को जिनवागमितः ।

येन मदोन्तंगमितश्चात्मन ह्यविनश्वरो गमितः ॥

'यः भुवि मुनिलिङ्गम् इतः येन मदः अन्तंगमितः, आत्मा च गमितः तेन अमितः कः आप्यते' - इति जिनवाक् ।

य इति- यो जनः, भुवि वसुधायां मुनिलिङ्गं निर्ग्रन्थमुद्रां इतः प्राप्तः । येन जनेन मदो गर्व अन्तंगमितो विनाशं प्रापितः । अविनश्वरो नित्य आत्मा च गमितो ज्ञातः तेन जनेन, अमितः सीमातीतः कः सुखम् आप्यते इतीत्थं जिनवाग् जिनेन्द्रभारती विद्यते इति शेषः ॥७०॥

अर्थ- पृथिवी पर जो मुनिलिङ्ग - निर्ग्रन्थवेष को प्राप्त हुआ है, जिसने अभिमान को नष्ट किया है और जिसने अविनाशी आत्मा को जान लिया है, उसके द्वारा अपरिमित सुख प्राप्त किया जाता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का वचन है ॥७०॥

[७१]

तदस्त्यसुमतामहित-मकं ततो दूरीभव त्वमहितः ।

यो प्राणिग्रामहितः स वदतीति मुनिसमितिमहितः ।।

‘तत् अकम् असुमताम् अहितम् अस्ति। ततः अहितः त्वम् दूरीभव’ इति- यः मुनिसमितिमहितः प्राणिग्रामहितः-स वदति ।

तदिति- तत् प्रसिद्धम्। अकं पापम्। असुमतां प्राणिनाम् अहितमकल्याणकरमस्ति। ततः अहितः सर्परूपात् पापात् त्वं दूरीभव तत्समीपं न गच्छेत्यर्थः । इतीत्थं यः मुनिसमितिमहितः मुनीनां साधूनां समितिः समूहस्तया महितः पूजितः प्राणिग्रामहितः प्राणिनां ग्रामः समूहस्तस्य हितं यस्मात् सः। स एवं भूतो वदति कथयति। ‘ग्रामः स्वरे संवसथे वृन्दे शब्दादिपूर्वकः’ इति, ‘अकं दुःखाघयोः’, ‘समितिः सङ्गरे साम्ये सभायां सङ्गमेऽपि च’ इति च विश्वलोचनः ॥७१॥

अर्थ- ‘वह पाप प्राणियों का अहितकारी-शत्रु है-सर्परूप उस पाप से तू दूर रह’ ऐसा मुनियों के समूह से पूजित और प्राणिसमूह के लिये हितकारी जिनेन्द्र कहते हैं ॥७१॥

[७२]

स मुदमेति वासन्तः समुत्सवो वने यदा वासन्तः ।

नेत्वा निजवासन्त आशु शं शिष्या वा सन्तः ।।

यदा वासन्तः समुत्सवः वने एति (तदा) स वासन्तः मुदम् एति। हे न ! ते शिष्याः सन्तः वा निजवासं शम् ईत्वा आशु (मुदं यन्ति) ।

स इति- यदा यस्मिन् काले वासन्तः वसन्ते भवः समुत्सवः समुल्लासः । वने विपिने एति समागच्छति तदा तस्मिन् काले वासन्तः कोकिलः। ‘वासन्तः कोकिले मुद्गे’ इति विश्वलोचनः। मुदं हर्षं ‘मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसंमदः’ इत्यमरः। एति

प्राप्नोति। हे न! हे जिन! ते तव शिष्याः सन्तो वा निजवासं निजे स्वात्मनि वासो यस्य तं शं शर्म। ईत्वा प्राप्य मुदं यन्तीति योजनीयम् ॥७२॥

अर्थ- जब वन में वसन्त कां उत्सव आता है, तब कोयल हर्ष को प्राप्त होती है। इसी तरह हे जिन! आपके शिष्य और सत्पुरुष आत्मस्थ—आत्मसम्बन्धी सुख को प्राप्त कर मोद को प्राप्त होते हैं ॥७२॥

[७३]

कुधीः सुखी नाके न ततो युतो भव केन नो नाऽकेन ।

दुःखिनो विना के न दृशा किं नरकेण नाकेन ॥

हे नः ! नाके कुधीः सुखी न, ततः केन युतः भव, अकेन युतः न भव। (अतः) नरकेण (च) नाकेन च किम्? दृशा विना के (जनाः) दुःखिनः न ?।

कुधीरिति- हे नः । हे मनुज! नाके स्वर्गे 'स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः' इत्यमरः। कुधीः कुत्सितबुद्धियुक्तो जनः सुखी न। ततस्तस्मात् केन आत्मना युतो भव। अकेन पापेन युतो न भव। अतः नरकेण श्वभ्रेण नाकेन स्वर्गेण च किं? दृशा सम्यग्दर्शनेन विना के जनाः दुःखिनो न सन्तीति शेषः। सम्यग्दर्शनमेव सुखस्य समीचीनं साधनमस्ति। तच्च स्वात्माश्रयेण जायतेऽतस्तत्रैव प्रयत्नः कार्यः ॥७३॥

अर्थ- हे मनुज! स्वर्ग में अज्ञानी — मिथ्यादृष्टि जीव सुखी नहीं है। अतः तू क — आत्मा से युक्त हो, अक—पाप से युक्त मत हो। इसलिये नरक और स्वर्ग से क्या ? सम्यग्दर्शन के बिना कौन मनुष्य दुःखी नहीं है ? ॥७३॥

[७४]

प्रतापी ह्यपि रोहितः पवनपथि यथा पयोदतिरोहितः ।

आत्माप्याह रोहितः कर्मरजसेति नृवरो हितः ॥

पवनपथि प्रतापी अपि रोहितः यथा पयोदतिरोहितः (भवति) (तथैव) रोहितः आत्मा अपि कर्मरजसा (तिरोहितः भवति) इति नृवरः हितः आह

प्रतापीति- यथा येन प्रकारेण पवनपथि गगने प्रतापी प्रतपनशीलोऽपि रोहितः सूर्यः पयोदतिरोहितो मेघान्तरितो भवति, तथा रोहितः सूर्यस्वरूप आत्मापि कर्मरजसा कर्मपांशुना तिरोहितो भवति। इतीत्थं हितः कल्याणकारी नृवरो नरोत्तमो जिन इति यावत्। आह जगाद ॥७४॥

अर्थ- जिस प्रकार आकाश में प्रतापी होने पर भी सूर्य मेघों से छिप जाता है, उसी प्रकार सूर्यरूपी आत्मा भी कर्मरूपी धूलि से तिरोहित हो रहा है — छिप रहा है, ऐसा कल्याणकारी नरोत्तम — जिनेदव ने कहा है ॥७४॥

[७५]

नो सुखं सदाशातो जन्माप्राक्तो रवेः कदाऽऽशातः ? ।

तथापि निजदाशातो दूरोऽतोऽज्ञः सदा शातः ॥

अशातः सत् सुखं न। अप्राक्तः आशातः रवेः जन्म कदा (भवति) ? तथापि निजदाशातः अज्ञः सदा दूरः (वसति), अतः शातः (भवति) ।

नो इति- आशातः आशायाः तृष्णात इति यावत् तसिलन्तप्रयोगः। सत् समीचीनं सुखं शर्म नो न भवतीति शेषः। अप्राक्तः पूर्वतरतः आशाया दिशायाः। रवेः सूर्यस्य, जन्म उदयः कदा भवति? न कदापीत्यर्थः। तथापि अज्ञो जनः निजदाशातः निजं ददातीति निजदा सा चासौ आशा चेति निजदाशा तस्या स्वात्मावबोधशायाः अथवा दशा एव दाशा निजस्य दाशा तस्याः स्वात्मदाशातः सदा दूरो वसति। अतः अशातः नास्ति शातं सुखं यस्य तथाभूतः दुःखीत्यर्थः भवति। 'शातं शर्मणि' इति विश्वलोचनः ॥७५॥

अर्थ- आशा - तृष्णा से समीचीन सुख नहीं होता। पूर्वतर - पश्चिमादि दिशा से सूर्य का उदय कब होता है? फिर भी अज्ञानी मनुष्य निज दशा से दूर रहता है इसीलिये वह सदा अशात - सुखरहित अर्थात् दुःखी रहता है ॥७५॥

[७६]

स्वे वस मुदाऽमा यते! निजानुभवं कुरु चिन्तां माऽऽयतेः ।

नास्तु हीहामाय ते श्रयमुरसि भयमेहि माऽऽयतेः ॥

यते! मुदा अमा स्वे वस। निजानुभवं कुरु; आयतेः चिन्तां मा (कुरु)। आयतेः भयं मा एहि। हि ते उरसि ईहामाय श्रयं न अस्तु ।

स्व इति- हे यते! भो श्रमण! मुदा हर्षेण अमा सह स्वे स्वात्मनि वस निवासं कुरु। निजानुभवं स्वसंवेदनं कुरु। आयतेः भविष्यतः चिन्तां मा कुरु। आयतेः यमस्य 'आयतिस्तु यमे दैर्घ्यं प्रभावोत्तरकालयोः' इति विश्वलोचनः। भयं भीतिं मा एहि नो गच्छ। हि निश्चयेन ते उरसि हृदये । ईहामाय ईहा इच्छैव अमो रोगस्तस्मै भोगाकांक्षारूपरोगाय। श्रयं स्थानं मास्तु नो भवतु ॥७६॥

अर्थ- हे श्रमण! हर्ष के साथ अपने आत्मस्वरूप में निवास करो। निज का अनुभव करो। भविष्य की चिन्ता मत करो। मृत्यु के भय को प्राप्त मत होओ-मृत्यु से डरो नहीं और तुम्हारे हृदय में इच्छारूपी रोग के लिए स्थान नहीं हो ॥७६॥

[७७]

क्षारतः संसारतः पारावारतो दुःखमसारतः ।

निजे भवाब्जसारतः सुखं सत् स्यात् स्वतः सारतः ॥

असारतः क्षारतः पारावारतः संसारतः दुःखं (हि प्राप्यते) । अतः निजे अञ्जसा रतः भव । स्वतः सारतः सत् सुखं स्यात् ।

क्षारत इति- असारतो नास्ति सारो यस्मिंस्तस्मात् साररहितात् । क्षारतः लवणस्वभावात्, पारावारतः सागरात् संसारतः पञ्चपरावर्तनमयसंसारत् दुःखं कष्टं हि प्राप्यते । अतो निजे स्वशुद्धात्मनि अञ्जसा यथार्थतो रतो लीनो भव । स्वतः स्वस्मात् सारतो यथार्थतः सत् समीचीनं सुखं सातं स्यात् भवेत् ॥७७॥

अर्थ- सारहीन, खारे, सागरस्वरूप संसार से दुःख ही प्राप्त होता है। इसलिये निजस्वरूप में यथार्थतः लीन हो, सारभूत निज से सच्चा सुख होता है ॥७७॥

[७८]

न हि कैवल्यसाधनं केवलं यथाजात- प्रसाधनम् ।

चेन्न, पशुरपि साधनं ब्रजेदव्ययमञ्जसा धनम् ॥

केवलं यथाजात-प्रसाधनं न हि (इत्थम्) चेत् न, (तर्हि) पशुः अपि अञ्जसा अव्ययं साधनं धनं ब्रजेत् ।

नहीति- केवलं मात्रं यथाजातप्रसाधनं यथाजातस्येव सद्योजाततनयस्येव प्रसाधनं वेषो 'वेशे प्रसाधनम्' इति विश्वलोचनः । कैवल्यसाधनं मोक्षोपायो न हि नैव विद्यते इति शेषः । न चेत्? एवं न स्यात्तर्हि पशुरपि गोगजाश्वमहिषीप्रभृतितिर्यगपि अञ्जसा यथार्थतया अव्ययमविनश्वरं साधनं गतिं मोक्षगतिरूपं धनं ब्रजेत् प्राप्नुयात् । यदि नाग्न्यमेव मोक्षस्य साधनं तर्हि पशुरपि नग्नत्वान्मोक्षं लभेत । परमार्थतो रत्नत्रयमेव मोक्षस्य मार्गो विद्यते । तत्पूर्तिश्च निर्ग्रन्थमुद्रायामेव जायते तस्मात्तदप्युपादेयमेव । 'साधनं मेहने सैन्ये निवृत्तिगतिसिद्धिषु' इति विश्वलोचनः ॥७८॥

अर्थ- मात्र नग्नवेष ही मोक्ष का उपाय नहीं है। यदि ऐसा न हो तो, पशु भी यथार्थ में अविनश्वर गति—मोक्षरूपी धन को प्राप्त हों ।

भावार्थ- मोक्ष का साक्षात् कारण रत्नत्रय की पूर्णता है और वह पूर्णता निर्ग्रन्थवेष में ही होती है। अतः उसे भी बाह्य साधन स्वीकृत किया गया है ॥७८॥

[७९]

स्वीयतो भुवि भावतः शिवं भवेद् भववृद्धिर्विभावतः ।

विरतो भव विभावत इति वाग्धि विवेकविभावतः ॥

“स्वीयतः भावतः भुवि शिवं भवेत्, भववृद्धिः विभावतः (भवेत्) अतः विभौ विरतः भव”- इति हि विवेकविभावतः वाग् ।

स्वीयत इति- स्वीयतः स्वकीयात् भावतो वीतरागपरिणामात् भुवि पृथिव्यां शिवं श्रेयो मोक्षो वा भवेत्। विभावतः विरुद्धो भावो विभावस्तस्मात् सरागपरिणामात् भववृद्धिः संसारवृद्धिः भवेत्। अतोऽस्मात् कारणात् विभौ प्रभौ जिन इति यावत्। विरतो विशेषेण रतो लीनो भव। अथवा विभावतो विभावपरिणामात् विरतो निवृत्तो भव। इति हि विवेकविभावतः विवेकस्य ज्ञानस्य विभा दीप्तिर्विद्यते यस्य तस्य केवलज्ञानिनो वाग्वाणी। अस्तीति शेषः ॥७९॥

अर्थ- 'स्वकीय स्वभाव से पृथिवी पर शिव - कल्याण अथवा मोक्ष होता है और विभाव-रागादि परिणाम से संसार की वृद्धि होती है। अतः हे श्रमण! तू वीतराग सर्वज्ञ प्रभु में विलीन हो जा' ऐसी विवेकविभावान्- केवलज्ञान की प्रभा से युक्त जिनेन्द्र की वाणी है ॥७९॥

[८०]

चरणमुकुटः शिरसि त आभवतो न सुदृगसितमणिरसितः ।
धृतोऽतो यो न रसित-गोचरः कोऽसौ शुचिरसितः ॥

आभवतः ते शिरसि सुदृगसित-मणिरसितः चरणमुकुटः न धृतः। अतः यः रसितगोचरः न, असौ शुचिः कः असितः ?

चरणेति-आभवतः अनादिसंसारात् अद्यावधिरिति यावत्। ते भवतः सुदृगसितमणिरसितः सुदृक् सम्यग्दर्शनमेव असितमणिर्नीलमणिस्तेन रसितः खचितः 'स्वणादिखचिते तु स्यात्त्रिष्वेव रसितं मतं' इति विश्वलोचनः। अथवा रलोरभेदात् लसितः शोभितः। चरणमुकुटः पादमौलिः शिरसि मूर्ध्नि स्वस्येति शेषः। न धृतो नो स्थापितः। अतोऽस्मात्कारणात् यो रसितगोचरो न शब्दगोचरो न, असौ सः। शुचिरुज्ज्वलः क आत्मा असितोऽज्ञातो वर्तते ममेति यावत्। भवच्चरणसरोजवन्दनप्रभावादेव चारित्रं भवति चारित्राच्चात्मोपलब्धिर्भवतीति भावः ॥८०॥

अर्थ- हे भगवन्! मैंने अनादिसंसार से आज तक सम्यक्त्वरूपी नीलमणि से खचित आपका चारित्ररूपी मुकुट अपने मस्तक पर नहीं चढ़ाया, इसीलिये जो शब्द का विषय नहीं वह निर्मल आत्मा मेरे लिये अज्ञात रही ॥८०॥

[८१]

यस्त्रियोगैरञ्जनं रागमयं विहाय जगद्-रञ्जनम् ।
भजति जिनं निरञ्जनं तमेति मुक्तिः साऽरं जनम् ॥

यः त्रियोगैः रागमयम् अञ्जनं विहाय, जगद्रञ्जनं निरञ्जनं जिनं भजति, तं जनं सा मुक्तिः अरम् एति ।
 य इति- यो जनः त्रियोगैः मनोवाक्कायाभिधानैः। रागमयं रागप्रचुरं अञ्जनं
 नयनकज्जलं विहाय त्यक्त्वा जगद्रञ्जनं जगदानन्ददायनं निरञ्जनं निष्कलङ्कं जिनमर्हन्तं
 भजति सेवते तं जनं पुरुषं सा प्रसिद्धा मुक्तिः शिवरमा । अरं शीघ्रम् । एति प्राप्नोति ।
 जिनभजनं मुक्त्यासज्जनमिति भावः ॥८१॥

अर्थ- जो मन-वचन-काय से रागरूप काजल को छोड़कर जगत् को आनन्द देने
 वाले, कर्मकालिमा से रहित जिनेन्द्र की सेवा करता है, उस पुरुष को वह मोक्षलक्ष्मी
 शीघ्र ही प्राप्त होती है ॥८१॥

[८२]

त्यजेत्वा सङ्गमेन आश्वलमनेन च दुःसङ्गमेन ।

भज नमसङ्गमेनमनात्मनि विश्वासं गमे न ॥

सङ्गं एनः ईत्वा आशु त्यज । अनेन दुस्सङ्गमेन च अलम् । असङ्गम् एनं नं भज । अनात्मनि गमे विश्वासं
 न (कुरु) ।

त्यजेति- सङ्गं परिग्रहं एनः पापं ईत्वा ज्ञात्वा आशु शीघ्रं त्यज । अनेन सङ्गेन दुःसङ्गमेन
 च कुसंगत्या च अलं पर्याप्तं ततो विरमेति यावत् । असङ्गं निर्ग्रन्थं, एनं एतं न जिनं भज सेवस्व
 अनात्मनि स्वात्मेतरे गमे मार्गं विश्वासं विश्रम्भं न कुर्विति शेषः ॥८२॥

अर्थ-परिग्रह को पाप जानकर शीघ्र छोड़ो । इस परिग्रह और कुसंगति से वाज आओ,
 दूर रहो । इन निर्ग्रन्थ जिनेन्द्र की सेवा करो, पर पथ में विश्वास मत करो ॥८२॥

[८३]

तथा जितेन्द्रियोऽङ्गतो निस्स्पृहोऽभवं योगी च योगतः ।

पक्वपर्णोपचयोऽगतो यथा पतन् मा चल योगतः ॥

यः जितेन्द्रियः योगी अभवंगतः, अङ्गतः च तथा निःस्पृहः यथा अगतः पतन् पक्वपर्णोपचयः (निःस्पृहो
 भवति) अतः योगतः मा चल ।

तथेति- यो जितेन्द्रियः जितानि वशीकृतानि इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि येन सः ।
 योगी साधुः अभवं गतः संसाराभावं गतः प्राप्तः । अङ्गतो देहाच्च तथा तेन प्रकारेण निस्स्पृहो
 निरभिलाषो जातो यथा । अगतः पादपात् 'पादपोऽगो वनस्पतिः' इति धनञ्जयः । पतन्
 पक्वपर्णोपचयः पक्वानां गलितरसानां पर्णानां पत्राणामुपचयः समूहो निस्स्पृहो भवति ।
 अतो हेतोः योगतो ध्यानात् मा चल विचलितो नो भव । यो योगी जितेन्द्रियः पादपात्पतन्
 पक्वपत्रप्रचय इवाङ्गतोऽपि निस्स्पृहो भवति स एव भवोच्छेदं कर्तुं पारयति
 तस्मादुत्पातोपनिपातेऽपि गृहीतयोगाद्विचलितो न भवेति भावः ॥८३॥

अर्थ- जो जितेन्द्रिय साधु अभव-संसाराभाव को प्राप्त हुआ है, वह शरीर से
 उस प्रकार निस्स्पृह रहता है, जिस प्रकार वृक्ष से पड़ता हुआ सूखे पत्तों का समूह । अतः
 हे योगिन् ! तू (शारीरिक उत्पात आने पर) योग से विचलित न हो ॥८३॥

[८४]

यो धत्ते सुदृशा समं मुनिर्वाङ्मनोभ्यां च वपुषा समम् ।
विपश्यति सहसा स मं ह्यनन्तविषयं न तृषा समम् ॥

यः मुनिः सुदृशा वाङ्मनोभ्यां च वपुषा समं समं धत्ते, स हि अनन्तविषयं मं सहसा समं विपश्यति, तृषा (समं) न (पश्यति) ।

य इति—यो मुनिः सुदृशा सम्यग्दर्शनेन समं सार्धं वाङ्मनोभ्यां वचोमानसाभ्यां वपुषा च शरीरेण च समं साम्यपरिणामं धत्ते स मुनिः सहसा झटिति समं मया ज्ञानलक्ष्म्या सहितं अनन्तविषयं सर्वगोचरं सर्वज्ञमिति यावत् । मं विधिं ब्रह्माणं आत्मानमिति यावत् विपश्यति विशेषेण पश्यति समवलोकते । तृषा तृष्णया अनन्तभोगाकांक्षया न विपश्यति हि निश्चयतः 'मश्चन्द्रे मो विधौ' इति विश्वलोचनः ॥८४॥

अर्थ- जो मुनि सम्यग्दर्शन के साथ मन-वचन-काय से साम्यभाव को धारण करता है, निश्चय से वह अनन्तपदार्थों के ज्ञाता ब्रह्मा—आत्मा को शीघ्र ही देखने लगता है— उसका अनुभव करने लगता है, किन्तु तृष्णा के साथ नहीं ॥८४॥

[८५]

करणकुञ्जरकन्दरं स्वरससेवन - संसेवित - कन्दरम् ।
त्वा स्तुवे मेऽकं दरं कलय गुरो ! दृक्कृषिकंद ! रम् ॥

(हे) गुरो ! दृक्कृषिकन्द ! स्वरससेवन- संसेवितकन्दरं करणकुञ्जरकन्दरं त्वा स्तुवे। मे अकं दरं कलय ।

करणेति- हे गुरो! हे दृक्कृषिकंद! दृगेव सम्यग्दर्शनमेव कृषि तस्यै कं जलं ददाति, तत्सम्बुद्धौ। करणकुञ्जरकन्दरं करणानीन्द्रियाण्येव कुञ्जरा गजास्तेषां कन्दरोऽङ्कुशस्तम्।स्वरससेवनसंसेवितकन्दरं स्वरसस्य स्वात्मानुभवस्य सेवनाय संसेविता निवासीकृता कन्दरा गुहा येन तं। त्वा भवन्तं स्तुवे स्तवनं करोमि। मे स्तोतुः। रं तीक्ष्णं तीव्रमिति यावत् अकं दुःखं दरं ईषत् कलय कुरु। 'वा स्त्री तु कन्दरो दर्यामङ्कुशे पुंसिकन्दरः' इति 'रस्तु कामानले बह्नौ तीक्ष्णे' इति च विश्वलोचनः ॥८५॥

अर्थ- हे गुरो! हे सम्यक्त्वरूपी खेती को जल देने वाले! जो इन्द्रियरूपी हाथियों को वश करने के लिये अंकुश हैं तथा आत्मानुभव का सेवन करने के लिये जो कन्दराओं — गुफाओं में निवास करते हैं, ऐसे आपकी मैं स्तुति करता हूँ आप मेरे तीव्र दुःख को लघु — हल्का कर दें ॥८५॥

[८६]

स हि मुनिर्मयाऽरमितः प्रणतिं यो क्षमारामया रमितः ।
गदितमिति जिनैरमितश्चाप्यते कोऽनया नर ! मितः ॥

यः क्षमारामया रमितः, स हि मुनिः मया अरं प्रणतिम् इतः (हे) नर ! अनया अमितः मितः च कः आप्यते—इति जिनैः गदितम् ।

स इति- यः क्षमारामया क्षमैका रामा रमणी तथा रमितः रमणः प्राप्तः स हि मुनिः मया स्तोत्रा अरं शीघ्रं प्रणतिं प्रणमनं इतः प्राप्तः । हे नर! अये मानव! अनया क्षमया अमितः भितातीतो मोक्ष भव इति यावत् । मितश्च सीमन्सहितश्च स्वर्गादिसमुद्भव इत्यर्थः कः सुखं आप्यते लभ्यते । इत्येवं जिनैरर्हदिभः । गदितं कथितम् ॥८६॥

अर्थ- जो क्षमारूपी रमणी से रमा गया है— उसमें निरन्तर लीन है वह मुनि मेरे द्वारा शीघ्र ही प्रणाम को प्राप्त होता है- मैं उसे सहसा प्रणाम करता हूँ । हे मानव! 'इस क्षमा से मोक्ष का अपरिमित और स्वर्गादि का परिमित सुख प्राप्त होता है' ऐसा जिनेन्द्र भगवन्तों ने कहा है ॥८६॥

[८७]

ननु निश्चयो यो नयः शिवदो न वन्द्यो न न च नयोऽनयः ।

नमः पयोजयोनय आशु नाश्यन्ते कुयोनयः ॥

ननु यः निश्चयः नयः (सः) शिवदः न, वन्द्यः (च) न, नयः अनयः च न । पयोजयोनये नमः (यस्मात्) कुयोनयः आशु नाश्यन्ते ।

नन्विति- ननु परमार्थतो यो निश्चयो नयः स्वाश्रितो नयः शुद्धवस्तुस्वरूपप्रतिपादको नयः स शिवदो न मोक्षप्रदो न वन्द्यो वन्दनीयश्च न । नयेन मोक्षो न प्राप्यते, नयस्तु नयनवत्पथप्रदर्शक एव ततोऽसौ वन्दनीयो नास्ति । एवं चेद् नयो व्यर्थ इति शङ्का न विधेया । नयोनिश्चयव्यवहारभेदभिन्नो नयः अनयो न, न विद्यतेऽयः शुभावहो विधिर्यत्र सोऽनयः शुभावहविधिरहितो न, किन्तु प्रारम्भदशायां पथप्रदर्शकत्वेन कल्याणकृद् भवति । अथवाऽयं नयः सुनयः अयं च कुनय इति विकल्पो न श्रेयान्, नयातीत एव नरः स्वात्मस्वरूपं लब्धुं शक्नोति । अतो नयानयविचारं मुक्त्वा पद्मयोनिं जिनेन्द्रं नमस्करोमि यस्मात् कुयोनयो नरकादियोनयः आशु शीघ्रं नाश्यन्ते दूरीक्रियन्ते ॥८७॥

अर्थ- परमार्थ से जो निश्चयनय है वह मोक्ष को देने वाला नहीं है इसलिये वन्दनीय भी नहीं है । तात्पर्य यह है कि निश्चयनय मात्र मोक्षपथ का प्रदर्शक है मोक्षप्रदायक नहीं, मोक्ष के लिये पुरुषार्थ आत्मा को ही करना होता है । निश्चयनय मोक्ष का देने वाला नहीं है तथा वन्दनीय भी नहीं है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नय व्यर्थ है । प्रारम्भिक दशा में नय अनय नहीं है कल्याणकारी विधि से रहित नहीं है, अतः सार्थक है । अथवा मैं नय और कुनय के पक्ष में न पड़कर पद्मयोनि — ब्रह्मस्वरूप आत्मा को नमस्कार करता हूँ, जिससे सब नरकादि कुयोनियाँ नष्ट होती हैं ॥८७॥

[८८]

तदाऽऽत्मा मेऽजायते मयि यदैव सच्चेतना जायते ।

त्वमतस्तां भजाऽऽयतेर्न भयं या स्वभावजा यते ! ॥

यदा एव मयि सच्चेतना जायते, तदा (एव) मे आत्मा अजायते। (हे) यते! स्वभावजा या (सच्चेतना) तां भज। आयतेः भयं न (भज)।

तदेति- यदैव यस्मिन्नेव समये मयि स्तोतरि सच्चेतना सती चासौ चेतनेति सच्चेतना रागादिरहिता ज्ञानपरिणतिः जायते तदैव तस्मिन्नेव काले मे मम आत्मा अजायते अज इवाचरतीत्यजायते जिनेन्द्रायते। दशमगुणस्थाने रागपरिणतेरभावे सति क्षीणमोहाभिधानद्वादशगुणस्थानेऽवशिष्टघातित्रिकं विनाशयान्तर्मुहूर्ते सैवायमात्मारहन् भवतीति प्रसिद्धेः । हे यते! अये श्रमण! स्वभावजा स्वाभाविकी या सच्चेतना तां भज। आयतेरुत्तरकालस्य भविष्यत् इति यावत् भयं भीतिं त्यज। अग्रे कोऽहं भविष्यामीति विकल्पो न कार्यः ॥८८॥

अर्थ- जिस समय मुझमें सच्चेतना प्रकट होती है—मेरी ज्ञानपरिणति रागादिक विभावभावों से रहित होती है, उसी समय मेरी आत्मा अज—भगवान् जैसी हो जाती है। हे श्रमण! जो स्वाभाविक सच्चेतना है उसी की तू सेवाकर — आराधन-मनन-चिन्तन कर, भविष्यत् का भय न कर ॥८८॥

[८९]

निजस्य गतमदा नवः समावहन्तस्तं समं दानवः ।

क एति कामदा नवस्तानाह नुतयमदानवः ॥

“(ये) गतमदाः निजस्य नवः तं समं समावहन्तः दानवः, तान् कामदा नवः कः एति” -इति नुतयमदानवः आह ।

निजस्येति- ये गतमदा गतो नष्टो मदोऽहङ्कारो येषां ते निरभिमानाः निजस्य स्वात्मनः नवः स्तोतारः सन्ति। समं साम्यभावसहितं तं निजात्मानं समावहन्तो दधतः। यद्वा समं सार्धं तं समावहन्तो दानवो विक्रान्ता वीरा इति यावत् । सन्तीति शेषः। तान् कामदा कामं ददातीति कामदा क्विबन्तप्रयोगः। नवो नूतनः कः प्रकाशः । एति प्राप्नोति। इतीत्थं नुतयमदानवः यमदानवैर्नुत इति नुतयमदानवः सुरासुरैः नुतो जिनेन्द्रदेव आह जगाद। ‘नुः स्तोतरि नुतौ स्त्री च’ । ‘विक्रान्ते वाच्यवद्दानुर्दानदातरि वाच्यवत्’ । ‘को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्म द्योतबर्हिषु’ इति च विश्वलोचनः ॥८९॥

अर्थ- जो निरभिमान हो निज शुद्धात्मा की स्तुति करते हैं तथा उसी को सदा साथ धारण करते हैं वे वीर हैं। उन वीरों को मनोरथों का पूरक नूतन प्रकाश

(केवलज्ञान) प्राप्त होता है— ऐसा सुर—असुरों से स्तुतजिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ॥८९॥

[९०]

शुचिर्विवेकदृशा न आत्मा दृश्यतेऽनया च दृशा न ।
ना विना को दृशा न ते विदुरादर्श- सदृशा नः! ॥

(हे) नः ! विवेकदृशानः शुचिः आत्मा अनया दृशा च न दृश्यते। दृशा विना कः न (आप्यते)- (एवं) ते आदर्श- सदृशाः नाः विदुः ।

शुचिरिति- हे नः ! अये मानव ! विवेकदृशा भेदज्ञानदृष्ट्या शुचिरुज्ज्वलः नः पूज्य आत्मा दृश्यतेऽनुभूयते। अनया चर्ममय्या दृशा दृष्ट्या च न दृश्यते नावलोक्यते। दृशा भेदविज्ञान-दृष्ट्या विना क आत्मा न आच्यते न लभ्यते। एवं ते आदर्शसदृशाः दर्पणतुल्याः नाः जिनाः विदुर्जानन्ति ॥९०॥

अर्थ- हे मानव ! पूज्य निर्मल आत्मा भेदविज्ञानरूप दृष्टि से दिखाई देता है— अनुभव में आता है, इस चर्ममयी दृष्टि से नहीं। दृष्टि के बिना क— आत्मा, सूर्य, प्रकाशादि प्राप्त नहीं होते—ऐसा दर्पण के समान वे जिनराज जानते हैं ॥९०॥

[९१]

दृशा विना चरणस्य भारं वहता च मूढं च चरणस्य ।
नुमञ्चताऽऽचरणस्य नाप्तिर्नुतनृनभश्चर ! णस्य ॥

(हे) नुतनृनभश्चर ! दृशा विना चरणस्य भारं, चरणस्य मूढं च वहता, आचरणस्य नुम् अञ्चता णस्य आप्तिः न (भवतीति) ।

दृशेति- हे नुतनृनभश्चर ! नृनभश्चरैर्नरविद्याधरैः-स्तुत ! दृशा विना सम्यग्दर्शनमन्तरेण चरणस्य चारित्रस्य भारं बाह्यचरणस्य चारित्रस्य गोत्रस्य वा मूढं गर्वं च वहता दधता, आचरणस्य नुं स्तुतिं च अञ्चता प्राप्तवता जनेन। णस्य ज्ञानस्य आप्तिः प्राप्तिर्न भवतीति शेषः। यः सम्यग्दर्शनेन रहितं चारित्रं बिभर्ति, तेन चारित्रेण गर्वं चावहति, चारित्रस्य नित्यं प्रशंसां च विदधाति तेन प्रकाशो निर्णयो वा नैव लभ्यत इति भावः ॥९१॥

अर्थ- हे मनुष्य एवं विद्याधरो से स्तुत जिनदेव ! जो सम्यग्दर्शन के विना चारित्र का भार ढोता है, उस चारित्र से अपने उच्चगोत्र का गर्व करता है और स्वकीय आचरण की स्तुति — प्रशंसा करता है वह मनुष्य निर्णय अथवा ज्ञान को प्राप्त नहीं होता ॥९१॥

[१२]

सङ्गेऽङ्गेऽङ्गेरतः शिवाङ्गच्युतो योऽङ्ग ! स सङ्गरतः ।

किं दूरः सङ्गरतस्त्वमतोऽकाद्विरम सङ्गरतः ॥

(हे) असङ्ग ! अङ्ग ! यः शिवाङ्गच्युतः, सङ्गे अङ्गे रतः सः किं सङ्गरतः दूरः ? अतः त्वं सङ्गरतः सङ्गरतः अकात् विरम।

सङ्ग इति- अङ्ग असङ्ग ! हे निर्ग्रन्थ ! यः शिवाङ्गच्युतः शिवस्य मोक्षस्याङ्गानि निमित्तानि सम्यग्दर्शनादीनि तेभ्यः च्युतः पतितः सन्, सङ्गे परिग्रहे अङ्गे शरीरे च रतो लीनः स किं सङ्गरतः आपदः दूरो दूरवर्ती अस्तीति शेषः । अतः त्वं सङ्गरतो विपत्तिरूपात्, सङ्गरतः सम्यग्गारलरूपात् अकात् अघात् पापात् विरम विरतो भव। 'सङ्गरस्तु प्रतिज्ञाजिक्रियाकारे विषापदोः' इति विश्वलोचनः ॥१३॥

अर्थ- हे निर्ग्रन्थ ! जो मोक्ष के निमित्तभूत सम्यग्दर्शनादि से च्युत हो परिग्रह और शरीर की संभाल में लीन है, वह संगर — आपत्ति से दूर है क्या ? अतः तू विपत्तिरूप एवं विषरूप पाप से विरत हो ॥१२॥

[१३]

सतः समयसारसतः सस्त्वलयोऽदूराः सहसा रसतः ।

परान्न दृक्साऽरसतः स्वतः सुधा स्रवति सारसतः ॥

सतः अलयः समयसारसतः अदूराः सन्तु, रसतः (च) सहसा (दूराः) (सन्तु)। सा दृक् परात् न (लभ्यते)। अरसतः स्वतः सारसतः (सा दृक्) सुधा स्रवति ।

सत इति- अलयो भ्रमरा गुणग्राहिणो जना इति यावत् सतः श्रेष्ठात् समयसारसतः समय आत्मैव सारसं कमलं तस्मात् अदूरा निकटस्था सन्तु भवन्तु। रसतः शरीराच्च सहसा दूराः सन्तु। सा प्रसिद्धा भव्यजनलभ्या दृक् सददृष्टिः परात् आत्मभिन्नाच्छरीरादेर्न लभ्यत इति शेषः। किन्तु अरसतः न विद्यते रसो रसनेन्द्रियविषयो यस्य स अरसस्तस्मात् रसरहितात् स्वतः स्वस्मात् तसिलन्तप्रयोगः। लभ्यते। यथा सुधा पीयूषं सारसतश्चन्द्रात् स्रवति तथा दृक् स्वतः स्रवति प्रकटीभवति। 'सारसं सरसीरुहं' इत्यमरः। 'सारसं पङ्कजे क्लीबं सारसः पक्षिचन्द्रयोः' इति विश्वलोचनः ॥१३॥

अर्थ- भ्रमर (गुणग्राहीजन) समीचीन, समय—आत्मारूपी सारस कमल से अदूर रहें — निकटस्थ रहें और रस — शरीर से दूर रहें। वह सम्यग्दर्शन पर से नहीं प्राप्त होता, रस — पौद्गलिक गुण से रहित स्वतः स्वकीय आत्मा से प्राप्त होता है। जैसे कि सुधा — अमृत सारस — चन्द्रमा से झरती है, अन्य पाषाणादि से नहीं ॥१३॥

[१४]

पुण्यमुदयागतमदश्चाकमितरद भयं भवाद् गतमदः ।
न गतोऽखिलं गतमद इति वेद्मि विदन्तर्गतमदः ॥

भवात् भयंगत ! अदः उदयागतं पुण्यम् अकं च मत् इतरत्, अखिलं गतः गतमदः अः मत् इतरं न - इति विदन्तर्गतमदः (अहं) वेद्मि ।

पुण्यमिति- भवात् संसारात् भयंगत ! भयप्राप्त ! अदस्तत् उदयागतं पुण्यं सुकृतं अकं च पापं च मत् ज्ञानस्वरूपान्मत्तः इतरद् भिन्नं पुण्यपापे आत्मस्वरूपे न स्त इति भावः। अखिलं गतः ज्ञानापेक्षया सर्वगतः सर्वज्ञ इति यावत्। गतमदो गर्वरहितः अः परमेश्वरः मत् अस्मत्तः इतरो भिन्नो न। स्वभावदृष्ट्या मयि परमात्मनि च भेदो नास्तीति यावत्। इतीत्थं विदन्तर्गतमदः विदो ज्ञानस्यान्तर्गतो मदो हर्षो गर्वो वा यस्य सः । ज्ञानाभिन्नानन्दयुक्तः अहं वेद्मि जानामि। 'मदो मृगमदे मद्ये दानमुद्गर्वरितसि' इति विश्वलोचनः ॥१४॥

अर्थ- हे संसार से भयभीत! श्रमण! उदय में आया हुआ वह पुण्य और पाप मुझसे भिन्न है। सर्वत्र व्यापक (सबको जानने वाला) एवं गतमद - गर्वरहित अ - परमेश्वर मुझसे भिन्न नहीं है। जिसका गर्व या हर्ष ज्ञान में विलीन हो गया है, ऐसा मैं जानता हूँ ॥१४॥

[१५]

यते सन्मतेऽमल ! य ऋषयस्तत्पदपद्मयुग्ममलयः ।
भजन्ति गतो यो मलयः समदृष्टिं कृतमदाऽमलयः ॥

यते ! सन्मते ! अमल ! कृतमदाऽमलयः यः मलयः समदृष्टिं गतः, तत् पदपद्मयुग्मं ये ऋषयः अलयः भजन्ति ।

यत इति- हे यते! हे सन्मते! सती मतिर्यस्य तत्सम्बुद्धौ, हे अमल! हे मलरहित! कृतमदामलयः मदो गर्व एव अमो रोगो मदामः कृतो विहितो मदामस्य लयो विनाशो येन तथाभूतः। मलयः मे शिवस्वरूपे आत्मनि लयो लीनता यस्य सः। एवंभूतो यः समदृष्टिं माध्यस्थ्यभावं गतः प्राप्तः । तत्पदपद्मयुग्मं तच्चरणारविन्दयुगलं ये ऋषयो मुनयोऽलयो भ्रमरास्ते भजन्ति सेवन्ते। तथोक्तगुणगणमण्डितस्य चरणसरसिज युगलं मुनयोऽलयोऽपि सेवन्त इति भावः ॥१५॥

अर्थ- हे यते! हे सन्मते! हे अमल! जिसने मद-गर्वरूपी रोग का नाश कर दिया है, जो शिवरूप आत्मा में लीन है एवं समदृष्टि को प्राप्त है, उसके चरणकमलयुगल को ऋषिरूपी भ्रमर भजते हैं-नमन करते हैं ॥१५॥

[१६]

चाप्ता ह्य सावसुरताऽसति तपसि रतैस्तपस्विभिः सुरता ।

संस्तुत - नृसुरासुराताः श्रियस्तु न स्वजा भासुरताः ॥

हि असौ असुरता सुरता च असति तपसि रतैः तपस्विभिः आप्ता । (हे) संस्तुतनृसुरासुर ! ताः स्वजाः भासुरताः श्रियः तु न (प्राप्ता) ।

चाप्ता इति- हि निश्चयेन, असौ एषा, असुरता असुराणां भावोऽसुरता भवनत्रिकदेवपरिणतिः, सुरता सुराणां भावः सुरता वैमानिकदेवपरिणतिः, असति तपसि कुतपसि रतैर्लीनः तपस्विभिः तपोधनैः आप्ता लब्धा । हे संस्तुत-नृसुरासुर/नरश्च सुराश्च असुराश्चेति नृसुरासुरास्तैः संस्तुतस्तत्सम्बुद्धौ । ताः प्रसिद्धा दुर्लभतमा इति यावत् । स्वजाः स्वस्मिन् जायन्ते इति स्वजाः आत्मोत्पन्नाः । भासुरताः भायां दीप्तौ सुरताः सुलीनाः श्रियस्तु केवलज्ञानादिलक्ष्म्यस्तु न आप्ताः इति योजनीयम् ॥१६॥

अर्थ- निश्चय से यह असुरों और सुरों की पर्याय कुतप में लीन तपस्वियों के द्वारा प्राप्त की गई है, परन्तु हे नर और देवदानवों से संस्तुत भगवन् ! वे आत्मोत्पन्न एवं देदीप्यमान केवलज्ञानादि लक्ष्मियाँ उनके द्वारा प्राप्त नहीं की गईं ॥१६॥

[१७]

किं जितानङ्ग ! ते न ! मते मतं मतं वितानं गतेन ।

श्रीरिता नं गतेन नेति कमभजताऽनङ्ग ! तेन ॥

जितानङ्ग ! अनङ्ग ! न ! नं गतेन तेन कम् अभजता श्रीः न इता मतं वितानं गते ते मते किम् इति न मतम् ?

किमिति- हे जितानङ्ग ! हे जितकाम ! हे अनङ्ग ! हे अशरीर ! हे न ! हे जिन ! नं जिनं गतेन प्राप्तेन तेन कं आत्मानं अभजता अनाराधया श्रीः ज्ञानादिलक्ष्मीः न इता न प्राप्ता । जिनं भजमानोऽपि य आत्मानं न ध्यायति, स केवलज्ञानलक्ष्मीं न लभत इति भावः । मतं समादृतं वितानं विस्तारं गतेते मते धर्मे किं इति न मतं न स्वीकृतं ? अपि तु स्वीकृतमेव ॥१७॥

अर्थ- हे मदनविजयी ! हे अशरीर ! (शरीर सम्बन्धी राग से रहित) हे जिन ! जिनदेव को प्राप्त होकर भी जो आत्मा की आराधना नहीं करता है—आत्मा के ज्ञायक स्वभाव की ओर दृष्टि नहीं देता है उसे केवलज्ञानरूप लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती । इस प्रकार समादृत विस्तार को प्राप्त हुए आपके मत में क्या नहीं माना गया है ? ॥१७॥

[९८]

मोहतमःसमुदायवृतमानस ! के कुरु वास मुदायः।

यदिति भवेत् स मुदा यः प्राह च परो यतिसमुदायः॥

मोहतम- समुदायवृतमानस ! के वासं कुरु । यत् उदायः भवेत् इतिः यः परः च सः यतिसमुदायः मुदा प्राह ।

मोहेति- हे मोहतमःसमुदायवृतमानस! मोहा एवं तमांसि तिमिराणि तेषां समुदायेन समूहेनावृतं परिरुद्धं मानसं मनो यस्य तत्सम्बुद्धौ। के आत्मनि प्रकाशे वा वासमवस्थानं कुरु । यत् यस्मात् कारणात् । उदाय ऊर्ध्वगमनं मोक्षं प्रतिगमनं भवेत् । इत्येवं यः परः श्रेष्ठ स यतिसमुदायः मुनिसमूहः मुदा हर्षेण प्राह प्रजगाद ॥९८॥

अर्थ- मोहरूपी अन्धकार के समूह से जिसका मन घिरा है, ऐसे हे श्रमण! तू आत्मारूपी प्रकाश में निवास कर जिससे तेरा ऊर्ध्वगमन-मोक्षप्राप्ति के लिये प्रयत्न हो सके' ऐसा जो श्रेष्ठ मुनिसमूह है, उसने हर्ष से कहा है ॥९८॥

[९९]

न मनोऽन्यत् सदा नय दृशा सह तत्त्वसप्तकं सदानय ।

यदि न त्रासदाऽनयः पन्थास्ते स्वरसदा न यः ॥

मनः संदा अन्यत् न नय। सत् तत्त्वसप्तकं दृशा सह आनय। यदि (एवं) न, (तर्हि) ते यः पन्थाः (सः) त्रासदा, अनयः स्वरसदा (अपि) न ।

नेति- हे श्रमण! मनः स्वचेतः सदा सर्वदा अन्यत् अन्यस्थानं न नय नो प्रापय। सत् समीचीनं तत्त्वसप्तकं जीवादिसप्ततत्त्वसमूहं दृशा सम्यग्दर्शनेन सह आनय आनीतं कुरु। यदि न, एवं न चेत्? तर्हि ते यः पन्थाः विषयसरणिः स त्रासदा त्रसं दुःखं ददातीति तथा दुःखप्रदः । अनयो नास्ति अयः शुभावहविधिर्यस्मिन् तथाभूतः स्यात्। स्वरसदा स्वस्य रसमनुभवं ददातीति तथा स्वानुभवप्रदः। न भवेदिति शेषः ॥९९॥

अर्थ- हे श्रमण! मन सदा अन्यत्र न ले जा, सम्यग्दर्शन के साथ श्रेष्ठ साततत्त्वों में ला। यदि ऐसा नहीं करता है तो तेरा मार्ग दुःखदायक तथा कल्याणकारक विधि से रहित होगा एवं आत्मानुभव को देने वाला नहीं होगा ॥९९॥

[१००]

अतिलघौ लघुधियि मयि त्यक्तकरणविषयेऽये समतामयि !

कुरु कृपां करुणामयि! विशुद्धचेतने! सुधामयि ! ॥

अये! सुधामयि! करुणामयि! समतामयि! विशुद्धचेतने! लघुधियि त्यक्तकरणविषये अतिलघौ मयि कृपां कुरुं।

अतीति- अये! समतामयि! हे करुणामयि! हे सुधामयि! हे विशुद्धचेतने!
 सर्वसम्बुद्धीनां स्पष्टोऽर्थः। अतिलघौ अंतिशयेन लघुस्तस्मिन्, त्यक्तकरणविषये त्यक्ताः
 करणानामिन्द्रियाणां विषयाः स्पर्शादयो येन तस्मिन्, लघुधियि लघ्वी धीर्यस्य तस्मिन्
 अल्पबुद्धौ मयि कृपामनुकम्पां कुरु ॥१००॥

अर्थ- हे समतामयि! हे करुणामयि! हे सुधामयि! हे विशुद्धचेतने! मुझ
 अल्पबुद्धि संयमी पर दया करो। मुझे विशुद्ध चेतनामय बनाओ ॥१००॥

[१०१]

वै विषमयीमविद्यां विहाय 'ज्ञानसागरजां' विद्याम् ।
 सुधामेम्यात्मविद्यां नेच्छामि सुकृतजां भुवि द्याम् ।

आत्मवित् (अहम्) वै विषमयीम् अविद्यां विहाय ज्ञानसागरजां सुधां विद्याम् एमि। सुकृतजां यां द्यां
 भुवि न इच्छामि ।

वै इति- आत्मविद् आत्मानं वेत्ति जानातीति आत्मविद् आत्मज्ञोऽहं वै निश्चयेन
 विषमयीं गरलमयीं दुःखप्रदत्वात् अविद्यां विहाय त्यक्त्वा, 'ज्ञानसागरजां'
 ज्ञानमेवसागरस्तस्मिन् जातां ज्ञानपयोधिसमुत्पन्नां पक्षे 'ज्ञानसागर' इति स्वगुरोर्नाम
 तस्माज्जातां प्राप्तां सुधां पीयूषरूपां आत्मविद्यां एमि प्राप्नोमि। सुकृतजां पुण्योद्भूतां यां
 द्यां स्वर्गं भुवि नेच्छामि न कामये ॥१०१॥

अर्थ- मैं आत्मज्ञ, निश्चय से विषमयी अविद्या को छोड़कर ज्ञानरूप सागर में
 उत्पन्न (गुरु ज्ञानसागरजी से प्राप्त) आत्मविद्या को प्राप्त होता हूँ। पुण्य से प्राप्त होने
 वाला जो द्यौ - स्वर्ग है, उसे नहीं चाहता हूँ ॥१०१॥

विभावतः सुदूराणां, सन्ततिर्जयतात् तराम् ।

द्यामेत्य पुनरागत्य, स्वानुभूतेः शिवं व्रजेत् ॥१॥

अर्थ- विभावभावों से अत्यन्त दूर रहने वाले साधुओं की वह सन्तति-परम्परा
 जयवन्त रहे; जो स्वर्ग जाकर तथा वहाँ से आकर स्वानुभूति से मोक्ष प्राप्त कर
 सके ॥१॥

साधुता सा पदं ह्येतु, भूपतौ च जने-जने ।

गुवि सर्वत्र शान्तिः स्यात्, मदीया भावना सदा ॥२॥

अर्थ- वह साधुता-सज्जनता राजाओं तथा प्रत्येक मनुष्य में स्थान को प्राप्त
 हो, जिससे पृथिवी में सर्वत्र शान्ति रहे, यह मेरी भावना है ॥२॥

रेपवृत्तिं परित्यज्य, ना नवनीत मारदवम् ।

णलाभाय भजेद् भव्यो, भक्त्या साकं भृशं सदा ॥३॥

अर्थ— क्रूरवृत्ति को छोड़कर भव्य मनुष्य ज्ञानलाभ के लिये भक्ति के साथ सदा मक्खन जैसी मृदुता को अत्यधिक प्राप्त करें ॥३॥

विद्याब्धिना सुशिष्येण, ज्ञानोदधेरलङ्कृतम् ।

रसेनाध्यात्मपूर्णं, शतकं शिवदं शिवदं शुभम् ॥४॥

अर्थ— ज्ञानसागर जी के शिष्य विद्यासागर ने अध्यात्मपूर्ण रस से अलङ्कृत इस कल्याणदायक शुभ 'श्रमणशतक' की रचना की है ॥४॥

चित्ताकर्षि तथापि जैः, पठनीयं विशोध्य तैः ।

तं मन्ये पण्डितं योऽत्र, गुणान्वेषी भवेद् भवे ॥५॥

अर्थ— यद्यपि शतक चित्ताकर्षक है तथापि ज्ञानी जनों को शुद्धकर पढ़ना चाहिये। इस जगत् में मैं उसे पण्डित मानता हूँ, जो गुणान्वेषी हो— गुणों की खोज करने वाला हो ॥५॥

क-गुप्ति-खोपयोगेऽदः, संवत्सरे च विक्रमे ।

वैशाखपूर्णिमामीत्वेतीमामितिमिति गतम् ॥६॥

अर्थ— यह शतक विक्रम संवत् २०३१ में वैशाखपूर्णिमा को प्राप्त हुआ ॥

यह शतक क = आत्मा 1 गुप्ति = 3 ख = आकाश 0. उपयोग = ज्ञान-दर्शनापयोग 2. इयं तद्विक्रम संवत् 2031 में वैशाख पूर्णिमा तिथि को, पूर्ण हुआ।

योगी करें स्तवन भाव-भरे स्वरों से,
 जो हैं सुसंस्तुत नरों, असुरों, सुरों से ।
 वे वर्धमान गतमान मुझे बचावें,
 काटें कुकर्म मम मोक्ष विभो ! दिलावें ॥१॥

जो चन्द्रगुप्त मुनि के गुरु हैं, बली हैं,
 वे भद्रबाहु समधी श्रुत-केवली हैं ।
 वंदूं उन्हें द्रुत भवोदधि पार जाऊं ।
 संसार में फिर कदापि न लौट आऊं ॥२॥

हे 'कुन्दकुन्द' मुनि ! भव्य-सरोज-बन्धु,
 मैं बार-बार तव पाद-सरोज वंदूं ।
 सम्यक्त्व के सदन हो, समता सुधाम ।
 है धर्म-चक्र शुभ धार लिया ललाम ॥३॥

जो 'ज्ञानसागर' सुधी गुरु हैं हितैषी,
 शुद्धात्म में निरत, नित्य हितोपदेशी ।
 वे पाप-ग्रीष्म ऋतु में जल हैं सयाने,
 पूजूं उन्हें सतत केवल-ज्ञान पाने ॥४॥

हे शारदे! अब कृपा कर दे जरा तो,
 तेरा उपासक खरा, भव से डरा जो !
 माता ! विलम्ब करना मत, मैं पुजारी,
 आशीष दो, बन सकूं, बस निर्विकारी ॥५॥

रे ! साधु का निहित है हित साधुता में,
 धारूं उसे तज असार असाधुता में ।
 भाई! अतः श्रमण के हित मैं लिखूंगा,
 शुद्धात्म को सहज से फलतः लखूंगा ॥६॥

विद्वान मान मन में मुनि जो न धारें,
 वे 'वीर' के वचन से मन को सुधारें ।
 जाके रहे विपिन में मन मोद पाते,
 हैं स्नान आत्म-सर में करते सुहाते ॥७॥

जो कर्म को यति यदा करता नहीं है,
 आत्मा उसे वह तदा दिखता सही है ।
 ऐसा सदैव कहती जिन देव वाणी,
 होते सुखी सुन जिसे, सब भव्य प्राणी ॥८॥

तू छोड़ के विषमयी उस वासना को,
 निश्चिन्त हो, कर निजीय उपासना को ।
 निर्भ्रान्त ही शिवरमा तुझको बरेगी,
 योगी कहे, परम प्रेम सदा करेगी ॥९॥

हैं पुण्य-पाप पर, पुद्गल रूप जानूं,
 सम्यक्त्व भाव इनसे किस भांति मानूं ।
 ना नीर के मथन से, नवनीत पाना,
 अक्षुण्ण कार्य करके थक मात्र जाना ॥१०॥

नाना प्रकार तप से तन को तपाया,
 है छोड़ वस्त्र जिनने अघ को हटाया ।
 पाया निजानुभव को निज को दिपाया,
 मैने उन्हें विनय से उर बीच पाया ॥११॥

कम्पायमन मन को जिसने न रोका,
 आत्मा उसे न दिखता जड़ से अनोखा ।
 आकाश में अरुण शोभित हो रहा है,
 क्या अन्ध को नयनगोचर हो रहा है ? ॥१२॥

जो जीतता सब क्षुधादि परीषहों को,
 संहार रागमय-भाव स्ववैरियों को ।
 है वीतराग बनता वह शीघ्रता से,
 शुद्धात्म को निरखता, बचता व्यथा से ॥१३॥

है बन्ध दिव्य निज आत्म द्रव्य न्यारा,
 जो शुद्ध निश्चय नयाश्रित मात्र प्यारा ।
 योगी गृही सम उसे न कभी निहारें,
 जो त्याग के पुनि परिग्रह-भार धारें ॥१४॥

सद्बोध रूप सर शोभित है विशाल,
ना हैं जहां वह विकल्प तरंग-जाल ।
शोभे तथा परम धर्म पयोज प्यारे,
तू छोड़ के मनमराल ! उसे न जा रे! ॥१५॥

जीतीं जिनेश ! जिसने निज इन्द्रियां हैं,
माना गया यति बही, जग में यहां है ।
श्रद्धा - समेत उसको सिर मैं नमाता,
शुद्धात्म को निरख, शीघ्र बनूँ प्रमाता ॥१६॥

सद्बोध से परम शोभित जो यहां है,
पीयूष पी स्वपद में रमता रहा है ।
क्या संयमी विषय-पान कदापि चाहे ?
जो जीव को विष समान सदैव दाहे ॥१७॥

विज्ञान से स्वपद को जिसने पिछाना,
त्यागा सभी तरह से पर को सुजाना ।
वो दुःखरूप उस आस्रव को नशाता,
स्वामी ! सही सुखद संवर तत्त्व पाता ॥१८॥

मायादि शल्य-त्रय को मुनि नित्य त्यागें,
ज्ञानादि रत्नत्रय धार सदैव जागें ।
वे शुद्धतत्त्व फलतः पल में लखेंगे,
संसार में परम सार, उसे गहेगें ॥१९॥

आदेय-हेय जिनने सहसा पिछाने,
लाये स्वचिन्तनतया मन को ठिकाने ।
ज्ञानी वशी परम धीर मुमुक्षु ऐसे,
स्वामी ! रखें कुपथ में निजपाद कैसे ? ॥२०॥

संसार से बहुत यद्यपि जो डरा है,
जाना जिनागम सभी जिसने खरा है ।
आत्मा उसे न दिखता, यदि है प्रमादी,
ऐसा सदैव कहते गुरु सत्यवादी ॥२१॥

है ज्ञान जो सघन पावन पूर्ण प्यारा,
सद्ज्ञान रूप जल की झरती सुधारा ।
शोभामयी अनुलनीय सुखैक डेरा,
नीचे उसे निरख मानस-मोर मेरा ॥२२॥

होते घनिष्ठ जिसके दृग-बोध साथी,
होता वही चरित आतम का सुखार्थी ।
देता निजीय सुख, तीरथ भी कहाता,
तू धार मित्र ! उसको दुःख क्यों उठाता ? ॥२३॥

पीता निजानुभव पावन पेय प्याला,
डाले गले शिवरमा उसके सुमाला ।
जो लोक में अनुपमा शुचि-धारिणी है,
ऐसा जिनेश कहते, सुख-कारिणी है ॥२४॥

रागादि भाव जिसमें न, वही समाधि,
पाके उसे मुदित हो मुनि अप्रमादी ।
होती नदी अमित सागर पा यथा है,
किं वा दरिद्र खुश हो निधि पा अथाह ॥२५॥

है देह-नेह भव-कारण तो उसी से,
मोक्षेच्छु मैं, बहुत दूर रहूं, खुशी से ।
मैं हो विलीन निज में, निज को भजूंगा,
स्वामी ! अनन्त सुख पा, भव को तजूंगा ॥२६॥

जो भी निजानुभव को जब प्राप्त होते,
वे रागद्वेष लव को न कदापि ढोते ।
तो कौन सा फिर पदार्थ रहा ईव शेष ?
प्राप्तव्य जो कि उनको न रहा विशेष ॥२७॥

रागादि भाव पर हैं, पर से न नाता,
ज्ञानी-मुनीश रखता पर में न जाता ।
धिक्कार मूढ़ पर को करता, कराता,
ना तत्त्व-बोध रखता, अति दुःख पाता ॥२८॥

सम्बन्ध होत विधि से विधि का सदा है,
बोधैकधाम 'जिन' ने जग को कहा है ।
ऐसा रहस्य फिर भी मुनि ने गहा है,
जो आत्मभाव करता साहस रहा है ॥२९॥

आत्मानुभूति बर चेतन-मूर्ति प्यारी,
साक्षात् यदा उपजती शिवसौख्यकारी ।
मांगे तथापि मुनि क्या जग-सम्पदा को ?
देती सदा जनम जो बहु आपदा को ॥३०॥

संपू भोग मिलने पर भी कदापि,
भोगी नहीं मुनि बने, बनते न पापी ।
पीते तभी सतत हैं समता सुधा को,
गाली मिले, न फिर भी करते क्रुधा को ॥३१॥

मिथ्यात्व को हृदय में, मत स्थान देना,
है दुष्ट व्याल वह, क्यों दुःख मोल लेना ।
छोड़ो उसे, निकट भी उसके न जाओ,
तो शीघ्र ही अतुल संपत्ति-धाम पाओ ॥३२॥

जैसे कहे जलज जो जल से निराला,
वैसे बना रह सदा जड़ से खुशाला ।
क्यों तू प्रमत्त बनता, बन भोग त्यागी,
रागी नहीं बन कभी, बन वीतरागी ॥३३॥

हूँ देह से पृथक चेतन शक्ति वाला,
स्वामी ! सदैव मुझसे तन भी निराला ।
यों जान, मान तन का मद छोड़ता हूँ,
मैं मात्र मोक्ष—पथ से मन जोड़ता हूँ ॥३४॥

हो काम नष्ट, अघ भी मिटता यदा है,
योगी विहार करता निज में तदा है ।
आकाश में विहग क्या फिर भी उड़ेगा ?
जो जाल में फंस गया, फिर क्या करेगा ? ॥३५॥

सौभाग्य से श्रमण जो कि बना हुआ है,
सच्चा जिसे प्रशमभाव मिला हुआ है ।
छोड़े नहीं वह कभी उस निर्जरा को,
जो नाशती जनम-मृत्यु तथा जरा को ॥३६॥

संसार में धन न सार, असार सारा,
स्थायी नहीं, न उनसे सुख हो अपारा ।
है सार तो समय-सार अपार प्यारा,
हो प्राप्त शीघ्र जिससे वह मुक्तिदारा ॥३७॥

निस्संग हो विचरते गिरि-गह्वरों में,
वे साधु ज्यों पवन हैं वन कन्दरों में ।
कामाग्नि को स्वरस पी झट से बुझा के,
विश्राम पूर्ण करते निज-धाम जाके ॥३८॥

शोभे सरोज-दल से सर ठीक जैसा,
सद्ध्यान रूप जल से मुनि-मीन वैसा ।
हो कंज में मृदुपना, न असंयमी में,
'ना शब्द व्योम गुण है' -कहते यमी हैं ॥३९॥

ये आर्तरीद्र मुझको रुचते नहीं हैं,
संसार के प्रमुख कारण पाप वे हैं ।
श्री रामचन्द्र फिर भी मृग-भ्रान्ति भूले ?
जो देख काञ्चन-मृगी इस भ्रान्ति फूले ॥४०॥

योगी निजानुभव से पर को भुलाता,
है वीतरागपन को फलरूप पाता ।
वो क्या कभी मरण से मुनि हो डरेगा ?
शुद्धोपयोग धन को फिर क्या तजेगा ? ॥४१॥

जो भानु है, ङ्ग-सरोज विकासता है,
योगी सुदूर रहता उससे यदा है ।
वो तो तदा नियम से पर भावनायें,
हा ! हा ! करे, सहत है फिर यातनायें ॥४२॥

ये पञ्च पाप इनको बस शीघ्र छोड़ो,
धारो महाव्रत सभी मन को मरोड़ो ।
औ ! राग का तुम समादर ना करो रे !
देवाधिदेव 'जिन' को उर में धरो रे ! ॥४३॥

रे ! 'वीर' ने जड़मयी तज के क्षमा को,
है धार ली तदुपरान्त महा क्षमा को ।
जो चाहते जगत में बनना सुखी हैं,
धारें इसे, परम मुक्ति-वधू-सखी है ॥४४॥

आस्था घनिष्ठ निज में जिनकी रही है,
विज्ञान से चपलता मन की रुकी है ।
होता चरित्र उनका वर मोक्ष-दाता,
ऐसा रहस्य यह छन्द हमें बताता ॥४५॥

आत्मा जिसे न रुचता वह तो मुधा है,
मिथ्यात्व से रम रहा पर में वृथा है ।
ज्ञानी निजीय घर में रहते सदा ये,
वन्दूं, उन्हें, द्रुत मिले निज संपदायें ॥४६॥

कैसे रहे अनल दाहकता बिना वो,
तो अग्नि से पृथक दाहकता कहां हो ?
आकाश के बिन कहीं रह तो सकेगा,
पै ज्ञान आत्म बिना न कहीं रहेगा ॥४७॥

जो मात्र शुद्धनय से न हि शोभता है,
पै वीतरागमय भाव सुधारता है ।
लक्ष्मी उसे वरण है करती खुशी से,
सागार को निरखती तक ना इसी से ॥४८॥

“ हैं पूर्व में मुनि सभी बनते अमानी,
पश्चात जिनेश बनते”, यह 'वीर' वाणी ।
तू भी अभी इसलिये तज मान को रे,
शुद्धात्म को निरख, ले सुख की हिलोरें ॥४९॥

संसार सागर किनार निहारना है,
तो मार मार, दृग को द्रुत धारना है ।
औ ! जातरूप 'जिन' को नित पूजना है,
भाई ! तुझे परम आत्म जानना है ॥५०॥

सल्लीन हों स्वपद में सब सन्त साधु,
शुद्धात्म के सुरस के बन जाये स्वादु ।
वे अन्त में सुख अनन्त नितान्त पावें,
सानन्द जीवन शिवालय में बितावें ॥५१॥

' ये रोष-रागमय भाव विकार सारे,
मेरे स्वभाव नहीं हैं ' --- बुध यों विचारें ।
ये पाप पुण्य, इनमें फिर मौन धारे,
औ देह-स्नेह तजके निज को निहारे ॥५२॥

संसार के जलधि से कब तैरना हो,
ऐसी त्वदीय यदि हार्दिक भावना हो ।
आस्वाद ले जिनप-पाद-पयोज का तू,
ना नाम ले अब कभी उस 'काम' का तू ॥५३॥

संसार-बीच बहिरात्म वो कहाता,
झूठा पदार्थ गहता, भव को बढ़ाता ।
बेकार मान करता निज को भुलाता,
लक्ष्मी उसे न वरती, अति कष्ट पाता ॥५४॥

जो पाप से रहित चेतन मूर्ति प्यारी,
हो प्राप्त शीघ्र उनको भव-दुःखहारी ।
जो भी महाश्रमण हैं निज गीत गाते,
सच्चे क्षमादि दश धर्म स्वचित्त लाते ॥५५॥

सम्यक्त्व-लाभ वह है किस काम आता,
है कर्म का उदय ही यदि पाप लाता ।
तो हाय ! मुक्ति-ललना किसको वरेगी ?
वो सम्पदा अतुलनीय किसे मिलेगी ॥५६॥

लेवें निजीय विधि का मुनि वे सहारा,
संसार मूल जड़ वैभव को बिसारा ।
ना चाहते विबुध वे यश सम्पदा को,
हां, चाहते जड़ उसे, सहते व्यथा को ॥५७॥

संसार में सुख नहीं, दुःख का न पार,
ले आत्म में रुचि भला, सुख हो अपार ।
सिद्धान्त का मनन या कर चाव से तू,
क्यों लोक में भटकता पर भाव से तू ? ॥५८॥

जो भी रहे समय में रत, मौन धारे,
पाते अलौकिक सही सुख शीघ्र सारे ।
वो विज्ञ ना समय का, वह कष्ट पाता,
पीड़ार्त हो, समय है जब बीत जाता ॥५९॥

आत्मा अनन्त-गुण-धाम, सदैव जानो,
सम्यक्त्व प्राप्त करके निज को पिछानो ।
जाओ वहां, इधर या तुम शीघ्र आओ,
आदेश ईदृश नहीं पर को सुनाओ ॥६०॥

भोगे हुए विषय को मन में न लाता ।
औ प्राप्त को पकड़ना न जिसे सुहाता ।
कांक्षा नहीं उस अनागत की करेगा,
वो सत्य पाकर कभी अहि से डरेगा ? ॥६१॥

हे वीर देव ! तुमको नमते मुमुक्षु,
पीते तभी स्वरस को सब सन्त भिक्षु ।
क्यों बीच में मनुज तेज कचौड़ि खाते ?
पश्चात् अवश्य फलतः हलुवा उड़ाते ॥६२॥

चारित्र का नित समादर जो करेंगे,
वे ही जिनेन्द्र-पद की स्तुति को करेंगे ।
ऐसा सदैव कहती प्रभु भारती है,
नौका-समान भव पार उतारती है ॥६३॥

आहार जो न करते समयानुसार,
औंधारते न रतनत्रय-रूप हार ।
रागाग्नि से सतत वे जलते रहेंगे,
संसार वारिधि महा फिर क्यों तिरेंगे ? ॥६४॥

देखो सखे ! अमर लोग सुखी न सारे,
वे भी दुःखी सतत, खेचर जो बिचारे ।
दुःखार्त ही दिख रहे नर मेदिनी में,
शुद्धात्म में रम अतः, मन रागिनी में ॥६५॥

कामाग्नि से परम तप्त हुआ सदा से,
तू आत्म को कर सुतृप्त स्व की सुधा से ।
कोई प्रयोजन नहीं जड़ सम्पदा से,
पा बोध, हो नर ! सुखी अति शीघ्रता से ॥६६॥

सम्बन्ध द्रव्य श्रुत से नहीं मात्र रक्खो,
रक्खो स्वभाव श्रुत से, निज स्वाद चक्खो ।
है मेदिनी तप गई रवि ताप से जो,
क्यों शांत हो जल बिना, जल नाम से वो ॥६७॥

“ पर्याय वो जनमती मिटती रही है ।
त्रैकालिकी यह पदार्थ, यही सही है । ”
श्री वीर देव जिन की यह मान्यता है,
पूजूं उसे विनय से यह साधुता है ॥६८॥

संमोह राग मद है यदि भासमान,
या विद्यमान मुनि के मन मेंऽभिमान ।
आनन्द हो न उस जीवन में कदापि,
हा ! हा ! वही नरक कुण्ड बना ऽतिपापी ॥६९॥

श्रद्धाभिभूत जिसने मुनि लिंग धारा,
कंदर्प को सहज से फिर मार डारा ।
अत्यन्त शान्त निजको उसने निहारा,
औ अन्त में बल ज्वलन्त अनन्त धारा ॥७०॥

“रे ! पाप ही अहित है, रिपु है तुम्हारा,
काला कराल अहि है, दुःख दे अपारा ।
हो दूर शीघ्र उससे, तब शान्ति धारा, ”
ऐसा कहें जिनप जो जग का सहारा ॥७१॥

ले रम्य दृश्य ऋतुराज वसन्त आता,
ज्यों देख कोकिल उसे मन मोद पाता ।
हे वीर ! त्यों तव सुशिष्य खुशी मनाता,
शुद्धात्म को निरख औ' दुःख भूल जाता ॥७२॥

होता कुधी, वह सुखी दिवि में नहीं है,
तू आत्म में रह, अतः सुख तो वही है ।
क्या नाक से, नरक से ? इक सार भाया,
सम्यक्त्व के बिन सदा ! दुःख ही उठाय ॥७३॥

ज्योत्स्ना लिये, तपन यद्यपि है प्रतापी,
छा जाय बादल, तिरोहित हो तथापि ।
आत्मा अनन्त द्युति लेकर जी रहा है,
हो कर्म से अवश, कुन्दित हो रहा है ॥७४॥

कैसे मिले ? नहीं मिले सुख मांगने से,
कैसे उगे अरुण पश्चिम की दिशा से ?
तो भी सुदूर वह मूढ़ निजी दशा से,
होता अशान्त अति पीड़ित ही तृषा से ॥७५॥

लिप्सा कभी विषय की मन में न लाओ,
चारित्र धारण करो, पर में न जाओ ।
चिन्ता कदापि न अनागत की करोगे,
विश्राम स्वीय घर में चिरकाल लोगे ॥७६॥

संसार सागर असार अपार खारा,
है दुःख ही, सुख जहां न मिले लगारा ।
तो आत्म में रत रहो, सुख चाहते जो,
है सौख्य तो सहज में, नहीं जानते हो ॥७७॥

‘कैवल्य-साधन न केवल नग्न-भेष,’
त्रैलोक्य बन्ध इस भांति कहें जिनेश ।
इत्थम् न हो, पशु दिगम्बर क्या न होते ?
होते सुखी ? दुखित क्यों दिन रात रोते ? ॥७८॥

‘संसार की सतत वृद्धि विभाव से है,
तो मोक्ष सम्भव स्वतन्त्र स्वभाव से है ।
हो जा अतः अभय, हो विभु में विलीन,’
हैं केवली-वचन ये — ‘बन जा प्रवीण’ ॥७९॥

सम्यक्त्व नीलम गया जिसमें जड़ाया,
चारित्र का मुकुट ना सिर पै चढ़ाया ।
तू ने तभी परम आत्म को न पाया,
पाया अनन्त दुःख ही, सुख को न पाया ॥८०॥

जो काय से वचन से मन से सुचारे,
पा बोध, राग मल धोकर शीघ्र डारे ।
ध्याता निरन्तर निरंजन जैन को है,
पाता वही नियम से सुख चैन को है ॥८१॥

दुस्संग से प्रथम जीवन शीघ्र मोड़ो,
तो संग को समझ पाप तथैव छोड़ो ।
विश्वास भी कुपथ में न कदापि लाओ,
शुद्धात्म को विनय से तुम शीघ्र पाओ ॥८२॥

पत्ता पका गिर गया तरु से यथा है,
योगी निरीह तन से रहता तथा है ।
औ ब्रह्म को हृदय में उसने बिठाया,
तू क्यों उसे विनय से स्मृति में न लाया! ॥८३॥

वाणी, शरीर, मन को जिसने सुधारा,
सानन्द सेवन करे समता-सुधारा ।
धर्माभिभूत मुनि है वहं भव्य जीव,
शुद्धात्म में निरत है रहता सदैव ॥८४॥

जो साधु जीत इन इन्द्रिय-हाथियों को,
आत्मार्थ जा, वन बसें, तज ग्रन्थियों को ।
पूजूं उन्हें सतत वे मुझको जिलावें,
पानी सदा दृगमयी कृषि को पिलावें ॥८५॥

मैं उत्तमाङ्ग उसके पद में नमाता,
जो है क्षमा—मणि से रमता-रमाता ।
देती क्षमा अमित उत्तम सम्पदा को,
भाई ! अतः तज सभी जड़-संपदा को ॥८६॥

ना बन्ध है, न नय निश्चय मोक्ष-दाता,
ना है शुभाशुभ, नहीं दुःख को मिटाता ।
मैं तो नमूं इसलिए मम ब्रह्म को ही,
सद्यः टले दुःख, मिले सुख और बोधि ॥८७॥

सत् चेतना हृदय में जब देख पाता,
आत्मा मदीय भगवान समान भाता ।
तू भी उसे भज जरा, तज चाह-दाह,
क्यों व्यर्थ ही नित व्यथा सहता अथाह ॥८८॥

‘‘ गम्भीर-धीर यति जो मद ना धरेंगे,
औ भाव-पूर्ण स्तुतिभी निज की करेंगे ।
वे शीघ्र मुक्ति ललना वर के रहेंगे, ’’
ऐसा जिनेश कहते - ‘सुख को गहेंगे ॥८९॥

आत्मावलोकन कदापि न नेत्र से हो,
पूरा भरा परम पावन बोधि से जो ।
आदर्श-रूप अरहन्त हमें बताते,
कोई कभी दृग बिना सुख को न पाते ॥९०॥

जो ‘वीर’ के चरण में नमता रहा है,
चारित्र का वहन भी करता रहा है ।
औ गोत्र का, दृग बिना, मद ढो रहा है ।
विज्ञान को न गहता, जड़ सो रहा है ॥९१॥

धिक्कार ! मोक्ष-पथ से च्युत हो रहा है,
तू अंग-संग ममता रखता अहा है ।
भाई ! अतः सह रहा नित दुःख को ही,
ले ले विराम अघ से, तज मोह मोही ! ॥९२॥

जो सन्त हैं, समयसार-सरोज का वे,
आस्वाद ले भ्रमर -से पर में न जावें ।
सम्यक्त्व हो न पर से, निज आत्म से ही,
भाई! सुधा रस झरे शशि बिम्ब से ही ॥९३॥

आया हुआ उदय में यह पुण्य पिण्ड,
औ पाप, भिन्न मुझको जड़ का करण्ड ।
ब्रह्मा न किन्तु पर है, वर बोध भानु,
मैं सर्व गर्व तज के इस भांति जानूँ ॥९४॥

साधु सुधार समता, ममता निवार,
जो है सदैव शिव में करता विहार ।
तों अन्य साधु तक भी उसके पदों में,
होते सुलीन अलि-से, फिर क्या पदों में ? ॥९५॥

प्रायः सभी कुतप से सुर भी हुए हैं,
लाखों दफा असुर हो, मर भी चुके हैं ।
दैदीप्यमान नहीं 'केवलज्ञान' पाया,
हे वीर देव ! हमने दुःख ही उठाया ॥९६॥

“सानन्द यद्यपि सदा जिन नाम लेते,
योगी तथापि न निजात्म देख लेते ।
तो वे उन्हें शिवरमा मिलती नहीं है, ”
तेरा जिनेश ! मत ईदृश क्या नहीं है! ॥९७॥

अत्यन्त मोह-तम में कुछ ना दिखेगा,
तू आत्म में रह, प्रकाश वहां मिलेगा ।
स्वादिष्ट मोक्ष-फल वो फलतः फलेगा,
उद्दीप्त दीपक सदैव अहो ! जलेगा ॥९८॥

तू चाहता विषय में मन ना भुलाना,
तो सात तत्त्व-अनुचिन्तन में लगा ना !
ऐसा न हो, कुपथ से सुख क्यों मिलेगा ?
आत्मानुभूति झरना फिर क्यों झरेगा ? ॥९९॥

हूं बाल, मन्द-मति हूं, लघु हूं, यमी हूं,
मैं राग की कर रहा क्रम से कमी हूं ।
हे चेतने ! सुखद-शान्ति-सुधा पिला दे,
माता ! मुझे कर कृपा मुझमें मिला दे ॥१००॥

चाहूं कभी न दिवि को अयि वीर स्वामी !
पीऊं सुधा रस निजीय, बनूं न कामी ।
पा 'ज्ञानसागर' सुमन्थन से सुविद्या,
'विद्यादिसागर' बनू, तज दूं अविद्या ॥१०१॥

मंगल कामना

यही प्रार्थना वीर से, अनुनय से कर जोर ।
हरी भरी दिखती रहे, धरती चारों ओर ॥१॥

विषय कषाय तजो भजो, जरा निर्जरा धार ।
ध्याओ निज को तो मिले, अजरामर पद सार ॥२॥

सागर वो कचरा तजे, समझ उसे निस्सार ।
गलती करता क्यों भला, तू अघ को उर धार ॥३॥

रवि सम पर उपकार में, रहो विलीन सदैव ।
विश्व शान्ति वरना नहीं, यों कहते जिनदेव ॥४॥

रग-रग से करुणा झरे दुखी जनों को देख ।
चिर रिपु लख ना नयन में, चि ता रुधिर की रेख ॥५॥

तन-मन-धन से तुम सभी, पर का दुःख निवार ।
शम-दम-यम युत हो सदा, निज में करो विहार ॥६॥

तृणि ज्ञानसागर गुरों ! तारो मुझे ऋषीश ।
करुणाकर ! करुणा करो, कर से दो आशीष ॥७॥

समय एवं स्थान परिचय

इक त्रि शून्य द्वय वर्ष की, भाद्रपदी सित तीज ।
लिखा गया अजमेर में भुक्ति-मुक्ति का बीज ॥८॥

नमूं ज्ञानसागर गुरु, मुझमें कुछ नहीं ज्ञान ।
त्रुटियां होवें यदि यहाँ, शोध पढ़ें धीमान ॥९॥

[इति शुभं भूयात्]

निरञ्जन शतक

[१]

सविनयं ह्यभिनम्य निरंजनम्, नतिमितं नृसुरैर्मुनिरंजनम्।

भवलयाय करोमि समासतः, स्तुतिमिमां च मुदात्र समा सतः।।

अत्र मुनिरंजनम् नृसुरैः नतिम् इतम् निरंजनम् सविनयम् हि (अहं) अभिनम्य मुदा समा सतः (निरंजनस्य) इमां स्तुतिम् च समासतः भवलयाय करोमि ।

सविनयमिति - अत्र जगति (अहं विद्यासागरः) नृसुरैः नरश्च सुराश्च नृसुरास्तैः मानवामरैः नतिं स्तुतिं इतं प्राप्तं मुनिरञ्जनं यतिजनप्रमोदकारकं निरञ्जनं कर्मकालिमातीतं सिद्धपरमात्मानं सविनयं विनयसहितं हि निश्चयेन अभिनम्य नमस्कृत्य सतो निरञ्जनस्य सिद्धभगवतः अर्हत्परमेष्ठिनो वा इमां प्रारभ्यमाणां स्तुतिं स्तवनं मुदा समा प्रमोदेन सह समासतः संक्षेपेण, भवलयाय स्वस्य जन्ममरणात्मक-संसारविनाशाय करोमि विदधामि। द्रुतविलम्बितं छन्दः 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ॥१॥

अर्थ - इस जगत् में (मैं विद्यासागर) मनुष्यों और देवों के द्वारा स्तुत तथा मुनियों को प्रमुदित करने वाले, कर्मकालिमा से रहित सिद्ध परमात्मा को विनयपूर्वक नमस्कार कर अपना संसार-परिभ्रमण नष्ट करने के लिए हर्ष सहित उन निरञ्जन - जिनेश्वर अथवा सिद्ध परमेष्ठी की संक्षेप से इस स्तुति को करता हूँ ॥१॥

[२]

निजरुचा स्फुरते भवतेऽयते, गुणगणं गणनातिगकं यते!

विदितविश्व! विदा विजितायते! ननु नमस्तत एष जिनायते।।

विदितविश्व! विदा विजितायते! यते! निजरुचा स्फुरते गणनातिगकं गुणगणं अयते ननु नमः ततः एषः (अहम् स्तुतिकर्ता विद्यासागरः) जिनायते ।

निजरुचेति - हे विदितविश्व! विदितो ज्ञातो विश्वो लोकालोकौ येन तत्सम्बुद्धौ। विदा ज्ञानेन विजितायते विजिता आयतिरुत्तरकालो येन तत्सम्बुद्धौ। यते! महामुने! निजरुचा स्वकीयदेहदीप्त्या ज्ञस्वभावस्यात्मनो रुक् श्रद्धा तथा वा। स्फुरते शोभमानाय गणनातिगकं गणनां संब्यामतीत्य गच्छतीति गणनातिगः स एव स्वार्थे कः तं गणनातीतं गुणगणं गुणसमूहं अयते प्राप्नुवते ते ननु निश्चयेन नमः नमस्करोमि त्वामिति यावत्। ततः तव स्तवनात् एषोऽहं विद्यासागरो जिनायते जिन इवाचरति। भवत्स्तवनप्रभावेणाहमपि जिनो भविष्यामीति भावः ॥२॥

अर्थ - जिन्होंने समस्त पदार्थों को जान लिया है, जिन्होंने ज्ञान के द्वारा अपने

भविष्य को विजित किया है तथा जो महामुनीन्द्र हैं, ऐसे हे जिनेन्द्र! अपरिमित गुण समूह को प्राप्त करने वाले आपके लिये मेरा निश्चय से नमस्कार है। इस नमस्कार से मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं जिन के समान हो गया हूँ— आपके स्तवन से मैं जिन बनूँगा, इसमें संशय नहीं है ॥२॥

[३]

परपदं ह्यपदं विपदास्पदं, निजपदं नि पदं च निरापदम् ।

इति जगाद जनाब्जरविर्भवान्, ह्यनुभवन् स्वभवान् भववैभवान् ॥

विपदास्पदम् अपदम् हि परपदम् । निरापदम् निजपदम् नि (निश्चयेन) पदम् च । इति स्वभवान् भववैभवान् हि अनुभवन् जनाब्जरविः भवान् जगाद ।

परपदमिति - हि निश्चयेन परपदं ज्ञातृस्वभावादात्मनो भिन्नं पदं विपदास्पदम् विपदामापत्तीनां आस्पदं स्थानं, अत एव अपदं अत्राणं अरक्षकं 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्म्यङ्घ्रवस्तुषु' इत्यमरः । च समुच्चये, निजपदं ज्ञातृस्वभावमात्मतत्त्वं नि निश्चयेन निरापदं आपदाभ्यो निर्गतं अत एवं पदं विश्रामस्थानं अस्तीति शेषः। इतीत्थं स्वभवान् स्वस्माद् भवन्तीति स्वभवास्तान् भववैभवान् भवस्य जगतो वैभवा ऐश्वर्याणि तान् अनुभवन् जनाब्जरविः जना एवाब्जानि पद्मानि तेषां रविर्दिनकरः भवान् अर्हन् हि निश्चयतः जगाद स्पष्टं कथयामास । स्वपदमादेयं परपदं च हेयमिति भवान् अब्रवीत् इति भावः ॥३॥

अर्थ - निश्चयतः आत्मस्वभाव से भिन्न - अन्यपद विपदाओं के स्थान हैं, अतएव अपद—अरक्षक हैं और आत्मस्वभावरूप निजपद विपदाओं से रहित तथा आत्मरमण का स्थान है। परमार्थ से स्वोत्पन्न सांसारिक वैभवों का अनुभव करते तथा जनरूपी कमलों को विकसित - प्रफुल्लित करने के लिये सूर्यस्वरूप आपने, ऐसा स्पष्ट कहा है ॥३॥

[४]

पदयुगं शिवदं नु शमीह ते, श्रयतु चेत्स्वपदं स समीहते ।

अधनिनो धनिनं हि धनाप्तये, किमु भजन्ति न लब्धधनाप्त! ये ॥

हे लब्धधन! आप्त! चेत् शमी स्वपदम् समीहते (तर्हि) न नु ते शिवदम् पदयुगं श्रयतु। इह(जगति)ये अधनिनः धनाप्तये किमु धनिनम् न भजन्ति? (भजन्त्येवेति) ।

पदयुगमिति - हे लब्धधन! लब्धं प्राप्तं धनमनन्तचतुष्टयरूपं येन तत्सम्बुद्धौ। हे आप्त! अर्हन्! चेत् यदि स प्रसिद्धः शमी शाम्यतीति शमी शान्तिस्वभावो जनः इह

जगति शं सुखस्वरूपं स्वपदं स्वकीयचैतन्यवैभवं ईहते समिच्छति तर्हि नु निश्चयेन ते भवतः, शिवदं मोक्षप्रदं पदयुगं चरणयुगलं श्रयतु सेवतां। भवच्चरणाराधनामन्तरेण स्वपदानुभूतिर्दुर्लभास्तीति भावः। हि यतः ये अधनिनो धनरहिताः सन्ति ते धनाप्तये वित्तप्राप्तये किमु धनिनं वित्तेश्वरं न भजन्ति न सेवते? अपि तु सेवन्त एव ॥४॥

अर्थ - हे आत्मधन को प्राप्त करने वाले अरहन्तदेव! इस जगत् में यदि शान्त स्वभाव वाला जन सुखस्वरूप स्वपद शुद्धात्मतत्त्व को प्राप्त करना चाहता है तो वह मोक्षदायक अथवा कल्याणप्रदाता आपके चरणयुगल की सेवा करे। क्योंकि इस जगत् में जो निर्धन मनुष्य हैं, वे धन प्राप्ति के लिये क्या धनिकपुरुष की सेवा नहीं करते? अर्थात् अवश्य करते हैं ॥४॥

[५]

यदसि सत्यशिवोऽसि सदा हितः, तव मदो महसा हि स दाहितः।

गतगतिः सगतिर्गतसंमतिः, मम मतेः सुगतिर्भुवि सन्मतिः ॥

हे विभो! तव महसा हि स मदः दाहितः यत् सत्यशिवः असि। (अतः) भुवि सदा हितः असि। गत-गतिः सगतिः गतसंमतिः सन्मतिः (अपि असि) (ततः) मम मतेः सुगतिः (त्वमेव असि)।

यदसीति - हे भगवन्! तव भवतः महसा तेजसा स प्रसिद्धो मदो गर्वो मदनो वा हि निश्चयेन दाहितो भस्मसात्कारितः यत् यस्मात् कारणात् तेन त्वं सत्यशिवः सच्चिदानन्दरूपोऽसि, किञ्च सदा सर्वदा हितो हितरूपोऽसि। अतः गतगतिः गता नष्टा गतयो नरकाद्यवस्था यस्य सः। चतुर्गतिर्भ्रमणरहितः सगतिः मोक्षाभिधानया गत्या सहितः, गतसंमतिः गता प्राप्ता संमतिर्यस्य सः। सन्मतिः समीचीना मतिर्यस्य तथाभूतः त्वमसि। अतो भुवि पृथिव्यां मम स्तोतुः मतेः धियः। सुगतिः शोभनाश्रयदातासि ॥५॥

अर्थ - यतश्च आपके तेज के द्वारा वह मद-गर्व अथवा मदन दग्धकर दिया गया। अतः तुम्हीं सत्यशिवरूप हो और तुम्हीं सदा हितरूप हो यतश्च आप गतगति चतुर्गति रूप परिभ्रमण से रहित हो, सगति - मोक्षरूप गति से सहित और गतसंमति समीचीन मति से सहित हैं ॥५॥

[६]

नयनयुग्मनिभेन नयद्वयम्, समयनिश्चयहेतु न! यद्वयम्।

कलयतीति तदाशयवेदका, निजमयाम इव व्यपवेदकाः ॥

हे न! (तव) नयद्वयम् नयनयुग्म निभेन समय निश्चय हेतु इति कलयति! यत् वयम् तत् आशयवेदकाः निजम् व्यपवेदकाः इव अयामः।

नयनेति - हे न! हे जिन! 'नकारो जिनपूज्ययोः' इति विश्वलोचनः। (तव) नयद्वयं नययोर्द्वयं नयद्वयं निश्चयव्यवहाराभिधाननययुगलं नयनयुग्मनिभेन नेत्रयुगलसादृश्येन समयनिश्चयहेतुः समस्यागमस्य पदार्थस्य वा यो निश्चयो निर्णयस्तस्य हेतुः हेतुरूपं इतीत्थं कलयति प्रकटयति यद् यस्मात्कारणात् तदाशयवेदकाः तदभिप्रायज्ञातारः, वयं व्यपवेदका इव व्यपगतो नष्टो वेदो येषां तथाभूता इव निजं स्वस्वरूपं अयामः प्राप्नुमः। हे जिन! भवत्प्रणीतं नययुगलं नेत्रयुगलमिव शास्त्रस्य पदार्थमात्रस्य वा निर्णयकारणं वर्तते, इति निश्चित्य वयं वेदातीतजना इव स्वस्वरूपे स्थिरा भवाम इति भावः। 'अयांभः' इति परस्मैपदं कथमिति चेत्? इटकिटकंटी गतौ' इत्यत्र प्रश्लिष्टस्य इधातोः परस्मैपदप्रयोगः ॥६॥

अर्थ - हे जिनेन्द्र! आपके निश्चय व्यवहारणों का युगल, नेत्रयुगल के समान समय— आगम अथवा द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ के निश्चय का कारण है, ऐसा जान उसके अभिप्राय को जानते हुये हम वेद रहित पुरुष-अखण्डब्रह्मचारी के समान स्वकीय स्वभाव को प्राप्त होते हैं ॥६॥

[७]

अधिपतौ निजचिद् विमलक्षितेः, व्यय-भव-ध्रुव-लक्षण-लक्षिते।

मयि निरामयकः सहसा गरेऽवतरतीव शशी किल सागरे ॥

निजचिद् विमलक्षितेः अधिपतौ व्ययभव ध्रुव लक्षणलक्षिते मयि गरे निरामयकः भवान् किल सहसा सागरे शशी इव अवतरति!

अधिपताविति - निजस्य स्वस्य या विमलचिद् शुद्धचेतना सैव विमलक्षिति निर्मलभूमिस्तस्याः, अधिपतौ स्वामिनि शुद्धचेतनायुक्ते इति यावत्। व्ययः पूर्वपर्यायविगमः भवो नूतनपर्यायोत्पादः, ध्रुवः पूर्वोत्तरपर्याययोर्विद्यमानः सामान्यधर्मः एषां द्वन्द्वः व्ययभवध्रुवाः त एव लक्षणं तेन लक्षिते सहिते व्ययोत्पादध्रुवात्मके, मयि स्तावके, गरे विषे निरामयको नीरोग इव भवान् सागरे समुद्रे शशीव मृगाङ्क इव सहसा झगिति अवतरति अवतीर्णो भवति। यथा विषमध्ये पतितो विषवैद्यो निरामयो भवति तथोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वेन भङ्गुरात्मनि मयि ध्येयरूपेण प्रविष्टो भवान् सुस्थिरो भवति। यथा च सागरेऽवतीर्णः शशी सागराद् भिन्नो भवति तथा च मय्यवतीर्णो भवान् मदीय रागादिद्वेषैर्दूषितो न भवतीति भावः। किलेति वाक्यालङ्कारे ॥७॥

अर्थ - जो स्वकीय चेतनारूपी निर्मलभूमि का स्वामी है तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप लक्षण से सहित है ऐसे मुझमें, विष के बीच नीरोग रहने वाले आप समुद्र में चन्द्रमा के समान सहसा अवतीर्ण हुए हैं।

भावार्थ - जिस प्रकार विष के मध्य रहता हुआ भी विषवैद्य विषजन्य विकार से रहित होता है और जिस प्रकार लहराते हुए जलमय समुद्र में प्रतिबिम्बरूप से प्रविष्ट चन्द्रमा उससे निर्लिप्त रहता है। उसी प्रकार ध्येयरूप से मुझमें प्रविष्ट हुए आप मेरे विकारों से रहित हैं ॥७॥

[८]

स्तुतिरियं तव येन विधीयते, तमुभयावयतो न विधी यते!।

गजगणोऽपि गुरुर्गजवैरिणम्, नखबलैः किमटेद् विभवैरिनम्।।

हे यते! येन (धीमता मुनिना) तव इयम् स्तुतिः विधीयते तं उभयौ विधी (द्रव्यभावमयौ) न अयतः नखबलैः विभवैः इनम् गजवैरिणम् गुरुः गजगणः अपि किम् अटेत्? (नऋदापि इति)।

स्तुतिरिति - हे यते! हे मुनीन्द्र! येन धीमता मुनिना तव भवतः इयं स्तुतिर्नुति-गुणगानमिति यावत्। विधीयते क्रियते तं स्तोतारं, उभयौ द्रव्यभावभेदेन द्विप्रकारौ विधी कर्मणी न अयतः नो प्राप्नुतः। 'उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्तीति कैयरः अस्तीति हरदत्तः' इति हरदत्तमतेन द्विवचनान्तप्रयोगः। एतदेव काकुप्रयोगेण समर्थयति - गुरुः स्थूलाकारोऽपि गजगणो हस्तिसमूहः नखबलैर्विभवैर्नखबलसामर्थ्येन किं इन्नं वनस्वामिनं गजवैरिणं सिंहं अटेत् गच्छेत्? पुरस्तात् गन्तुं किं शक्नुयात्? अपि तु न शक्नुयात् ॥८॥

अर्थ - हे यतीन्द्र! जिस बुद्धिमान् के द्वारा आपकी यह स्तुति की जाती है, उसके पास दोनों प्रकार के कर्म नहीं जाते हैं। क्या हाथियों का समूह स्थूल होने पर भी अपने नखबल के वैभव से वनराज सिंह के सामने जाता है? अर्थात् नहीं जाता ॥८॥

[९]

निगदितुं महिमा ननु पार्यते, सुगत! केन मनो! मुनिपार्य! ते।

वदति विश्वनुता भुवि शारदा, गणधरा अपि तत्र विशारदाः।।

हे आर्य! मुनिप! मनो! ते महिमा ननु केन निगदितुं पार्यते (इति) भुवि विश्वनुता शारदा वदति तत्र विशारदाः गणधराः अपि (वदन्ति)।

निगदितुमिति - हे सुगत! सुष्ठु गतं ज्ञानं यस्य तत्सम्बुद्धौ, हे मनो! हे मनुरूप! हे मुनिप! हे मुनिश्रेष्ठ! हे आर्य! हे पूज्य! ननु यथार्थतः। ते भवतो महिमा माहात्म्यं केन जनेन निगदितुं कथयितुं पार्यते शक्यते? अपि तु न केनापि। वागगोचरं तव माहात्म्यमस्तीति भावः। इति भुवि पृथिव्यां विश्वनुता विश्वैर्नुता स्तुता सर्वस्तुतेति यावत्। शारदा सरस्वती वदति। किञ्च तत्र स्तुतौ विशारदा निपुणतरा गणधरा अपि

वदन्तीति योज्यम् ॥९॥

अर्थ - हे बुद्ध! हे मनुरूप! हे मुनिपालक—मुनिश्रेष्ठ! हे आर्य! हे पूज्य! निश्चय से आपकी महिमा किसके द्वारा कही जा सकती है? अर्थात् किसी के द्वारा नहीं। पृथिवी पर सब के द्वारा स्तुत सरस्वती ऐसा कहती है और स्तुतिविद्या में निपुण गणधर भी ऐसा ही कहते हैं।

भावार्थ - आपकी सर्वथा निर्दोष-पूर्वापर विरोध से रहित वाणी ही इस बात को प्रकट करती है कि आपकी महिमा का वर्णन करने के लिये कोई समर्थ नहीं है ॥९॥

[१०]

निजनिधेर्निलयेन सताऽतनोः, मतिमता वमता ममता तनोः ।

कनकता फलतो ह्युदिता तनौ, यदसि मोहतमः सविताऽतनो! ॥

हे अतनो! अतनोः निजनिधेः निलयेन मतिमता सता तनोः ममता वमता। फलतः तनौ कनकता हि उदिता। यत् (यस्मात्) मोहतमः सविता असि।

निजनिधेरिति - हे अतनो! अविद्यमानो तनुः शरीरं यस्य तत्सम्बुद्धौ। अतनोः न तनुः स्वल्पा अतनुः विशाला तस्य निजनिधेः आत्मगुणभाण्डारस्य निलयेन स्थानेन, मतिमता बुद्धिमता, तनोः शरीरस्य 'स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' इति धनञ्जयः। ममता ममत्वबुद्धिः वमता उद्दिगता सता भवता तनौ शरीरे हि यतः फलतः फलस्वरूपेण कनकता कनकस्य भावः कनकता सुवर्णता उदिता प्रकटिता यद् यस्मात् कारणात् तेन त्वं मोहतमः सविता मोह एव तमो ध्वान्तं तस्य विनाशने सविता सूर्यः। असि वर्तते। यतश्च त्वं विशालात्मसम्पदः स्वामी वर्तसे, यतश्च स्वपरभेदविज्ञानवता त्वया शरीरे ममता बुद्ध्यो निरस्ताः, यतश्च तव शरीरे सुवर्णरूपता प्रकटिता तेन त्वं मोहतिमिरविदलने दिवाकरोऽसीति भावः ॥१०॥

अर्थ - हे अतनो! हे अशरीर! यतश्च आप विशाल आत्मसम्पदा के आधार हैं, यतश्च स्वपरभेदविज्ञानी होकर आपने शरीर सम्बन्धी ममताओं को दूर किया है और यतश्च आपके शरीर में सुवर्ण जैसी आभा प्रकट हुई है अतः आप मोहरूपी तिमिर को नष्ट करने के लिये सूर्यतुल्य हैं ॥१०॥

[११]

जिनपदौ शरणौ त्वपि कौ कलौ, कमलकोमल कौ विमलौ कलौ ।

जनजलोद्भवरात्र्यहितौ हितौ, मयि मयाद्य हितौ महितौ हि तौ ॥

हे (जिन!) तौ जनजलोद्भव—रात्र्यहितौ विमलौ कलौ कमलकोमलकौ मया महितौ हि मयि हितौ अद्य

अपि कौ कलौ जिनपदौ शरणौ (इति आनन्दसूचिका) ।

जिनपदाविति— (हे जिन!) तौ बध्यमाणवैशिष्ट्यसहितौ जनजलोद्भवरात्र्यहितौ जना एव जलोद्भवानि कमलानि तेषां रात्र्यहितौ सूर्यौ, कमलकोमलकौ कमलमृदुलौ स्वार्थे कः। विमलौ निर्मलौ, कलौ मनोहरौ, हितौ हितकारकौ, जिनपदौ जिनपादौ, अद्य मया स्तुतिकर्ता, मयि निजःत्मनि हितौ धृतौ 'दधातेर्हि' इत्यनेन निष्ठायां दधातेः हि आदेशः। हि निश्चयेन महितौ पूजितौ। तौ कौ पृथिव्यां कलौ पञ्चमकाले शरणौ शरणभूतौ रक्षकौ स्त इति शेषः ॥११॥

अर्थ - हे जिन! जो भव्यजनरूपी कमलों को विकसित करने के लिये सूर्य स्वरूप हैं, कमल के समान कोमल हैं, निर्मल हैं, मनोहर हैं, हितकारी हैं और मेरे द्वारा पूजित होकर अपने हृदय में विराजमान किये गये हैं, ऐसे जिनेन्द्रचरण ही पंचमकाल में पृथिवी पर परमार्थ से शरणभूत हैं - रक्षक हैं ॥११॥

[१२]

सुरसयोगमितं यदयोगतं, कनकतां शिवमेष अयोगतः ।

इति भवान् क्व रसः क्व मनो चिता, तदुपमा सहसा सह नोचिता ॥

मनः! सुरसयोगम् इतम् यत् अयः कनकताम् गतम्! एषः (स्तुतिकर्ता तु) अयोगतः शिवम् (गतः) ततः भवान् क्व रसः क्व इति (मत्त्वा) चिता सह (भवतासह) तदुपमा सहसा न उचिता।

सुरसेति - हे मनो! हे मनुस्वरूप! यद् यस्मात्कारणात्, अयो लोहः सुरसयोगतः सुष्ठुरसस्य शोभनरसस्य योगं सम्बन्धं, इतं प्राप्तं, सत् कनकतां स्वर्णतां गतं प्राप्तं, एषोऽयं स्तुतिकर्ता तु हि निश्चयेन अयोगतो लोहरूपोऽपि शिवं कल्याणं मोक्षं वा प्राप्तः। पक्षे अयोगतः योगाभावतः। इतीत्थं भवान् क्व? रसः क्व? द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयतः। चिता चैतन्यरूपेण भवता सह सहसा अविचार्य तदुपमा तस्य रसस्योपमा सदृशता उचिता योग्या नास्ति ॥१२॥

अर्थ - यतश्च लोहा समीचीन रसायन का संयोग पाकर सुवर्णता को प्राप्त हो गया परन्तु यह स्तुतिकर्ता आपके प्रभाव से रसायन के सम्बन्ध के बिना ही (पक्ष में - योगरहित अवस्था से) शिव कल्याणरूपता स्वर्णरूपता (पक्ष में मोक्ष) को प्राप्त हो गया। इस तरह आप कहाँ? और रसायन कहाँ? दोनों में बड़ा अन्तर है। आप चैतन्यरूप हैं और रसायन जड़रूप है। अतः चैतन्यरूप के साथ अचेतन रस की उपमा बिना विचार किये देना उचित नहीं ॥१२॥

[१३]

जिनगतस्त्वयि योऽपि मुदालयं, स्वमयते सह स स्वविदालयम् ।

गुणकुलैरतुलैर्ननु संकुलम्, कलकलं विकलय्य भृशं कुलम् ॥

हे अयि जिन! त्वयि यो मुदा लयम् गतः ननु स स्वविदा सह कुलम् भृशम् विकलय्य अतुलैः गुणकुलैः संकुलम् कलकलम् स्वम् आलयम् अयते।

जिनेति - अयि जिन! हे जिन! योऽपि यः कश्चन जनः, मुदा हर्षेण त्वयि भवति लयं लीनतां गतः प्राप्तः, स पुरुषः ननु निश्चयेन स्वविदा आत्मज्ञानेन सह कुलं शरीरं भृशमत्यन्तं विकलय्य पृथक्कृत्य तत्त्नेहं त्यक्त्वेत्यर्थः। अतुलैरनुपमैः गुणकुलैर्गुणसमूहैः ज्ञानदर्शनादिगुणसमूहैरिति यावत्। संकुलं व्याप्तं कलकलं कला मधुराः कला यस्य तं स्वं निजं आलयं गृहं आत्मस्वभावं अयते प्राप्नोति। जिनवरध्यानेन ध्यातुरात्मज्ञानं जायते तेन च स शरीराद्विरज्यानन्तगुणगणैर्निभृतं ज्ञानानन्द स्वभावमात्मानं श्रयत इति भावः ॥१३॥

अर्थ - हे जिन! जो भी पुरुष हर्ष से आप में लीनता को प्राप्त होता है वह आत्मज्ञान के साथ शरीर को अत्यन्त पृथक् कर अनुपम गुणसमूहों से व्याप्त एवं मनोहर कलाओं से युक्त स्वकीय गृह को प्राप्त होता है।

भावार्थ - वीतराग जिनेन्द्रदेव के ध्यान से आत्मज्ञान होता है। आत्मज्ञान के द्वारा शरीर को पृथक् अनुभव करता हुआ ध्याता अनेक गुणसमूह से व्याप्त आत्मगृह—स्वकीयशुद्धस्वभाव को प्राप्त करता है ॥१३॥

[१४]

असितकोटिमिता अमिताः तके, नहि कचा अलिभास्तव तात! के ।

वरतपोऽनलतो बहिरागता, सघनधूम्रमिषेण हि रागता ॥

हे तात! तव के (मस्तके) तके (ते एव तके) अमिताः असितकोटिम् इताः अलिभाः कचाः नहि (सन्ति) (किन्तु) वरतपोऽनलतः सघनधूम्रमिषेण रागता हि बहिः आगता (इति मन्ये)!

असितेति - हे तात! हे पूज्य! तव भवतः के शिरसि 'शिरोमूर्धोत्तमाङ्गं कं' इति धनञ्जयः। तके त एव तके स्वार्थेऽकच् प्रत्ययः। असितकोटिं न सिता असिताः शुक्लेतरपदार्थास्तेषां कोटिं कोटिसंख्यां बाहुल्यमिति यावत्। इताः प्राप्ताः अमिताः अपरिमिताः अलिभा भ्रमरवत्कृष्णाः कचाः केशा न हि वर्तन्ते किन्तु वरतपोऽनलतः वरतप उत्कृष्टतप एवानलोऽग्निस्तस्मात् सघनधूम्रमिषेण सघनश्चासौ धूम्रश्च सघनधूम्रः सान्द्रधूम्रस्तस्य मिषेण व्याजेन रागता रागस्य भावो रागता रागपरिणतिः हि निश्चयेन बहिः आगता समायाता। अपह्नवालङ्कारः। शिरसि दृश्यमाना एते कृष्णाः कचा न किन्तु ध्यानानलतः समुत्थितधूम्रमिषेण रागादयो विकृतयो बहिरागताः इति भावः ॥१४॥

अर्थ— हे पूज्य! आपके शिर पर वे अपरिमित काले केश नहीं हैं किन्तु उत्कृष्ट ध्यानरूप अग्नि से उठे हुए धूम के बहाने भीतर की रागपरिणति बाहर आयी है ॥१४॥

[१५]

अयशसां रजसां वपुषाकरः, तव जितो महसा स निशाकरः ।
जिनरतोऽत्र ततोऽप्यमहानये, नखमिषेण पदे ह्यघहानये ॥

अये! जिन! अयशसां रजसां वपुषा आकरः स निशाकरः तव महसा जितः ततः (स) अमहान् (तव) पदे अत्र नखमिषेण हि अघहानये रतः।

अयशसामिति - अये जिन! हे अर्हन्! वपुषा शरीरेण अयशसामकीर्तीनां रजसां मलिनरेणूनाम्। आकरः खनिः स प्रसिद्धो निशाकरश्चन्द्रः, तव महसा तेजसा जितः पराभूतः। ततोऽपि स निशाकरः अमहान् हीनः सन् तव पदे चरणे अत्र जगति नखमिषेण अघहानये पापहानये हि निश्चयेन रतो लीनः। अस्तीति। चन्द्रमसि यः श्यामप्रदेशो दृश्यते सोऽप्यशसां कृष्णरजसां खनिरस्ति। तथाभूतश्चन्द्रमा तव तेजसा पराभूतः। पराभवात् स निकृष्टो जातः। ततश्च स्वकीयपापदूरीकरणाय नखव्याजेन तव चरणे लीन इति मन्ये। उत्प्रेक्षा ॥१५॥

अर्थ - हे जिनदेव! वह चन्द्रमा, जो कि शरीर के द्वारा अपयशरूपी मलिन धूलि की खान हो रहा है, आपके तेज से पराजित हो अमहान् - तुच्छ बन गया, इसीलिये वह इस जगत् में पापों को नष्ट करने के लिये नखों के बहाने (सपरिवार) आपके चरणों में आ पड़ा है ॥१५॥

[१६]

विधिनिशा किल संत्रियतेऽनया, कवितया विभयाभय तेऽनया ।
किमुदितेऽप्यरुणे ह्यरुणे यते!, स्थितिरिति तमसो न मुनेऽयते ॥

हे मुने! अभय! यते! ते अनया कवितया विभया किल अनया विधिनिशा संत्रियते। (उचितमेव) अरुणे अपि अरुणे उदिते हि तमसः स्थितिः इतिम् किं न अयते (अवश्यमेवेति)।

विधिनिशेति - हे मुने! हे अभय! हे यते! ते तव, अनया एतया, कवितया विभया कवितारूपप्रभया किलेति वाक्यालङ्कारे, अनया न विद्यन्ते नया यस्यां सा नयरहिता विधिनिशा विधिरेव दुष्कर्मैव निशा रात्रिः संत्रियते संवृता भवति। यथा प्रभया रजन्या विलय उचितस्तथा तव कवितया दुष्कर्मसन्ततेर्विलय उचित एव। एतदेव दृष्टान्तेन समर्थयति। अरुणे रक्तवर्णे अरुणे प्रातःकालिक लालिम्नि उदिते प्रकटितेऽपि

किं तमसो ध्वान्तस्य स्थितिः इतिं गतिं विनाशमिति यावत्। न अयते न प्राप्नोति। अपि तु प्राप्नोति ॥१६॥

अर्थ - हे मुने! हे निर्भय! हे यते! आपकी इस कवितारूपी विभा-प्रभा से अनय-नयरहित दुष्कर्म रूपी रात्रि संवृत हो जाती है-समाप्त हो जाती है, यह उचित ही है क्योंकि प्रातःकाल की लाल-लाल लाली के प्रकट होने पर क्या अन्धकार की स्थिति विनाश को प्राप्त नहीं होती? अवश्य होती है ॥१६॥

[१७]

असुषमां सुषमांममितां मनोः, ममपिबत् तृषितं हि मितान्मनो।

स्वरससेवनमेव वरं भवे, दिति समीक्ष्य जगाद विभु भवे ॥

(हे जिन!)मनोः अमितां अनुषमां सुषमां मम मनः पिबत् (अपि) हि मितात् तृषितम्। इति समीक्ष्य विभुः भवे स्वरससेवनं एव वरम् भवेत् इति जगाद।

असुषमामिति - (हे जिन!) मनोः मनुरूपस्य तव असुषमा नास्ति सुषमान्यस्य यस्यास्तां लोकोत्तरशोभासंपन्नामिति यावत्। अमितां अपरिमितां सुषमां परमशोभां 'सुषमा परमा शोभा' इत्यमरः। पिबत् पानं कुर्वदपि मम स्तोतुः मनश्चित्तं मितात् परिमितात् हेतोः तृषितं तृषायुक्तं हि निश्चयेन वर्तत इति शेषः। इतीत्थं समीक्ष्य विचार्य विभुः प्रभुर्भवान्, भवे संसारे स्वरससेवनमेव स्वस्य चेतनस्य यो रसो ज्ञानादिस्वभावस्तस्य सेवनं पानमेव वरं श्रेष्ठं भवेदिति जगाद कथयतिस्म। लोकोत्तरसौन्दर्यं दृष्ट्वापि दर्शकस्य मनः सत्तृष्णं भवति, अतस्तदुपेक्ष्य स्वकीयस्वभावस्याराधनमेव श्रेष्ठं वर्तत इति भावः॥१७॥

अर्थ - हे जिन! मनुस्वरूप आपकी लोकोत्तर-सर्वश्रेष्ठ एवं अपरिमित शोभा का पान करता हुआ भी मेरा मन सीमित होने के कारण तृषित - प्यासा - असंतुष्ट रहा है। अर्थात् बाह्य शोभा को देखकर मन संतुष्ट नहीं होता। ऐसा विचार कर आपने कहा कि जगत् में आत्मरस-स्वस्वभाव की आराधना करना ही श्रेष्ठ है॥१७॥

[१८]

त्वदधरस्मितवीचिसुलीलया, विदितमेव सतां सह लीलया ।

त्वयि मुदम्बुनिधिर्हि नटायते, अहमिति प्रणतोऽप्यपटायते ॥

(हे विभो!)त्वयि मुदम्बुनिधिः हि नटायते। (यतः) त्वदधरस्मितवीचिसुलीलया सतां सह लीलया विदितम् एव (अतः)ते अपटाय अहम् अपि प्रणतः (अस्मि) इति।

त्वदधरेति - हे विभो! त्वदधरस्मितवीचिसुलीलया तव अधरस्याधरोष्ठस्य

स्मितवीचीनां मन्दहसितसन्ततीनां सुलीला सुन्दरशोभा तथा सतां सत्पुरुषाणां लीलया सह अनायासेनैव विदितं ज्ञातं यत् त्वयि हि निश्चयेन मुदम्बुधिः प्रमोदपारावरः। नटायते नट इवाचरति कल्लोलितो विद्यत इति भावः। इति हेतोः अहमपि स्तुतिकारोऽपि अपटाय वस्त्ररहिताय निर्ग्रन्थायेति यावत्। ते तुभ्यं प्रणतो नम्रीभूतोऽस्मीति भावः ॥१८॥

अर्थ - हे भगवन्! आपके अधरोष्ठ सम्बन्धी मन्द मुस्कानों की सुन्दर लीला से ही सत्पुरुषों को यह अनायास विदित हो गया है कि आप में आनन्द का सागर लहरा रहा है इसलिये मैं भी निर्ग्रन्थमुद्रा का धारक आपके लिये प्रणत हूँ —नमस्कार करता हूँ ॥१८॥

[१९]

सति तिरस्कृतभास्करलोहिते, महसि ते जिन ! विःसकलो हिते ।

अणुरिवात्र विभो ! किमु देवान ! वियति भं प्रतिभाति तदेव न ॥

हे जिन! देव! विभो! न! ते अत्र तिरस्कृतभास्करलोहिते, हिते सति, महसि सकलः विः अणुः इव प्रतिभाति भं तदेव वियति (अणुः इव) किमु न प्रतिभाति?)।

सतीति - हे जिनदेव! विभो! न! अत्र भुवि तिरस्कृतभास्करलोहिते तिरस्कृतो न्यक्कृतो भास्करस्य रवेर्लोहितः प्रकाशो येन तस्मिन् हिते हितकारिणि सति प्रशस्ते ते तव महसि तेजसि केवलज्ञानधाम्नि सकलो विः संपूर्णः आकाशः अणुरिव प्रतिभाति प्रतिभासते। वियति अनन्ताकाशे भं नक्षत्रं किमु तदेव नक्षत्ररूपमेव अल्पमेवेति यावत्। न प्रतिभाति? अपि तु प्रतिभात्येव। यथानन्ताकाशे नक्षत्रमेकं स्वल्पतरं प्रतिभाति तथानन्ते तव केवलज्ञाने सकलं गगनं स्वल्पतरं प्रतिभाति ॥१९॥

अर्थ - हे जिनदेव! हे विभो! हे पूज्य! इस पृथिवी पर सूर्य के प्रकाश को तिरस्कृत करने वाले आपके केवलज्ञानरूप तेज में सम्पूर्ण आकाश अणु के समान प्रतिभासित होता है। ठीक ही है क्योंकि अनन्त आकाश में एक नक्षत्र क्या अणु के समान नहीं जान पड़ता? ॥१९॥

[२०]

त्वयि जगद् युगपन्मुनिरंजने, लयमुपैति भवं च निरंजने ।

परममानसुमेयतया तथा, सरसि वीचिवदेव न वार्तया ॥

(गुरो!) त्वयि मुनिरंजने निरंजने जगत् युगपत् लयं भवं च (ध्रुवतां च) तथा परममानसुमेयतया उपैति। न वार्तया सरसि वीचिवत् एव।

त्वयीति - मुनिरञ्जने यतिजनानन्ददायिनि निरञ्जने कर्मकल्मषरहिते त्वयि सर्वज्ञवीतरागतोपेते त्वयि भवति जगद् त्रिभुवनं युगपदेककालावच्छेदेन लयं व्ययं भवमुत्पादं चकाराद्ध्रुवतां च तथा प्रसिद्ध्या परममानसुमेयतया मीयतेऽनेनेति मानं ज्ञानं, परमं च तन्मानं चेति परममानं श्रेष्ठज्ञानं तस्य मेयता ज्ञेयता तथा, सरसि कासारे वीचिवदेव कल्लोलवदेव। यथा सरसि वीचयः समुत्पद्यन्ते विलीयन्ते जलत्वेन तिष्ठन्ति ध्रुवा भवन्ति तथा भवति त्रिभुवनं समुत्पादं व्ययं ध्रौव्यतां च प्राप्नोति। एतत्सर्वं वार्तया वार्तामात्रेण न, किन्तु यथार्थतया जगदेतदुत्पादादित्रितयरूपं विद्यते, तव ज्ञाने च तथैव प्रतिभातीत्यर्थः ॥२०॥

अर्थ - मुनिजनों को आनन्द देने वाले तथा कर्मकालिमा से रहित आप में यह जगत् एक ही साथ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को उस प्रकार प्राप्त हो रहा है जिस प्रकार कि सरोवर की तरङ्ग। जगत् प्रसिद्ध ज्ञेयज्ञायकभाव की अपेक्षा यह सब यथार्थ में हो रहा है, कहने मात्र की अपेक्षा नहीं ॥२०॥

[२१]

सुखमजं न भजन्नपि दीदिवि; भजति तावदहोऽतनुधीर्दिवि ।

मुनिरयं तनुधीरपि रागत; स्वयि च यावदके गतरागतः ॥

(हे जिन)दिवि अतनुधीः दीदिविः अजं (त्वाम्) भजन् अपि अहो तावत् सुखम् न भजते। त्वयि रागतः तनुधीः अपि अयम् मुनिः (ग्रन्थकर्ता) अके गतरागतः च यावत् (सुखम्) भजति।

सुखमिति - दिवि स्वर्गे अतनुधीर्विशालबुद्धिः दीदिविर्वृहस्पतिः अजं न जायत इत्यजस्तं जन्मातीतं त्वामिति यावत् भजन्नपि सेवमानोऽपि तावत् प्रमाणं सुखं न भजते न प्राप्नोतीत्यहो विस्मयः त्वयि रागतो भक्त्यतिशयात् तनुधीरपि तन्वी बुद्धिर्यस्य तथाभूतोऽल्पबुद्धिरपि। अयमेष मुनिर्ग्रन्थकर्ता अके अनात्मनि शुद्धात्मभिन्नपरपदार्थे गतरागतो विनष्टप्रीत्यतिशयात् च यावत् यावत्प्रमाणं सुखं भजति। विशालबुद्धिधारकोऽपि बृहस्पतिः स्वर्गसम्बन्धिरागपरिणामाज्जिनेन्द्र माराधयन् तावत्सुखं न याति यावत् परवस्तुनि रागपरिणामाभावात् जिनेन्द्रं भजमानो मुनिः प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२१॥

अर्थ - हे जिनेन्द्र! स्वर्ग में आपकी आराधना करने वाला विशाल बुद्धि का धारक बृहस्पति उतने सुख को प्राप्त नहीं होता, जितने सुख को पर वस्तुओं में राग रहित मुनि अल्पबुद्धि होकर भी आप में राग होने तथा अक-अनात्म पदार्थ में रागरहित होने से प्राप्त होता है ॥२१॥

[२ २]

स्पृशति ते वदनं च मनोहरं, तव समं मम भाति मनो हर!

समुपयोग पयो ह्यपयोग तन्ननु भवेन्न पयोऽपि पयोगतम् ।।

हे अपयोग!समुपयोग!हर! ते मनोहरं वदनं च मम मनः (यदा) स्पृशति (तदा) तव समम् हि भाति। तत् पयोगतम् पयः अपिः पयः ननु न भवेत् (भवेदित्यर्थः)।

स्पृशतीति - हे अपयोग! अपगतो योगो मनोवाक्कायप्रवृत्तिर्यस्य तत्सम्बुद्धौ। हे समुपयोग! समीचीनौ उपयोगौ ज्ञानदर्शनरूपौ यस्य तत्सम्बुद्धौ। हे हर! जिनेन्द्र! मम स्तोतुः मनः चित्तं यदा ते तव मनोहरं चेतोहरं रमणीयमिति यावत्। वदनं मुखं स्पृशति स्पष्टं करोति ध्यायतीत्यर्थः तदा तव मम सदृशं मया लक्ष्म्या सहितं वा हि निश्चयेन भाति शोभते। तदेवार्थान्तरेण निर्दिशति—तत् प्रसिद्धं पयोऽपि जलमपि पयोगतं दुग्धप्राप्तं सत् ननु निश्चयेन तत् दुग्धं दुग्धवद् वा न भवेत् अपि तु भवेदेव। 'दुग्धे नीरे वटादीनां क्षीरेऽपि क्षीरवत्पयः' इति विश्वलोचनः ।।२२।।

अर्थ - हे अपयोग! मन, वचन और काय की प्रवृत्ति से रहित! हे समुपयोग! ज्ञानदर्शन रूप समीचीन उपयोगों से सहित, हे हर! हे जिनेन्द्र! जब मेरा मन आपके मनोहर वदन—मुख का स्पर्श करता है—आपके वैराग्यपूर्ण मुखमुद्रा का ध्यान करता है तब वह आपके समान वैराग्यपूर्ण हो जाता है। ठीक ही है क्योंकि दूध में मिला हुआ पानी क्या दूध या दूध के समान नहीं हो जाता? अवश्य हो जाता है।।२२।।

[२ ३]

असि शशी सितशीतसुधाकरैः, स्वगतशुद्धगुणैश्च सदा करैः।

यदि न दृक्सलिलं समभावि भो! मम मनोमणितो न झरेद्विभो! ।।

भो! विभो! (त्वम्) सितशीतसुधाकरैः स्वगतशुद्धगुणैः करैः च सदा शशी असि । यदि न (असि तर्हि) मम मनोमणितः समभावि दृक्सलिलं न झरेत् ।

असीतिभो!विभो! हे स्वामिन्! त्वं सितशीतसुधाकरैः सिता समुज्ज्वला शीता शान्तिदायिनी च या सुधा पीयूषं तस्या आकरैः खनिभिः, स्वगतशुद्धगुणैः स्वगता आत्मस्थिता ये शुद्धगुणा निर्दोषगुणास्तैः । च समुच्चयार्थः। एतद्रूपैः करैः किरणैः सदा शशी चन्द्रोऽसि यदि न यद्येवं न, तर्हि मम स्तोतुः मनोमणितः मन एव मणिश्चंद्रकांतस्तस्मात्, समभावि सद्यः समुत्पद्यमानं दृक्सलिलं दृगेव सलिलमिति दृक्सलिलंसम्यग्दर्शननीरं हर्षाश्रु वा न झरेत् न निश्च्योतेत् । यथा चंद्ररश्मिभिश्चंद्रकांतमणितो जलं निश्च्योतति तथा तव दर्शानामम मनोमणितः सम्यग्दर्शनसलिलं प्रकटीभवति, त्वां दृष्ट्वा मम हर्षाश्रुणि पतन्तीति वा।।२३।।

अर्थ-हे विभो! आप उज्ज्वल-शान्तिदायी सुधा के खान स्वकीय शुद्धगुणरूप किरणों से सदा चंद्रमारूप हैं। यदि ऐसा नहीं है तो मेरे मनरूपी चंद्रकान्तमणि से तत्काल सम्यग्दर्शनरूप जल न झरता ।

भावार्थ-जिस प्रकार चंद्रकिरणों का स्पर्श होने पर चंद्रकांत मणि से पानी झरने लगता है, उसी प्रकार आपका ध्यान आने से मेरे मन में सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है॥२३॥

[२४]

विमदवञ्चितविश्वमकं पते! सुमन एति न भूभृदकंप! ते ।

निजपदं ह्यय एव विभावतः, स्त्यजति नो कनकं भुवि भावतः ॥

हे पते! भूभृदकंप! ते सुमनः अकम् न एति। विगदवंचितविश्वं म.तु (एति) (उचितमेव) अयः एव विभावतः निजपदम् त्यजति (किन्तु) भुवि कनकं (निजपदम्) नो (त्यजति)।

विमदेति- हे पते! हे स्वामिन्! हे भूभृदकंप! भूभृद इवाकम्पस्तत् सम्बुद्धौ सुदृढधैर्यशालिन्! इति यावत् । ते तव सुमनः शोभनहृदयं विषयाशाञ्च्युतचित्तं । अकं पापं 'अकं दुःखाघयोः' इति विश्वलोचनः । न एति न प्राप्नोति । किंतु विमदवञ्चितविश्वं विविधैर्मदैर्वञ्चितं प्रतारितं यद् विश्वं जगत् तत् अकं पापं एति । हि यतः विभावतो विरुद्धपरिणमनात् अय एव लोह एव निजपदं स्वस्थानं त्यजति मुञ्चति । भुवि पृथिव्यां कनकं स्वर्णं भावतः स्वरूपस्थैर्यात् नो त्यजति नो मुञ्चति । यथा लोहः पङ्कपतितो विकारं प्राप्नोति तथा स्वर्णं न प्राप्नोति । यथा विषयानुरक्तं जगद् विकृतिं याति तथा भवञ्चितं पर्वतवन्निश्चलत्वाद्विकृतिं न यातीति भावः ॥२४॥

अर्थ-हे पर्वत के समान अकम्प रहने वाले प्रभो! आपका प्रशस्त हृदय अक - पाप को नहीं प्राप्त होता किंतु विविध प्रकार के मदों से प्रसारित जगत् अक को प्राप्त होता है । यह उचित ही है क्योंकि पृथिवी पर विरुद्ध परिणमन के कारण लोहा ही अपने स्वभाव को छोड़ता है, स्वर्ण नहीं ।

भावार्थ-पृथिवी पर स्पष्ट देखा जाता है कि कीचड़ के संग से लोहा ही अपने स्वभाव को छोड़ता है, स्वर्ण नहीं । इसी प्रकार जगत् के अन्य जीवों का मन विकृति को प्राप्त होता है, वैराग्यभाव से सहित आपका मन नहीं । आप सुदृढचित्त जो हैं ॥२४॥

असि शुचिश्च शशीव सुकेवली, गमित इत्यपि नो कुधियाऽबली।

असित एव शशी कुदृशा सितः, सदय! यद्यपि यः सुदृशा शितः ॥

हे सदय! शशी इव शुचिः सुकेवली च असि (तथापि) कुधिया अपि नो इति गमितः (किन्तु) अबली (गमितः) यद्यपि यः शशी सुदृशा शितः (ज्ञातः) (तथापि) कुदृशा असितः एव सितः।

असीति- हे सदय! दयया सहितः सदयस्तत्सम्बुद्धौ, हे सकृप! यद्यपि त्वं शशीव चन्द्र इव शुचिर्निर्मलः सुकेवली शोभनकेवलज्ञानयुक्तः! असि वर्तसे। तथापि कुधिया मिथ्याज्ञानयुक्तेन जनेन तथा न गमितो न स्वीकृतः। अपि तु अबली न बली अबली अनन्तबलरहित इति गमितः स्वीकृतः। तदेवोदाहरति - यद्यपि कुदृशा विकृतदृष्टियुक्तेन जनेन शशी चन्द्रः असितो न सितोऽसितः श्वेतवर्णरहितः सितो ज्ञातः 'सितं श्वेतसमाप्तयोः त्रिषु ज्ञातेऽपि बद्धेऽपि' इति विश्वलोचनः। तथापि सुदृशा निर्विकृतदृष्टियुक्तेन शितः शुक्लः एव सितो ज्ञातः 'शितः कृष्णे सिते भूर्जे' इति विश्वलोचनः। यथा विकृतलोचनो जनश्चन्द्रं विकृतं पश्यति तथा मिथ्यादृष्टिर्जनो भवन्तं विकृतं पश्यति, यथा च सुलोचनश्चन्द्रं यथार्थं पश्यति तथा सम्यग्दृष्टिरपि भवन्तं यथार्थं पश्यति श्रद्धातीति भावः ॥२५॥

अर्थ - हे कृपालु जिनेन्द्र! यद्यपि आप चन्द्रमा के समान उज्वल और उत्तम केवलज्ञान से युक्त हैं तथापि कुबुद्धिजन आपको वैसा नहीं मानते। वह आपको अबली—बलहीन मानते हैं। उचित ही है, क्योंकि विकृत नेत्रवाला—पीलिया रोगवाला मनुष्य चन्द्रमा को असित—पीला जानता है, परन्तु निर्विकार नेत्रवाला मनुष्य चन्द्रमा को सित—शुक्ल ही जानता है ॥२५॥

मतिरियं भवता मयि भाविता, रुचिमतो भवतीह विभाविता ।

जगदिदं क्षणिकं नहि रोचते, गुरुमुखं प्रविहाय गुरो! च ते ॥

हे गुरो! मयि इयं मतिः भवता अतः इह भवति विभौ च रुचिम् (सा) इता (अतः) ते गुरुमुखम् प्रविहाय इदम् क्षणिकम् जगत् च नहि रोचते ।

मतिरिति - हे गुरो! हे श्रेष्ठ! मयि स्तोतरि विद्यमाना इयं मतिर्बुद्धि र्यस्मात् कारणात् भवता जगदुद्धारकेण त्वया भाविता सुसंस्कारिता अतोऽस्मात्कारणात् इह जगति विभौ प्रभुत्वगुणसंयुक्त्वे त्वयि रुचिं श्रद्धां प्रीतिं वा इता प्राप्ता। च किञ्च ते तव गुरुमुखं श्रेष्ठमुखं प्रविहाय त्यक्त्वा इदमेतत् क्षणिकं भङ्गुरं जगत् न हि रोचते रुचिकरं नास्ति मह्यमिति शेषः। 'गुरुस्तु गीष्मतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति विश्वः ॥२६॥

अर्थ - हे गुरुदेव! मुझमें विद्यमान यह बुद्धि यतश्च आपके द्वारा सुसंस्कारित है अतः इस जगत् में एक आप में ही श्रद्धा को प्राप्त हुई है। अब मुझे आपके श्रेष्ठतममुख को छोड़कर यह नश्वर संसार अच्छा नहीं लगता।

भावार्थ - संसार के नश्वर भोग तभी तक अच्छे लगते हैं जब कि आप की श्रद्धा नहीं होती। यतश्च मेरी बुद्धि एक आप में ही संलग्न है अतः यह नश्वर जगत् मुझे रुचिकर नहीं है ॥२६॥

[२७]

सति हृदि त्वयि मेऽत्र विरागता, समुदिता गुणतामितरा गता ।

पयसि चेत् सुमणौ न पयोऽङ्ग ! त्दरुणतां किमु याति नियोगतः ॥

हे विभो! अत्र मे हृदि त्वयि सति विरागता समुदिता इतरा (रागता) गुणतां (इता) गता। चेत् सुमणौ पयसि (तदा) तत् पयः अरुणताम् किमु नियोगतः न याति (यात्येव)।

सतीति - अङ्ग! हे प्रभो! अत्रास्मिन् मे मम स्तोतुः हृदि हृदये 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः। त्वयि भवति सति विद्यमाने विरागता विरक्तिः रागाभावतेत्यर्थः समुदिता समुत्पन्ना इतरा सरागता गुणतामप्रधानतां गता प्राप्ता 'गुणो रूपादिसत्त्वादिबिम्बादिहरितादिषु। सूदे ऽ प्रधाने सन्ध्यादौ रज्जौ मौर्व्या वृकोदरे।' इति विश्वलोचनः। तदेवोदाहरति - चेद्यदि पयसि दुग्धे सुमणौ पद्मरागमणौ सति विद्यमाने तत्पयो दुग्धं उ वितर्के नियोगतो नियमेन किं अरुणतां रक्ततां न याति प्राप्नोति यात्येवेत्यर्थः। पयसि पद्मरागमणौ सत्येवारुणता तिष्ठति तदभावे च पलायते यथा, तथा मम हृदये त्वयि सत्येव विरागता तिष्ठति त्वदभावे च पलायते। त्वद्धानमेव विरागताकारणमित्यर्थः ॥२७॥

अर्थ - मेरे इस हृदय में आपके विद्यमान रहते हुये विरागता - वीतरागता प्रकट रहती है इससे भिन्न सरागता - अप्रधानता को प्राप्त हो नष्ट हो जाती है। ठीक ही है, यदि दूध में पद्मरागमणि रहता है तो वह दूध क्या नियम से लालिमा को प्राप्त नहीं हो जाता? अवश्य हो जाता है ॥२७॥

[२८]

विगतरागतया स्वमहिसया, शिवमित्तोऽसि जगन्नहि हिंसया ।

उचित्तमेव सदोचितसाधनं, भुवि ददाति शुभं सहसा धनम् ॥

हे जिन! विगतरागतया अहिसया शिवम् स्वम् इतः असि। हिंसया तु जगत् (नहि) (शिवम् इतम्)

उचितमेव सदा भुवि उचितसाधनम् शुभं धनं सहसा ददाति ।।

विगतेति - हे भगवन्! त्वं विगतरागतया वीतरागपरिणतिरूपया अहिंसया स्वं स्वकीयं शिवं सुखं मोक्षं वा 'शिवं मोक्षे सुखे जले' इति विश्वलोचनः। 'अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसा तु। तेषामेवोत्पत्तेर्हिंसैति जिनागमस्य संक्षेपः।।' इत्युक्तेर्विरागपरिणतेरहिंसात्वं सिद्धम्। जगत् लोकस्थितो जनो हिंसया सरागपरिणामेन शिवं मोक्षं सुखं वा नेतं न प्राप्तम्। उचितमेव युक्तमेवैतत् यत् भुवि पृथिव्यां उचितसाधनं योग्यनिमित्तं सदा सर्वदा सहसा झटिति शुभमिष्टं धनं वित्तं ददाति वितरति। वीतरागपरिणतिरेव मोक्षस्य सुखस्य वा कारणं, सरागपरिणतिः संसारस्य दुःखस्य वा कारणमित्यर्थः ॥२८॥

अर्थ - हे भगवन्! आप वीतरागतारूप अहिंसा से शिव - मोक्ष अथवा सुख को प्राप्त हुए हैं। इसके विपरीत सरागता रूप हिंसा से जगत् शिव - मोक्ष अथवा सुख को प्राप्त नहीं हो रहा है। यह उचित ही है कि पृथिवी पर योग्य साधन ही सदा इष्ट धन को शीघ्र देता है, अयोग्य साधन नहीं।

भावार्थ - वीतरागपरिणति सुख का और सरागपरिणति दुःख का कारण है ॥२८॥

[२९]

अनुदिनं त्वयि यो रमतेऽञ्जसा, भवति ते स समः समतेजसा ।

वपुरदोऽपि जडं परमं भवेन्ननु तदा चिदियं न भवेद् भवे ॥

हे भगवन्! त्वयि यः अनुदिनं रमते स अंजसा समतेजसा (साकं) ते समः भवति। भवे अदः जडं अपि वपुः परमं भवेत् (तदा) इयं चित् ननु न भवेत् (भवेदित्यर्थः)।

अनुदिनमिति - हे भगवन्! यो जनः अनुदिनं प्रत्यहं शश्वदित्यर्थः त्वयि भवति अञ्जसा याथार्थ्येन रमते रमणं करोति त्वत्स्वरूपं ध्यायतीत्यर्थः स जनः समतेजसा मया लक्ष्म्या सहितं समं, समं च तत्तेज इति समतेजः तेनानन्तचतुष्टयलक्ष्मीविलसितप्रभावेण ते तव समः सदृशो भवति। उचितमेवैतत् - यदा जडं ज्ञानरहितं अदस्तत् वपुरपि शरीरमपि परमं परमौदारिकत्वेन श्रेष्ठं भवेत् तदा भवे लोके इयमेषा चित् चेतना परमा न भवेत्? अपि तु भवेदेव। काकुप्रयोगः ॥२९॥

अर्थ - हे भगवन्! जो मनुष्य प्रतिदिन आप में रमण करता है - आपके ध्यान में लीन रहता है वह अनन्तचतुष्टयरूपलक्ष्मी से युक्त तेज से आपके समान हो जाता है। उचित ही है, कि जब वह अचेतन शरीर भी आपके सम्पर्क से परम-श्रेष्ठ परमौदारिक बन जाता है तब यह ज्ञानदर्शन सम्पन्न जीव क्या आपके समान नहीं हो सकेगा? अवश्य हो सकेगा ॥२९॥

[३०]

गुणगणैर्गुरुभिश्च समानतः, स्वचितये समगोऽसि समानतः ।

सनिजमात्र इवावनये नगः, कुसुमपत्रफलैश्च नयेऽनघः ॥

नये अनघः स नगः अवनये निजमात्रे कुसुमपत्रफलैः च समानतः इव हे! देव! स्वचितये गुरुभिः गुणगणैः समानतः असि। समानतः (हेतौ) समगः (असि) ।

गुणगणैरिति - नये नीतौ 'नयो द्यूतान्तरे नीतौ' इति विश्वलोचनः। अनघो निर्दोषः स प्रसिद्धो नगो वृक्षो। इव यथा। कुसुमपत्रफलैः कुसुमानि च पत्राणि च फलानि च तैः निजमात्रे स्वजनन्यै अवनये पृथिव्यै समानतः सम्यक्प्रकारेण समानतो भवति नम्रो जायते तथा गुरुभिर्दुर्भरैः गुणगणैः सम्यग्ज्ञानादिगुणसमूहैः त्वं स्वचितये स्वचितिस्तस्यै स्वकीयचेतनायै समानतोऽसि। इत्थं समानतः सदृशत्वात् हेतोः समगोऽसि समं सादृश्यं गच्छतीति तथासि। यथा लोकव्यवहारनिपुणो वृक्षः कुसुमपत्रफलनिचयैर्नग्नीभूतः सन् स्वजनदात्री धरां प्रणमतीव तथा दुर्भरैः ज्ञानादिगुणगणैः संगतस्त्वं गुणगणजन्मदात्री स्वकीयां चेतनां प्रणमसीति भावः ॥३०॥

अर्थ - हे भगवन्! जिस प्रकार नीति का निर्दोष पालन करने वाला वृक्ष पुष्प, पत्र और फलों से विनत हो अपनी जननी तुल्य पृथिवी के लिए प्रणाम करता है। उसी प्रकार बहुत भारी गुणसमूह से संगत आप गुणसमूह को उत्पन्न करने वाली स्वकीय चेतना को प्रणाम करते से जान पड़ते हैं ॥३०॥

[३१]

नहि रुचिस्तव तां प्रति काञ्चनप्रकृतभूतिमितोऽपि च काचन ।

गणधरैःशमिनस्तव गीयते, न गरिमा ममका तनुगीर्यते! ॥

हे यते! काञ्चन प्रकृत भूतिम् इतः अपि तव ताम् प्रति काचन रुचिः नहि (अस्ति)। तव शमिनः गरिमा गुणधरैः (अपि) न गीयते (तदा) मम तनुगीः का।

नहीति - हे यते! काञ्चनप्रकृतभूतिं काञ्चनेन स्वर्गेन प्रकृता प्रकर्षेण कृता रचिता या भूतिः छत्रत्रयसिंहासनादिसंपदं 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमरः। इतः एति गच्छति प्राप्नोतीति इत् तस्य 'इण्धातोः क्विबन्तप्रयोगः प्राप्नुवतोऽपि तव भवतस्तां प्रति काचन कापि रुचिः प्रीतिः नहि वर्तत इति शेषः। किञ्च, शमिनः प्रशमगुणोपेतस्य गरिमा गुरोर्भावो गरिमा गुरुता महत्त्वमिति यावत् गणधरैश्चतुर्ज्ञानधारिभिः गणेन्द्रैरपि न गीयते न गातुं शक्यते यदा, तदा मम स्तोतुः तनुगीः अल्पबुद्धिः का किं नामधेया? ॥३१॥

अर्थ - हे मुनीन्द्र! स्वर्णनिर्मित छत्रत्रयादि वैभव को प्राप्त होने पर भी आपकी उस ओर रुचि— प्रीति नहीं है। तथा अत्यन्त शान्त रहने वाले आपकी गरिमा — महिमा गणधरों द्वारा भी जब नहीं गायी जाती है तब मेरी अल्पवाणी क्या है? कुछ नहीं॥३१॥

[३२]

विशदविद्वनिता त्वयि तेऽज! सा, समनुभाति सदाव्ययतेजसा ।

शशिनि शीतकरैर्निशि वामतः, शशिकलैवमलं व्ययवामतः ॥

हे अज! ते सा विशदविद्वनिता त्वयि सदा अव्ययतेजसा समनुभाति। (किन्तु) शशिनि शीतकरैः निशि वामतः व्ययवामतः शशिकला एवं अलम्?

विशदेत्यादि - हे अज! न जायत इति अजः तत्सम्बुद्धौ। हे जन्मातीत! भगवन्! ते तव सा प्रसिद्धा विशदविद्वनिता विशदा व्यक्ता या विद् ज्ञानं सैव वनिता रमणी केवलज्ञानरमणी त्वयि भवति सदा शश्वत् अव्ययतेजसा अविनश्वरप्रतापेन समनुभाति विशोभते। किन्तु निशि नक्तं शीतकरैः शीतरश्मिभिः उपलक्षिते इति शेषः। शशिनि चन्द्रमसि शशिकला चन्द्रकला वामतः मेघात् मेघेनाच्छादितत्वादिति यावत् व्ययवामतो व्ययो विनाशस्तेन वामतः कौटिल्यात् अथवा विशिष्टोऽयः शुभावहो विधिस्तस्य वामतः वैपरीत्यात् हेतोः एवं केवलज्ञानरमणीवत् अलं नह्यस्ति। निषेधार्थेऽव्ययः। 'विषदविद्वनिता' इति पाठे विषं संसारपरिभ्रमणरूपं गरलं द्यति खण्डयतीति विषदा सा चासौ विच्चेति विषदविद् सैव वनिता रमणी केवलज्ञानलक्ष्मीरित्यर्थो योज्यः। 'वामः सव्ये हरे कामे धने वित्ते तु न द्वयोः' इति विश्वलोचनः। 'अयः शुभावहोविधिः' इत्यमरः॥३२॥

अर्थ - हे अज! जन्मातीत जिनेन्द्र! आपकी वह प्रसिद्ध केवलज्ञानरूपी रमणी आप में अपने अविनाशी तेज से सदा सुशोभित रहती है। परन्तु रात्रि के समय शीत रश्मियों से उपलक्षित चन्द्रमा में चन्द्रकला ऐसी नहीं है, क्योंकि वह वाम - मेघ से आच्छादित हो जाती है और भङ्गुर - नश्वर होने से वाम - कुटिलरूप भी है॥३२॥

[३३]

मुदमुपैमि मुनिर्मुनिभावतो, मुखमुदीक्ष्य विभो! सुविभावतः ।

जलभृतं जलदं जलदाध्वनि, किल शिखीव गतं सुगुरुध्वनिम् ॥

हे गुरो! विभो! जलदाध्वनि सुगुरुध्वनिम् गतम् जलभृतम् किल शिखी इव उदीक्ष्य सुविभावतः मुखम् (अहम्) मुनिः मुनिभावतः (उदीक्ष्य) मुदम् उपैमि।

'विषदविद्वनिता' इति पाठे ।

(८६)

मुदमिति - हे विभो! हे स्वामिन्! जलदाध्वनि जलदानां मेघानामध्वा मार्गस्तस्मिन् आकाशे सुगुरुध्वनिं सुगुरुश्चासौ ध्वनिश्च तं विपुलगर्जनं गतं प्राप्तं गर्जन्तमिति यावत् जलभृतं पयःपूर्णं जलदं मेघम्। उदीक्ष्य उन्मुखः सन् वीक्ष्य शिखीव मयूर इव मुनिः स्तोताहमित्यर्थः। मुनिभावतो मुनेरिव भावो मुनिभावस्तस्मात् सुविभावतः शोभना विभा दीप्तिरिति सुविभा सा विद्यते यस्य स सुविभावान् तस्य सुदीप्तिमतस्तव मुखं वदनं उदीक्ष्य विलोक्य मुदं हर्षं उपैभि प्राप्नोमि । किलेति वाक्यालङ्कारे ॥३३॥

अर्थ - हे विभो! आकाश में गरजते जलभरे मेघ को देखकर जिस प्रकार मयूर प्रमोद को प्राप्त होता है उसी प्रकार स्तुति करने वाला मैं, मुनि जैसे पवित्रभाव से उत्तमदीप्ति से युक्त आपका मुख देखकर प्रमोद को प्राप्त हो रहा हूँ ॥३३॥

[३४]

विभुरसीह सताम् जिनसंगतः, पृथगसीश सुखीति च संगतः ।

ननु तथापि मुनिस्तव संगतः, सुखमहं स्मय एष हि संगतः ॥

हे ईश! जिन! इह संगतः (सर्वगतत्वात्) सताम् विभुः असि। संगतः पृथक् इति सुखी असि च। तथापि एषः स्मयः हि अहम् मुनिः तव संगतः ननु सुखम् संगतः ।

विभुरिति - हे ईश! हे जिन! इह जगति संगतः समन्ताद् गतः संगतो ज्ञानेन लोकालोकव्यापकत्वात् त्वं सतां सत्पुरुषाणां विभुः प्रभुः असि वर्तसे। संगतः परिग्रहतः परजनसंसर्गाद् वा पृथक् असि। इति हेतोः सुखी चासि। तथापि एष स्मय आश्चर्यं यदहं मुनिः स्तोता तव भवतः संगतः संगत् संपर्कादिति यावत्। ननु निश्चयेन सुखमात्मोत्थसातं संगतः सम्यक्प्रकारेण प्राप्तः। हि पादपूर्ती ॥३४॥

अर्थ - हे ईश! हे जिन! इस जगत् में ज्ञान की अपेक्षा लोकालोक में व्याप्त होने से आप सत्पुरुषों के स्वामी हैं। संगतः - परिग्रह अथवा परजनसंपर्क से पृथक् हैं। अतः सुखी हैं। यद्यपि संग से पृथक् होने के कारण आप सुखी हैं, तथापि आपके संग से मैं मुनि आत्मसुख को प्राप्त हुआ हूँ। यह आश्चर्य है ॥३४॥

[३५]

लसति भानुरयं जिनदास! खे, नयति तापमिदं च सदा सखे!

जितरविर्महसा सुखहेतुकम्, उरसि मेऽस्ति तथात्र न हेतुकम् ॥

हे सखे! जिनदास! खे अयं भानुः लसति सदा तापम् इदम् (जगति च) नयति। (किन्तु) अत्र मे उरसि महसा जितरविः सुखहेतुकं अस्ति। तथा तुकम् (भां बालम्) (तापम्) न नयति।

लसतीति - स्तोता मुनिरन्यश्रमणं सम्बोधयितुमाह - हे सखे! अये सुहृद्! जिनदास! जिनसेवक! खे गगने अयं दृश्यमानो भानुरादित्यो लसति शोभते किञ्च, इदमेतत् जगदिति शेषः, तापं संतापं नयति प्रापयति किन्तु अत्र मे ममोरसि मामकीने हृदये महसा तेजसा जितरवि जितो न्यक्कृतो रविरादित्यो येन स आदित्यादपि तेजस्वी जिनो जिनेन्द्रः सुखहेतुकं सुखनिमित्तं यथास्यात्तथा अस्ति विद्यते किन्तु तुकं बालं मां भानुवत् तापकरो नास्ति। भानुस्तापकरो जिनस्तु तथा नेति व्यतिरेकः ॥३५॥

अर्थ - हे मित्र! हे जिनसेवक! आकाश में जो यह सूर्य सुशोभित हो रहा है वह इस जगत् को संताप प्राप्त कराता है। परन्तु तेज से सूर्य को जीतने वाले जिनेन्द्र, सुख के हेतु हो मेरे इस हृदय में विद्यमान हैं फिर भी सूर्यसदृश आप मुझ बालक को संताप नहीं करते।

भावार्थ - आकाश में रहने वाला सूर्य दूरवर्ती होकर भी संसार को संतप्त करता है। परन्तु सूर्य से भी अधिक प्रतापी और हृदयनिवासी होने पर भी जिनेन्द्र संतापकारी न होकर सुख के कारण हैं। इस तरह सूर्य और जिनेन्द्र में अत्यधिक विशेषता है ॥३५॥

[३६]

सुरनगः सुरगौः सुरवैभवं, सुरपुरे वितनोति च वै भवम् ।

भवविमुक्तिसुखं फलमेव च, स्तवनतस्तव साध्विति मे वचः ॥

हे ईश! सुरपुरे सुरनगः सुरगौः च सुरवैभवम् वै भवम् च वितनोति। (किन्तु) तव स्तवनतः भवविमुक्तिः सुखम् फलम् एव इति मे साधु वचः ।

सुरनग इति - हे ईश! सुरपुरे स्वर्गे सुरनगः कल्पवृक्षः सुरगौः सुरभिः कामधेनुरिति यावत् सुरवैभवं च देवैश्वर्यं च यद् विद्यते तत्सर्वं वै निश्चयेन भवं संसारं वितनोति विस्तारयति। किन्तु तव भवतः स्तवनतः स्तोत्रात् भवविमुक्तिसुखं भवात् संसारात् या विमुक्तिस्तदेव सुखं फलमेवं प्राप्यते। इतीत्थं मे मम स्तोतुः साधु समीचीनं वचः कथनम्। तव स्तवनस्य फलं मोक्ष एवेति भावः ॥३६॥

अर्थ - हे भगवन्! स्वर्ग में जो कल्पवृक्ष, कामधेनु और देवों का ऐश्वर्य है वह निश्चय से संसार को विस्तृत करता है। परन्तु आपके स्तवन से मुक्तिसुखरूपी फल ही प्राप्त होता है, ऐसा मेरा कहना है ॥३६॥

[३७]

सरसि ते स्तवने मम साधुता, शुचिमिता स्नपिता सहसा धुता ।

भुवि विभो! यदिदं मम चेतनं, स्तवनभाग्घ सतां द्युतिकेतनम् ॥

हे विभो! ते स्तवने सरसि मम साधुता शुचिम् इता स्नपिता सहसा धुता (च) भुवि यत् (यस्मात्) इदम् मम चेतनम् द्युतिकेतनम् सताम् स्तवनभाक् हि (भूतं) ।

सरसीति - हे विभो! हे नाथ! ते तव स्तवने सरसि स्तवनसरोवर इति यावत् मम स्तोतुः साधुता साधोर्भावः साधुता श्रमणता शुचिं पवित्रतां इता प्राप्ता, स्नपिता कृतस्नाना सहसा झटिति धुता प्रक्षालिता। भवत्स्तवनं विधाय मे श्रमणता पवित्रता जातेति भावः। भुवि पृथिव्यां यत् यस्मात्कारणात् इदं मम स्तोतुः चेतनं द्युति—केतनं केवलज्ञानाधारभूतं तस्मात् हि निश्चयेन सतां साधूनां स्तवनभाग् स्तुतिपात्रं भूतं जातं वा ॥३७॥

अर्थ - हे प्रभो! आपके स्तवनरूप सरोवर में मेरी श्रमणता - मेरी साधुवृत्ति पवित्रता को प्राप्त है, नहलायी गई है और शीघ्र ही धुल चुकी है— उज्वल हो चुकी है। यतश्च मेरा यह चैतन्यभाव केवलज्ञानरूप ज्योति का घर है, अतः निश्चय से सत्पुरुषों के स्तवन को प्राप्त हुआ है।

भावार्थ - वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र के स्तवन से ज्ञान में इतनी पवित्रता आती है— वीतरागता आती है कि वह ज्ञान केवलज्ञान रूप हो जाता है और तब वह गणधरादि सत्पुरुषों के स्तवन का आधार बन जाता है ॥३७॥

[३८]

असि सदात्मनि वेति मुनीरतः, परमशीतलको हिमनीरतः ।

अनलतो निजतां प्रविहायतद्दहति नाज विधेर्विधिहा यतः ॥

हे अज!(त्वम्) सदा आत्मनि रतः असि वा (निश्चयेन) इति मुनिः (असि) हिमनीरतः परमशीतलकः (असि) तत् (नीरम्) अनलतः निजतां प्रविहाय दहति (किन्तु त्वं) यतः विधिहा विधेः (कर्मणः) न (दहसि) ।

असीति - हे अज! जन्मातीत! त्वं सदा शश्वत् आत्मनि स्वस्वरूपे रतो लीनः। असि वाथवा इति हेतोरात्मनिरतत्वादित्यर्थः मुनिरसि ज्ञानविज्ञानसंपन्नोऽसि हिमनीरतः तुहिनजलात् परमशीतलोऽतिशीतलोऽसि स्वार्थे कः। अथवा परमशीतलः क आत्मा यस्य तथाभूतोऽसि। तद् जलं अनलतोऽग्नेः निजतां स्वकीयशीतलस्वभावतां प्रविहाय त्यक्त्वा दहति दाहं करोति। यतः कारणात् त्वं विधिहा विधिं कर्म हन्तीति विधिहा असि अतस्त्वं विधेः कर्मणो न दहसि ॥ ३८ ॥

अर्थ - हे अज! हे जन्मातीतजिनेन्द्र! आप सदा आत्मस्वरूप में रत—लीन हो अथवा निश्चय से मुनि हो। बर्फ के पानी से अत्यधिक शीतल हो। वह पानी अग्नि से

स्वस्वरूप को — निजीशीतलता को छोड़कर जलाने लगता है, परन्तु आप विधिहा—कर्म को नष्ट करने वाले होने से कर्म से जलते-जलाते नहीं हो।

भावार्थ - कर्मरूप पुद्गल, अपना प्रभाव रागी-द्वेषी जीवों पर ही डालते हैं, वीतराग पर नहीं ॥३८॥

[३९]

सुरमणी प्रथमा प्रगुणावलिः, तव परा च शुचिः सुगुणावलिः ।

विरमतीव रतिश्च सति त्वयि, त्रिभुवनप्रगताऽपि सती त्वयि! ।।

अयि देव! तव प्रथमा प्रगुणावलिः सुरमणी परा च शुचिः सुगुणावलिः (किन्तु) त्वयि सति रतिः इव (प्रथमा) विरमति (परन्तु) त्रिभुवनप्रगता अपि सती (विरोधः) ।

सुरमणीति - अयि देव! प्रगुणावलिः प्रकृत-गुणानां श्रेष्ठगुणानामावलिः पङ्क्तिस्तव भवतः प्रथमैका सुरमणी शोभना रमणी सुरमणी श्रेष्ठभार्या। अस्तीति शेषः। शुचिः समुज्ज्वला सुगुणावलिः कीर्तिश्च तव परा द्वितीया भार्यास्ति। अनयोराद्या रतिरिव सति प्रशस्ते त्वयि भवति विरमति विशेषेण रमते तु किन्तु द्वितीया त्रिभुवनप्रगतापि जगत्त्रयगामिन्यपि सती पतिव्रतेति विरोधः ॥३९॥

अर्थ - अये देव! उत्तमगुणावली आपकी प्रथम सुभार्या है और उज्ज्वलकीर्ति द्वितीय सुभार्या है। इनमें प्रथम सुभार्या तो रति की तरह एक आप में ही विशेषरूप से रमती है, परन्तु द्वितीय सुभार्या त्रिभुवन में जा कर भी सती है। यह कैसा विरोध है? ॥३९॥

[४०]

परिचयात् तव यत्त्वयि मे मनो, विशति शामितवामवमे! मनो! ।

सुरनरैर्मुनिभिर् यशसामिते, नदपतौ नदवत् सहसाऽमिते ।।

हे शामितवामवमे! मनो! तव परिचयात् सुरनरैः मुनिभिः यशसाम् इते त्वयि मे यत् मनः सहसा अमिते नदपतौ नदवत् विशति।

परिचयादिति - हे शामितवामवमे! वामः काम एव वमिरग्निर्वामवमिः शामितो विध्यापितो वामवमिर्येन तत्सम्बुद्धौ। 'वामः सव्ये हरे कामे' 'वमिः स्यात्पावके पुंसि' इति च विश्वलोचनः। हे मनो! हे भगवन्! तव परिचयात् परिचयकारणात् सुरनरैर्देवमनुष्यैः मुनिभिर्यतिभिः यशसां कीर्तीनाम् इते प्रापिते त्वयि मे स्तोतुर्मनो हृदयं सहसा झटिति अमिते सुविस्तृते नदपतौ सागरे नदवत् महानदीव विशति प्रविशति मम मनो यत् त्वयि विशति तत् तव परिचयादेव विशति। सततं तव गुणचिन्तनं हि परिचयः ॥४०॥

अर्थ - हे कामाग्नि को शान्त करने वाले भगवन्! देव, मनुष्य और मुनियों के द्वारा यश को प्राप्त आप में, असीम समुद्र में नदी के समान जो मेरा मन प्रविष्ट हो रहा है वह आपके परिचय - सतत गुणचिंतन से हो रहा है ॥४०॥

[४१]

विकचकंजजयक्षमनेत्रकं, करुणकेसरकं भुवनेऽत्र कम् ।

मम सुदृक् सततं सहसेव ते, सरसिजं भ्रमरोऽप्यनुसेवते ॥

हे! भुवनेश्वर! अत्र भुवने ते करुण-केसर-कं कं विकचकंजजयक्षमनेत्रकम् मम सुदृक् अपि सहसा सरसिजम् भ्रमरः इव अनुसेवते।

विकचेति - हे भुवनेश्वर! अत्र भुवने लोकेऽस्मिन् विकचकंजजयक्षमनेत्रकं विकचं विकसितं यत्कंजं कमलं तस्य जये क्षमे शक्ते नेत्रे नयने यस्मिन् तत्। करुणकेसरकं करुणस्य वृक्षस्य केसर इव केसरो यस्मिंस्तत्। 'करुणस्तु रसे वृक्षे' इति विश्वलोचनः। ते तव कं मस्तकं मुखमिति यावत्। मम स्तोतुः सुदृक् सुदृष्टिरपि भ्रमरः षट्पदः सरसिजमिव कमलमिव सहसा झटिति सततं शाश्वत् अनुसेवते निरन्तरं भूयो वा सेवते पश्यतीत्यर्थः ॥४१॥

अर्थ - जिसके नेत्र प्रफुल्ल कमल को जीतने में समर्थ हैं तथा जिस पर वृक्ष की केसर के समान केशर सुशोभित हैं, ऐसे आपके मुख को इस जगत् में मेरी दृष्टि भी निरन्तर सहसा उस तरह सेवित करती है, जिस तरह भ्रमर कमल को सेवित करता है।

भावार्थ - जिस प्रकार भ्रमर कमल की सेवा करता है, बार-बार उस पर बैठता है, उसी प्रकार मेरी दृष्टि भी आपके मुख की सेवा करती है - बार-बार उसे ही निहारती है ॥४१॥

[४२]

विषयसक्तखसामजकन्दरः, कुमदतापितविश्वककन्धरः ।

विधिवनानलकोसि भयंकरो, भयवते जगते ह्यभयङ्करः ॥

हे भगवन्! भयवते जगते अभयङ्करः असि। विषयसक्तखसामजकन्दरः असि कुमदतापितविश्वककन्धरः (असि) भयङ्करः विधिवनानलकः (असि)।

विषयेति - हे भगवन्! त्वं विषयसक्तखसामजकन्दरः विषयेषु रूपादिषु सक्तानि यानि खानीन्द्रियाणि तान्येव सामजा गजास्तेषां कन्दरोऽङ्कुशः असि। 'अङ्कुशे पुंसि

कन्दरः' इति विश्वलोचनः। कुमदतापितविश्वककन्धरः कुमदेन कुत्सिताहङ्कारेण तापितं यद् विश्वकं भुवनं तस्य कन्धरो जलदे ऽसि। 'कन्धरः पुंसि जलधरे' इति विश्वलोचनः। विधिवनानलकः विधिवनं कर्मारण्यं तस्य अनलको वह्निरसि। कथंभूतः? भयङ्करो भयोत्पादकः प्रचण्ड इति यावत्। भयवते भयोपेताय जगते भुवनाय हि निश्चरेः न अभयङ्करोऽसि अभयप्रदातासि ॥४२॥

अर्थ - हे भगवन्! आप विषयों में आसक्त इन्द्रियरूपी हाथियों के लिए अंकुश हैं। खोटे मर्दों से संतापित जगत् के लिये मेघ हैं। कर्मरूपवन को भस्म करने के लिए प्रचण्ड दावानल हैं और भयभीत जगत् के लिये अभय प्रदान करने वाले हैं ॥४२॥

[४३]

गतगतिः सगतिश्च सदागतिः, मम तपोऽनलदीप्तिसदागतिः ।

भव भवोप्यभवो भवहानये, निजभवो गतमोहमहानये! ॥

हे! अये! भगवन्! गतगतिः सगतिः सदागतिः च असि (अतः) मम तपोनलदीप्ति सदागतिः भव। गतमोहमहान् निजभवः भवः (अपि असि) (अतः) मम भवहानये अभवः अपि(भव)।

गतगतिरिति - अये भगवन्! त्वंगतगतिः गता नष्टा गतयो नरनारकाद्यवस्था यस्य तथाभूतोऽसि। त्वं सगतिः गत्या ज्ञानेन सहितः सगतिः असि। 'गतिर्दशायां गमने ज्ञाने मर्माऽभ्युपाययोः' इति विश्वलोचनः। किंच सदागतिः सदीश्वरोऽसि। 'सदागतिर्गन्धवाहे निर्वणिऽपि सदीश्वरे' इति विश्वलोचनः। मम स्तोतुर्मुनेः तपोऽनलदीप्तिसदागतिः तप एवानलो वह्निस्तस्य दीप्तौ सदागतिः समीरणो वायुरिति यावत् भव। भवोऽपि श्रेयोरूपोऽपि अभवो न श्रेयोरूप इति विरोधः पक्षे नास्ति भवो जन्म संसारो वा यस्य एवंभूतस्त्वं मम भवहानये भवस्य संसारस्य हानिस्तस्यै भव। अथवा त्वं मम भवहानये संसारहानये अभवः आसीः। लङ्मध्यमैकवचने भूधातुप्रयोगः। 'भवः श्रीकण्ठसंसारश्रेयःसत्ताप्तिजन्मसु' इति विश्वलोचनः। गतमोहमहान् गतो विनष्टो मोहो यस्य गतमोहः स चासौ महानिति गतमोहमहान् गतमोहत्वान्महानिति यावत् अथवा गतमोह इति सम्बुद्ध्यन्तं पृथक् पदम्। निजभवो स्वयंभूरसि ॥४३॥

अर्थ - अये भगवन्! आप नरकादि गतियों से रहित हो, ज्ञान से सहित हो, ईश्वर हो, मेरी तपरूपी अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए वायु हो, कल्याणरूप होकर भी कल्याणरहित (पक्ष में संसार से रहित) हो। अतः आप मेरे संसार को नष्ट करने के लिये हों, मोह के नष्ट हो जाने से आप महान् तथा स्वयंभू हो ॥४३॥

[४४]

अघततिः सघना प्रखरामिता, तव नुते रितिमीश!तरामिता ।

वियति पूर्णतया ह्यपि वा ततः, स लय माशु घनोऽयति वाततः ॥

हे ईश!सघना प्रखरा अमिता अघततिः तव नुतेः तराम् इतिम् इता। वियति पूर्णतया अपि ततः स घनः वाततः आशु लयं अयति। वा (निश्चयेन)।

अघततिरिति - हे ईश! सघना निविडा, प्रखरातितीक्ष्णा, अमिता अपरिमाणा, अघततिः पापपङ्क्तिः तव भवतः नुतेः स्तवनात् तराम् सातिशयरूपेण इति विनाशं इता गता प्राप्ता। वियति व्योम्नि 'खं विहायो वियद्व्योमगगनाकाशमम्बरं' इति धनञ्जयः। पूर्णतयापि सामस्त्येनापि ततो विस्तृतः स प्रसिद्धो घनो मेघो वाततो वायोः आशु शीघ्रं वा यथा 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरिवार्थेऽपि समुच्चये' इत्यमरः। लयं विनाशं। अयति गच्छति। 'इटकिटकटी गतौ' इत्यत्र प्रश्लिष्टस्य भौवादिकस्य 'इ' धातोः परस्मैपदप्रयोगः ॥४४॥

अर्थ - हे ईश! सघन, अतितीक्ष्ण तथा अपरिमित पापपङ्क्ति आपके स्तवन से नाश को प्राप्त हो गई है। जैसे कि आकाश में पूर्णरूप से विस्तृत मेघ भी वायु से शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाता है ॥४४॥

[४५]

चरणयुग्ममिदं तव मानसः, सनखमौक्तिक एव विमानसः॥

भृशमहं विचरामि हि हंसक! यदिह तत्तटके मुनिहंसकः ॥

हे हंसक! हे विमानस! तव इदम् चरणयुग्मम् सनख-मौक्तिकः मानसः एव (अस्ति)। यत् (यस्मात्) तत्-तटके इह अहं मुनिहंसकः हि भृशं विचरामि।

चरणेति- हे विमानस! विगतं मानसं भावमनो यस्य तत्सम्बुद्धौ। हे हंसक! हंस एव हंसकः तत्सम्बुद्धौ। हे आत्मरूप! 'हंसः पक्ष्यात्मसूर्येषु' इत्यमरः। सनखमौक्तिकं नखान्येव मौक्तिकानि नखमौक्तिकानि तैः सहितं। इदमेतत् तव भवतः चरणयुग्मं पादयुगलमेव मानसो मानससरोऽस्ति। हि निश्चयेन यद् यस्मात् अहं मुनिहंसको मुनिरेव हंसको मुनिमरालः। इहात्र तत्तटके तस्य चरणयुग्ममानससरोवरस्य तटके तीरे भृशमत्यर्थं विचरामि विहरामि ॥४५॥

अर्थ - हे विमानस! हे आत्मरूपहंस! नखरूप मोतियों से सहित आपका यह चरण युगल ही मानसरोवर है। इसीलिये तो उसके इस तट पर मैं मुनिरूपी हंस अत्यधिक विचरता हूँ।

भावार्थ - आपके चरणयुगल के समीप विचरण करता हूँ ॥४५॥

[४६]

मतिरिता भवतो मम सा दरं, पदयुगे शरणे तव सादरम् ।

स्वपिति मातुरसौ सुखधातरि, शिशुरिहाङ्क इवाभयदातरि ॥

सुखधातरि अभयदातरि मातुः अङ्के असौ शिशुः इव हे शरण्य! भवतः दरम् इतासा मम मतिः तव शरणे पदयुगे सादरम् स्वपिति।

मतिरिति — हे शरण्य! सुखधातरि सुखधारके अभयदातरि भयाभावदायके मातुर्जनन्या अङ्के क्रोडे शिशुरिव बालक इव भवतः संसारात् दरं भीतिं 'दरोऽस्वी भीतिगर्तयोः' इति विश्वलोचनः। इता गता सा प्रसिद्धा मम स्तोतुः मतिः प्रज्ञाः शरणे रक्षके 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः, तव पदयुगे चरणयुगले सादरं ससन्मानं यथा स्यात्तथा स्वपिति । भवभ्रमणाद् भीता मम मतिर्भवच्चरणयुगले विश्रान्तेति भावः ॥४६॥

अर्थ - हे शरण्य! सुखधारक एवं अभयदायक माता की गोद में शिशु के समान मेरी बुद्धि संसार से भयभीत हो शरणभूत आपके चरणयुगल में आदर के साथ शयन कर रही है - लीन हो रही है ॥४६॥

[४७]

स्वकमयं ह्यपि नोऽलभमानतः, किमु सुखी विकलः किल मानतः।

उपगतोऽभयमेव च दुःखत, इह भवे सहितो भवदुःखतः ॥

जिन प्रसंगे- अपि नः मनुज! अयं (जिनः) किल मानतः विकलः किमु नो सुखी। दुःखतः अभयम् एव च उपगतः इव भवे भवदुःखतः असहितः। (मम प्रसंगे) दुःखतः भयम् एव उपगतः इह भवे भवदुःखत सहितः मानतः (विज्ञानतः) विकलः स्वकम् अलभमानतः सन् किमु सुखी।

स्वकमिति - जिने स्वस्मिन् च वैशिष्ट्यं प्रदर्शयति। (जिनप्रसंगे) हि निश्चयेन हे मनुज! अयं जिनः किल मानतो गर्वात् विकलो रहितः किमु नो सुखी? अपि तु सुख्येव। भवदुःखतः सांसारिकदुःखात् अभयमेव चोपगत एव भवे संसारे भवदुःखतः जन्मदुःखतः असहितो रहितः। (मम प्रसङ्गे) दुःखतो भयं एवोपगत इह भवे भवदुःखतः सहितः। मानतो विज्ञानतो विकलः स्वकम् आत्मानम् अलभमानतः सन् अयं किमु सुखी? अपि तु न। ॥४७॥

अर्थ - (जिनदेव के प्रसङ्ग में) हे मेरे मानव! यह जिनेन्द्रदेव मान — गर्व से रहित हैं, तो क्या सुखी नहीं हैं? दुःख से अभय को ही प्राप्त हुए के समान संसार में जन्म सम्बन्धी दुःख से क्या रहित नहीं हैं? (अपने प्रसङ्ग में) दुःख से भय को प्राप्त हुआ नव इस भव में जन्म सम्बन्धी दुःख से सहित है, मान — विज्ञान से रहित है फलस्वरूप आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं होता हुआ क्या सुखी है? अर्थात् नहीं है ॥४७॥

[४८]

शिवपथे चरता व्रतसंगतः, प्रसमयोऽपि मया जिनसंगतः ।

ननु कियत् सदनं प्रविराजते, प्रवद दूरमितोऽप्यजराज ! ते ॥

हे जिन ! अजराज ! व्रत संगतः मया शिवपथे चरता प्रसमयः अपि संगतः (अतः) ते सदनम् ननु इतः कियत् दूरम् प्रविराजते प्रवद ।

शिवपथ इति - हे जिन ! हे अजराज ! अजानां जन्मरहितानां राजा अजराजस्तत्सम्बुद्धौ । व्रतसंगतो व्रतप्राप्तेः शिवपथे मोक्षमार्गे चरता गच्छता मया प्रसमयोऽपि दीर्घकालोऽपि संगतो व्यतिगमितः । अतस्ते सदनं गृहं इतोऽपि अस्माद् भवात् कियत् दूरं प्रविराजते शोभते इति प्रवद कथय । प्राप्तव्यपुरपद्धतौ चिरं ब्रजन्नपि जनो यदा स्वेष्टपुरं न प्राप्नोति तदा स पुरस्तादायातं कञ्चित्पृच्छति कियद्दूरं तत्पुरं वर्तते इति ? एवं चारित्रं गृहीत्वा मोक्षमार्गे चिरं चरन्नपि यदा मोक्षं न प्राप्नोति तदा स भगवन्तं पृच्छति - कियद्दूरं वर्तते ते सदनमिति ॥४८॥

अर्थ— हे जिन ! हे अजराज ! व्रतधारण कर मोक्षमार्ग में विचरते हुए मैंने अधिक समय व्यतीत किया है । अतः निश्चय से आप कहिये कि आपका वह सदन यहाँ से कितनी दूर सुशोभित हो रहा है ॥४८॥

[४९]

अमितभा सति भाति विभावतः, परमभानु रसीशविभावतः ।

वद कथं यदि नोऽप्यमलोद्भवेन्मम तपोमणितोऽप्यनलो भवे ॥

हे ईश ! अमल ! विभावतः (तव) अमितभा सति विभौ भाति भवे अतः परमभानुः असि । यदि नो मम तपोमणितः अपि अनलः कथं उद्भवेत् (इति) वद ।

अमितभेति - हे ईश ! हे अमल ! कर्मकालुष्यरहितत्वाद्विमल ! विभावतः विभा प्रभा विद्यते यस्य स विभावान् तस्य तव अमितभा अपरिमितदीप्तिः विभौ त्वयि सति विद्यमाने भाति शोभते अतस्त्वं भवे लोके परमभानुः श्रेष्ठादित्योऽसि । यदि नो, त्वमादित्यो नासि चेत्तर्हि मम स्तोतुः तपोमणितस्तप एव मणिः सूर्यकान्तस्तस्मादपि अनलोऽग्निः कथमुद्भवेत् उत्पद्येत ? इति वद ॥४९॥

अर्थ - हे ईश ! हे अमल ! विभासम्पन्न आपकी अपरिमित प्रभा आप विभु के रहते हुए ही सुशोभित होती है । अतः इस जगत् में आप उत्कृष्ट सूर्य हैं । यदि ऐसा नहीं है, तो मेरे तपरूपी सूर्यकान्तमणि से अग्नि क्यों प्रकट होती है ? ॥४९॥

[५०]

कुरु कृपां करुणाकर!केवलं, क्षिप विदीश!विदं मयि के बलम्।
तनुचितोः प्रविधाय विभाजनं, निजमये यदरं सुखभाजनम् ॥

हे करुणाकर! विदीश!केवलं कृपां कुरु मयि विदम् क्षिप, के (आत्मनि) बलं क्षिप। यत् (यस्मात्) तनुचितोः विभाजनम् प्रविधाय सुखभाजनम् निजम् अरम् अये।

कुर्विति - हे करुणाकर! दयाकर! हे विदीश! विदो ज्ञानस्येशस्तत्सम्बुद्धौ। केवलं मात्रं कृपामनुकम्पां कुरु विधेहि। मयि स्तोतरि विदं ज्ञानं क्षिप। के आत्मनि। 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु' इति विश्वलोचनः। बलं वीर्यं क्षिप स्थापय। यत् यस्मात् तनुचितोः शरीरात्मनोर्विभाजनं विभागं प्रविधाय कृत्वा सुखभाजनं सुखपात्रं निजं स्वकीयमात्मानं अरं क्षिप्रं 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः। अये प्राप्नोमि ॥५०॥

अर्थ - हे दयाकर! हे ज्ञानेश्वर! मुझ पर कृपा करो, मुझमें ज्ञान डालो और मेरी आत्मा में बल स्थापित करो। जिससे मैं शरीर और आत्मा का विभागकर सुख के पात्रस्वरूप निज आत्मा को शीघ्र प्राप्त हो जाऊँ ॥५०॥

[५१]

समयशामितरागविभावसुरूपगतः स्वयमेव विभावसु ।

मयि तथापि सरागतमालये, वससि देव कथं नियमालये ॥

हे देव!समयशामितरागविभावसुः(असि)स्वयम् एव विभावसु (बोधधनं) उपगतः (असि) तथापि मयि सरागतमालये नियमालये कथं वससि ?

समयेति-हे देव! त्वं समयशामितरागविभावसुः समयेन संविदा शामितो विध्यापितो राग एव विभावसुरग्निर्येन स तथाभूतोऽसि । 'समयः शपथाचारकालसिद्धांतसंविदः' इत्यमरः । अथवा समयेन शामिता दूरीकृता रागो रतिरेव विभावसुर्निशा येन तथाभूतोऽसि । विभावसु विभैव वसु धनं । 'वसुतोये धने मणौ' इति कोषः । स्वयमेव स्वेनैव उपगतः प्राप्तोऽसि यद्यपि । तथापि सरागतमालये राग एव तमं ध्वान्तं रागतमं तेन सहित आलयस्तस्मिन् । 'ध्वान्तं संतमसं तमस्' इति धनंजयः । नियमालये नियंत्रणस्थाने मयि स्तोतरि कथं केन कारणेन वससि? निवासं करोषि? भवान् प्रकाशपुञ्जोऽहं च तिमिरालयः । द्वयोर्महदन्तरमस्तीति भावः ॥५१॥

अर्थ-हे देव ! यद्यपि आप विज्ञान से रागरूपी अग्नि तथा निशा को नष्ट करने वाले हैं और आप स्वयं ही विभारूपी धन को प्राप्त हुए हैं, तथापि रागरूपी अंधकार के घर तथा नियमों के स्थानभूत मुझमें क्यों निवास कर रहे हैं । तात्पर्य यह है कि मैं सराग एवं अज्ञानी होता हुआ भी आपका ध्यान करता हूँ ॥५१॥

[५२]

समयते निखिलं व्यवहारतः, स्वसमये नियतं भवहा! रतः ।

सहजवृत्तिरियं हि सदा सतां, प्रवहतां जगतां न खदासताम् ॥

हे भगवन्! स्वसमये नियतं रतः भवहा! (अस्ति) (अतः) निखिलं व्यवहारतः समयते। सतां हि इयं सहजवृत्तिः सदा (अस्तु) खदासतां प्रवहतां जगतां न (अस्तु) ।

समयत इति-हे भवहा! भवं संसारं जहातीति भवहास्तत्सम्बुद्धौ। विश्वपावत् क्विबंतप्रयोगः । नियतं यथास्यात्तथा निश्चयनयेनेत्यर्थः । त्वं स्वसमये स्वात्मनि रतो लीनोऽस्तीति शेषः। व्यवहारतो व्यवहारनयात् निखिलं सर्वं लोकालोकमिति यावत् समयते जानाति। निश्चयेन भवानात्मज्ञो व्यवहारेण सर्वज्ञ इति भावः । हि यतः । इयमेषा सहजवृत्तिः स्वभावपरिणतिः सतां साधूनां सदा सर्वदास्ति । खदासतां खानामिन्द्रियाणां दासतामधीनतां 'खमिद्रियं हृषीकं च स्रोतोऽक्षं करणं विदुः' इति धनंजयः । प्रवहतां दधतां प्राप्नुवतां वा जनानां नास्तीति शेषः ॥५२॥

अर्थ-हे भवहा! संसार का परित्याग करने वाले जिनेन्द्र! निश्चयनय से आप स्वसमय - शुद्धात्मस्वरूप में लीन हैं- उसी को जानते हैं और व्यवहारनय से सबको जानते हैं क्योंकि यह सहजवृत्ति - स्वाभाविक परिणति साधुजनों की सदा रहती है, इंद्रियों की दासता को धारण करने वाले - असाधुजनों की नहीं रहती ॥५२॥

[५३]

नहि जगज्जिन पश्यसि वस्तुतः, सततमात्मपदं तु भवस्तुतः ।

त्वदुपयोगतले शुचिदर्शनिऽवतरतीव तदेव तु दर्शने ॥

हे जिन! भवस्तुतःवस्तुतः सततं आत्मपदं पश्यसि नहि जगत् तु (पश्यसि) (यतः) शुचि दर्शने त्वदुपयोगतले दर्शने इव तदेव तु (जगत् एव) अवतरति ।।

नहीति- हे जिन! भवस्तुतो भवेन संसारेण स्तुतस्त्वं वस्तुतः परमार्थतः सततं सदा आत्मपदं स्वस्वरूपं पश्यसि विलोकसे जानासि जगत् तु लोकं तु नहि पश्यसि । यतः शुचिदर्शने शुचि समुज्ज्वलं दर्शनं यस्य तस्मिन् त्वदुपयोगतले तव उपयोगस्त्वदुपयोगस्तस्य तले स्वरूपे । 'स्वरूपानूर्ध्वयोस्तलम्' इत्यमरः । तदेव जगत्तु दर्शने दर्पणे अवतरतीव प्रतिफलतीव यथा घटपटादयोऽर्था दर्पणतले प्रतिफलन्ति तथा जगदेतत् त्वदुपयोगतले केवलज्ञानमध्ये प्रतिफलतीत्यर्थः ॥५३॥

अर्थ- हे जिन! संसार - सभी-जनों के द्वारा स्तुत आप यथार्थ से निरंतर आत्मपद-स्वरूप को देखते हैं-जानते हैं जगत् को नहीं। वही जगत् निर्मल दर्शन वाले आपके उपयोगतल में - केवलज्ञान में दर्पण की तरह प्रतिफलित होता है ॥५३॥

[५४]

समयसारत ईश!न सारतः, सविकलो विषयाज्जडसारतः।

जगति मक्षिकयैव सदादृतं, मलमलं भ्रमरेण सदादृतं! ।।

हे सदादृत! हे ईश! सारतः समयसारतः न सविकलः(किन्तु)विषयात् जडसारतः (सविकलः) असि (उचितमेव) जगति सदा मक्षिकया एव मलं आदृतम् भ्रमरेण अलम् (तिरस्कृतमित्यर्थः) ॥

समयेति- हे सदादृत! सद्भिः सञ्जनैः सदा सर्वदा आदृतः सन्मानितस्तत्सम्बुद्धौ।

हे ईश! हे नाथ! त्वं सारतः श्रेष्ठात् समयसारतः शुद्धात्मस्वरूपात् न सविकलोः रहितः किंतु जडसारतोऽचेतनप्रधानात् विषयात् पञ्चेन्द्रियविषयाद् रूपादेः सविकलो रहितोऽसीति शेषः। उचितमेतत् जगति लोके मलं मक्षिकयैव सदा शश्वत् आदृतं सस्पृहं स्वीकृतं भ्रमरेण षट्पदेनालं नो ॥५४॥

अर्थ-हे सत्पुरुषो से सन्मानित! हे ईश! आप श्रेष्ठतम समयसार — शुद्धात्मस्वरूप से रहित नहीं हो— परिपूर्ण हो, किंतु अचेतनों में प्रधानभूत पञ्चेन्द्रियों के विषयों से रहित हो । ठीक ही है, संसार में मल—विषा मक्खी के द्वारा ही सदा आदृत होता है, भ्रमर के द्वारा नहीं ॥५४॥

[५५]

प्रवचनेऽचिति साऽ प्रतिमानता, ननु मतात्र सता शुचिमानता।

तव विदं हि हठाद्यदसंग! ताः, समयकाः स्वयमीश्वर!संगताः ।।

हे असंग! ईश्वर! अत्र तव अचिति प्रवचने सा अप्रतिमानता शुचिमानता ननु सता मता यत् (यस्मात्) (तत्र अयं हेतुः) तव विदम् हि ताः समयकाः हठात् स्वयं संगता ।

प्रवचन इति- हे असङ्ग! न विद्यते सङ्गो यस्य तत्सम्बुद्धौ। हे निर्ग्रन्थ! हे ईश्वर! हे नाथ! अत्र जगति तव भवतः अचिति पुद्गलपर्यायत्वात्, जडे प्रवचने वक्तृत्वे वाण्यां सा प्रसिद्धा अप्रतिमानता न विद्यते प्रतिमानं सादृश्यं यस्याप्रतिमानं तस्य भावोऽप्रतिमानताऽनुपमता ननु निश्चयेन सता साधुना मताऽभ्युपगता शुचिं निर्मलतां आनता प्राप्ता । यत् यस्मात् कारणात् ताः विस्तृताः समयकाः समया एव समयकाः पदार्थः स्वयं स्वतो हठात् प्रसह्य तव विदं ज्ञानं हि निश्चयेन संगताः प्राप्ताः। ज्ञानबाहुल्येन तव प्रवचनमनुपमानं विद्यते इति भावः ॥५५॥

अर्थ-हे निर्ग्रन्थ! हे नाथ! यहाँ आपकी अचेतन वाणी में निश्चय से जो प्रसिद्ध अनुपमता सत्पुरुषों ने स्वीकृत की है तथा निर्मलता को प्राप्त है, उसमें कारण यह है कि जगत् के समस्त पदार्थ आपके ज्ञान में हठ पूर्वक स्वयं प्राप्त हुए हैं।

भावार्थ-आप सर्वज्ञ हैं, अतः आपकी जड़ वाणी भी जगत् में उपमा से रहित है ॥५५॥

[५६]

ननु दृगादिभिरात्मबलैः सुखं, करणजं ह्यपि तत्समलैः सुखम् ।

जगति तन्तुभिरेव सुनिर्मितम्, पटमितीह जगाद मुनिर्मितम् ॥

हे लोकेश! आत्मबलैः दृगादिभिः ननु सुखं समलैः (दृगादिभिः) तत् करणजं सुखं अपि (भवतु) इह जगति तन्तुभिः एव पटम् सुनिर्मितम् इति मितम् मुनिः जगाद ।

नन्विति-हे लोकेश! ननु निश्चयतो यत् सुखं आत्मोत्थं तत् दृगादिभिः सम्यग्दर्शनादिभिः आत्मबलैरात्मशक्तिभिः प्राप्यते । यच्च करणजं इन्द्रियभवं सुखं तदपि इह जगति समलैः सातिचारैर्दृगादिभिरेव प्राप्यते । तदेवोदाहरति-यत् पटं वस्त्रं तत् तन्तुभिरेव सुनिर्मितं रचितं । इति मुनिर्भवान् मितं यथास्यात् जगाद । यथा सर्वविधं वस्त्रं तन्तुभिरेव निर्मायते तथा स्वर्गादिजं मुक्तिजं वा सुखं सम्यग्दर्शनादिभिरेव संपद्यत इति भावः ॥५६॥

अर्थ-हे लोकेश! निश्चय से जो आत्मोत्थ सुख है वह सम्यग्दर्शनादि आत्मशक्तियों से प्राप्त होता है । और जो इन्द्रियजन्यसुख है वह भी समल-सातिचार-अपूर्ण सम्यग्दर्शनादि आत्मशक्तियों से प्राप्त होता है। उचित ही है, इस जगत् में जो वस्त्र है वह तंतुओं से ही निर्मित होता है, ऐसा संक्षेप में आप मुनि ने कहा था ॥५६॥

[५७]

नयति विस्मरणं सुखयाचना-मजनुतौ विरतो दयया च ना ।

मणिमयं जलधाववगाहितः, किमिह याचत ए खनगाहितः ॥

ए खनगाहित! अजनुतौदय या च विरतः ना सुखयाचनां विस्मरणं नयति। (उचितमेव) इह जलधौ अवगाहितः अयं (जनः) किं मणिम् याचते? (कदापि नेत्यर्थः)।

नयतीति-ए खनगाहित! खेषु हृषीकेषु न गाहितः खनगाहितस्तत्सम्बुद्धौ हे इन्द्रियजसुखपराङ्मुख ! अजनुतौ भगवत्स्तवने दययाऽनुकम्पया च विरतः पराङ्मुखो ना पुमान् सुखयाचनां सुखार्थितां विस्मरणं विस्मृतिं नयति प्रापयति । अजनुतौ दयायां च प्रवृत्त एव नरो सुखं प्राप्नोति यश्च ततो विरतः स सुखयाचनां विस्मरतीति भावः । तदेवोदाहरति-जलधौ सागरे अनवगाहितोऽकृतप्रवेशः । अयं जनः किमिह लोके मणिं याचते? नैव याचते । जलधौ कृतावगाहो जन एव मणिं प्राप्तुं शक्नोति यथा, तथाजनुतौ दयायां च प्रवृत्त एव जनः सुखं लभेतेति तात्पर्यम् ॥५७॥

अर्थ-हे इन्द्रियसुख से विमुख! भगवन्! भगवत्स्तुति और दया से विमुख रहने वाला मनुष्य सुखयाचना को भूल जाता है। ठीक ही है- समुद्र में गोता न लगाने वाला यह मनुष्य संसार में क्या मणि की याचना करता है? अर्थात् नहीं करता ॥५७॥

[५८]

स्ववपुषा प्रथमं पृथग्म्बरमज समुज्ज्य चिता च दिगंबरः ।

यवमलं न तृणं ननु पाचकः, कलयति प्रथमं स्वकपाश्च क! ॥

हे स्वकपाः! अज! क! प्रथमं पृथक् अम्बरं समुज्ज्य स्ववपुषा दिगम्बरः (जातः) च (पुनः) चिता (दिगम्बरः जातः) (उचितमेव) ननु पाचकः प्रथमं तृणं कलयति नच यवमलम् (यवमलं तु पश्चात् कलयति) ।

स्ववपुषेति— हे स्वकपाः! स्व एव स्वकस्तं पाति रक्षतीति स्वकपास्तत्सम्बुद्धौ । हे अज! न जायत इत्यजः तत्सम्बुद्धौ । हे जन्मातीत! हे क! हे आत्मन्! ब्रह्मन्! वा । प्रथमं प्राक् पृथक् अम्बरं पृथग्भूतं वस्त्रं समुज्ज्य त्यक्त्वा स्ववपुषा स्वशरीरेण दिगम्बरो जातः पश्चाच्च चिता मनसा दिगम्बरो जातः । उचितमेतत्-पाचकः पौरोगवः प्रथमं तृणं कलयति यवमलं धान्यविशेषमलं न कलयति गृह्णाति । प्राग् वस्त्रं त्यक्त्वा शरीरेण दिगम्बरो जातस्त्वं पश्चाच्चान्तरङ्गपरिग्रहं त्यक्त्वा चिता चेतनेन दिगम्बरो जातः । एतदेवोदाहरणेन समर्थयति— पाचकः प्रथमं यवान्नात्तृणं तुषं गृहीत्वा दूरीकरोति पश्चाच्च मुसलादिना तन्मलं गृहीत्वा दूरीकरोतीति भावः ॥५८॥

अर्थ- हे आत्मरक्षक! हे जन्मरहित! हे ब्रह्मन्! आप पहले वस्त्र को छोड़कर स्वशरीर से दिगम्बर हुए थे। पश्चात् चेतना से दिगम्बर हुये थे। यह उचित ही है, क्योंकि रसोई बनाने वाला पहले तुषरूप तृण को बीनता है पश्चात् जौ के मल— ललाई आदि को ग्रहणकर दूर हटाता है ॥५८॥

[५९]

य उपधि र्जगता समुपासितः, मृतिभयं न विनामृतपाः शित!

अभयताप्तय एव समुद्यतो, भवदुपासनया द्रुतमुद्यतः ॥

हे अमृतपाः! शित! यः उपधिः जगता समुपासितः (स) मृतिभयं विना न (अतः) एषः (मुनिः) अभयताप्तये भवदुपासनया समुद्यतः यतः द्रुतम् उत् (स्यात्) ।

य इति- हे अमृतपाः! अमृतं मोक्षं पाति रक्षतीति अमृतपास्तत्सम्बुद्धौ । अथवा अमृतं हृद्यवस्तु पाति रक्षतीति तत्सम्बुद्धौ । 'अमृतं मोक्षपीयूषसलिले हृद्यवस्तुनि' इति विश्वलोचनः । हे शित! हे शांत! 'शितं शकुनिशांतयो-' इति विश्वलोचनः । य उपधिः परिग्रहो जगता लोकेन समुपासितः सेवितः स्वीकृत इति यावत् । स मृतिभयं मृत्युभीतिं विना न समुपासितः न सेवितः । एषः अभयत्वं प्राप्तये मुनि अभयप्राप्तये भवदुपासनया भवदाराधनया समुद्यतः । यत् यस्मात् द्रुतं शीघ्रम् । उत् उद्गतः स्यात् मुक्तः स्यादिति भावः । अथवा 'द्रु गतौ' इति धातोर्भवि क्तप्रत्यये द्रुतं भवति तस्य च 'उत्' अव्ययेन सम्बन्धः । एवं 'उद्द्रुतं' इत्यस्योद्ध्वर्गमनमित्यर्थः कल्पनीयः ॥५९॥

अर्थ- हे अमृतपाः! मोक्ष अथवा प्रियवस्तु के रक्षक! हे शित! हे शांत! जो परिग्रह जगत् के द्वारा सेवित है, वह मृत्यु के भय के बिना नहीं अर्थात् मृत्यु से बचने के लिये ही जगत् परिग्रह को उपाजित, संचित और सुरक्षित रखता है। इसीलिये यह मुनि अभयता-निर्भयता की प्राप्ति के लिये आपकी उपासना में समुद्यत है। इसी से वह शीघ्र ऊर्ध्वगामी हो सकेगा।

भावार्थ-मृत्यु से भयभीत संसारी प्राणी परिग्रह एकत्रित करता है, परंतु उसके द्वारा वह मृत्यु से बचता नहीं है। इसी लिये ज्ञानी मुनि परिग्रह की उपासना न कर निर्भयता की प्राप्ति के लिये आपकी उपासना करता है और उसके फल स्वरूप वह मृत्यु से बचकर ऊर्ध्वगामी-सिद्ध हो जाता है ॥५९॥

[६०]

जडतनोर्मदरागनिराकृतिर्जगति शान्तिरिहास्ति निराकृतिः ।

परिगमस्त्व शान्त! सुमुद्रया, समनुजायत एव सुमुद्रया । ।

हे शान्त ! इह जगति निराकृतिः शान्तिः जडतनोः मदरागनिराकृतिः (एव) अस्ति (इति) तव शान्त सुमुद्रया परिगमः समनुजायते एव!

जडतनोरिति- हे शान्त! हे लोकोत्तरशान्तिसंपन्नभगवन्! इह जगति भुवने या निराकृतिर्निर्गता आकृतिर्यस्याः सा आकृतिरहिता आन्तरङ्गिकी अनुपमा वा शान्तिः शान्तपरिणतिरस्ति सा जडतनोर्जडशरीरात् मदरागनिराकृतिः मदश्च रागश्चेति मदरागौ अहंकारममकारपरिणामौ तयोः निराकृतिः निराकरणमेव नियमेनास्ति । इति परिगमो बोधो तव भवतः सुमुद्रया सुष्ठु मुदं प्रमोदं राति ददातीति सुमुद्रा तथा सुहर्षदायिन्या शोभासंपन्नाकृत्या समनुजायते सम्पद्यत एव नियमेन । जडशरीरसम्बन्धि मदरागभावपरित्यागेनैव यथार्था शान्तिः संजायते इति भावः ॥६०॥

अर्थ-हे शान्त! हे लोकोत्तरशान्तिसम्पन्न! इस जगत् में जो आभ्यान्तर-अतीन्द्रिय शान्ति है वह जडशरीर संबंधी अहंकार-ममकार का निराकरण - परित्याग ही है, ऐसा सुबोध आपकी प्रमोददायिनी सुन्दर आकृति से होता है ॥६०॥

[६१]

नहि गभीर इहेदुनियोगतः, स जलधिस्खलितो निजयोगतः ।

असि गभीरतमो निजधाम न, त्यजसि यत् सुखदं च मुधाऽमनः । ।

हे अमनः! इह(जगति)स जलधिः इन्दुनियोगतः निजयोगतः खलितः (अतः) न हि गभीरः (अस्ति किन्तु) (त्वं) सुखदं निजधाम च मुधा न त्यजसि यत् गभीरतमः (असि)।

नहीति- हे अमनः! नास्ति मनो भावरूपं मनो यस्य तत्सम्बुद्धौ। इह जगति स प्रसिद्धो जलधिः सागरः। इन्दुनियोगतश्चन्द्रसंयोगात् निजयोगतः स्वकीयगाम्भीर्य-

स्वभावात् स्वलितो विचलितो भवति। अतः गभीरो गम्भीरो न हि, निश्चयेन नास्ति। त्वं तु यत् यस्मात् सुखदं शर्मप्रदं निजधाम निजतेजो न त्यजसि नो जहासि। अतो गभीरतमोऽतिशयेन गभीर इति गभीरतमो लोकोत्तरधैर्यशाली। असि वर्तते।।६१।।

अर्थ- हे अमन! हे भावमन से रहित! इस जगत् में वह समुद्र चन्द्रमा के संयोग से स्वकीय गांभीर्य से विचलित हो जाता है। अर्थात् चन्द्रमा के दर्शन से समुद्र उद्वेलित हो जाता है। अतः वह गंभीर नहीं है किन्तु आप व्यर्थ ही अपने सुखदायकधाम—तेज अथवा स्थान का त्याग नहीं करते, अतः गम्भीरतम हैं।।६१।।

[६२]

जिगमिषु निकटं तव ना विनाः, स नियमेन जडो ननु ना विना।

दृग्गिह बीजमजा अवनाविना, नहि सतां सुफलेऽमलिना विना।।

हे अजाः!इनाः!विनाः!नाः!तव (युस्माकं) निकटं नियमेन विना जिगमिषुः ना ननु स जडः (एव अस्ति) (सत्यमेव) इह अवनौ बीजम् विना सतां अमलिना दृक् सुफले नहि (स्यात्)।

जिगमिषुरिति- हे अजाः!जन्मरहिता, हे इनाः! ईशितार, हे विनाः! विशेषेण नाः पूज्याः, हे नाः हे जिनाः! 'भर्तेन्द्र इन ईशिता' इति धनञ्जयः। 'इनः पत्यौ नृपे सूर्ये' 'नकारो जिनपूज्ययोः' इति च विश्वलोचनः। यो ना पुमान् ' ना पुमान् पुरुषो गोधः' इति धनञ्जयः। नियमेन संयमेन संविदा ज्ञानेन व्रतेन 'नियमो निश्चये बन्धे यन्त्रणे संविदि व्रते' इति विश्वलोचनः।विनाऽन्तरेण तव युष्माकं निकटं समीपं जिगमिषु- गन्तुमिच्छु स ननु निश्चयेन जडोऽज्ञानी वर्तत इति शेषः। उचितमेतत्। इह अवनौ पृथिव्यां, बीजं विना गोधूमादिबीजमन्तरेण सतां सज्जनानां। अमलिना स्वच्छा दृक् दृष्टिः सुफले शोभनफले नहि स्यात्। यथा बीजं विना सुफलं न प्राप्यते तथा व्रतनियमादिना विना जिनानां नैकट्यं न प्राप्यत इति भावः।।६२।।

अर्थ- हे जन्मातीत! हे नाथ! हे अतिशयपूज्य जिनदेव! जो पुरुष व्रतनियमादि के विना आपके निकट जाना चाहता है, वह निश्चय से जड- अज्ञानी है। उचित ही है-इस पृथिवी में बीज के विना सज्जनों की निर्मलदृष्टि सुन्दरफल पर नहीं हो सकती।

भावार्थ- जिस प्रकार बीज के विना उत्तमफल प्राप्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार व्रत- नियमादि के विना पूज्य जिनराजों की निकटता प्राप्त नहीं हो सकती।।६२।।

[६३]

त्वयि रुचिं च विना शिवराधनम्, भवतु केवलमात्मविराधनम्।

नगविदारणवत् शिरसा यते!, मतमिदं जगतां स्वरसायते।।

(१०५)

हे यते! त्वयि रुचिं विना शिवराधनम् केवलम् आत्मविराधनम् शिरसा नगविदारणवत् भवतु! इति ते इदम् मतम् (यत्) जगताम् स्वरसाय (अस्तु)।

त्वयीति- हे यते! हे मुने! त्वयि भवति रुचिं प्रीतिं श्रद्धां वा त्रिना शिवाराधनं मोक्षाराधनं केवलं मात्रं आत्मविराधनं स्वस्य दुःखीकरणं शिरसा मूर्ध्ना नगविदारणवत् पर्वतभेदनमिव भवतु इदं ते तव मतं सिद्धान्तो जगतां जगज्जनानां स्वरसाय सुखलाभायास्तु। हे देव! त्वच्छ्रद्धानं विना मोक्षप्राप्तीच्छया तपः प्रभृत्याचरणं केवलं शिरसा पर्वतविदारणवत् निष्फलं भवतीति भावः॥६३॥

अर्थ-हे यतिराज! आप से प्रीति अथवा श्रद्धा के विना मोक्ष की आराधना करना—तपश्चाराणादि करना शिर से पहाड़ फोड़ने के समान मात्र आत्मविराधना—आत्मघात है। आपका यह मत जगत् के सुख के लिये है॥६३॥

[६४]

समुदयागत ईश!शुभे विधौ, नहि तथा किल शीतलतां विधौ।

अनुभवामि यथा तव सन्निधौ, ह्यतुलवैभवपूरितसन्निधौ ॥

हे ईश! समुदयागते शुभे विधौ विधौ (च) किल तथा शीतलतां न हि यथा तव हि अतुलवैभवपूरित-सन्निधौ सन्निधौ अनुभवामि।

समुदयेति- हे ईश! समुदयागते समीचीनकर्मोदयप्राप्ते शुभे प्रशस्ते विधौ दयादानादिशुभकार्ये, समुदायेनागतः प्राप्तस्तस्मिन् सूदिते विधौ चन्द्रमसि च तथा तादृशीं शीतलतां सुखशान्तिं किल न हि अनुभवामि यथा यादृशीं। अतुलवैभवपूरितसन्निधौ अतुलवैभवेनाप्रतिमैश्वर्येण पूरितः सन्निधिः समीचीनविधिस्तद्रूपे तव जिनेन्द्रस्य सन्निधौ समीपे हि निश्चयेनानुभवामि संवेदयामि॥६४॥

अर्थ- हे ईश! समुदयागत—पुण्यकर्मोदय से प्राप्त शुभकार्य में और सम्यक् प्रकार से उदित चन्द्रमा में वैसी शीतलता का अनुभव नहीं करता हूँ जैसी कि अनुपम वैभव से परिपूर्ण समीचीन निधिस्वरूप आपकी सन्निधि—निकटता में करता हूँ॥६४॥

[६५]

असि निजानुभवादिसमाधितः, स्वलितवान् भवतो द्रुतमाधितः।

सुधृतिमन्त इतीश!तदाप्तये, स्वनिरता मुनयोऽपि सदाप्त! ये ॥

हे ईश! आप्त! निजानुभवादि समाधितः आधितः भवतः द्रुतं स्व लितवान् इति (मत्वा) तदाप्तये सुधृतिमन्तः ये मुनयः सदा स्वनिरताः सन्ति।

असीति- हे ईश! हे आप्त! त्वं निजानुभवादिसमाधितः निजानुभवादिरेव समाधिध्यानं तस्मात् हेत्वर्थे षष्ठमी, आधितो मानसिकव्यथारूपात् 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः। भवतः संसारात् द्रुतं शीघ्रं स्वलितवान् निवृत्तः। असि वर्तसे, इति मत्वा तदाप्तये तस्य संसारनिवर्तनस्याप्तिः प्राप्तिस्तस्यै सुधृतिमन्तः सुधैर्ययुक्ता जितपरीषहा इति यावत् ये मुनयो यतयस्तेऽपि सदा शश्वत् स्वनिरताः स्वस्मिन् आत्मनि निरता नितरां लीनाः सन्तीति शेषः ॥६५॥

अर्थ- हे ईश! हे आप्त! आप निजानुभवनरूप समाधि- ध्यान से मानसिक व्यथारूप संसार से निवृत्त हुए हैं, ऐसा मानकर जो उत्तम धैर्य से युक्त मुनि हैं वे भी सदा स्वनिरत-आत्मलीन रहते हैं ॥६५॥

[६६]

विधिनगाशनिरीश! सुराजते, कुमतकक्षदवो मुनिराज! ते ।
शशिशितं सुखदं शुचिशासनं, भवतु मे सततं सहसासनम् ॥

मुनिराज! ईश! ते शशिशितम् सुखदम् शुचिशासनम् कुमतकक्षदवः विधिनगाशनिः सुराजते (तत्) मे सततम् सहसा आसनम् (आश्रयं) भवतु!।

विधीति- हे ईश! हे मुनिराज! मुनीनां राजा मुनिराजस्तत्सम्बुद्धौ 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच्समासान्तः। ते तव शशिशितं शशीव शितं शुक्लं शशिशितं चन्द्रवदुज्ज्वलं सुखदायकं शुचिशासनं निरवद्यशासनं। विधिनगाशनिः विधय एष कर्माण्येव नगाः पर्वतास्तेषामशनिर्वज्रः। कुमतकक्षदवः कुमतानि विरुद्धमतान्येव कक्षाणि वनानि तेषां दवो दावानलः। ' वने च वनवह्नौ च दवो दाव इहेष्यते ' इत्यमरः। सुराजते सुशोभते। अतस्तत् तव शुचिशासनं मे स्तोतुः सततमनारतं सहसा झटिति आसनमाश्रयो भवतु आस्यत उपविश्यते यस्मिन् तत् आसनं आश्रय इति यावत् ॥६६॥

अर्थ- हे ईश! हे मुनिराज! चंद्रमा के समान उज्ज्वल आपका सुखदायक निर्मलशासन कर्मरूप पर्वतों के लिये वज्र तथा मिथ्यामतरूपी वनों के लिये दावानल के समान सुशोभित है, अतः वह निरन्तर मेरा आसन-आधार रहे ॥६६॥

[६७]

जननसागरशोषणभाकरः, तृषितजीवनदोऽसिशुभाकरः ।
खड्गषजाल इतीह सुगी र्यतेः सुमुनिना ह्यमुनाप्यथ गीयते ॥

भगवन्! इह (शुवि) जननसागरशोषणभाकरः शुभाकरः तृषितजीवनदः खड्गषजालः अस्ति इति यतेः सुगीः (वर्तते) अथ हि सुमुनिना ह्यमुना अपि गीयते (भगवान्)।

(१०७)

जननेति- हे जिनेन्द्र! इह जगति त्वं जननसागरशोषणभाकरः जननं जन्मैव संसार एव वा सागरः समुद्रस्तस्य शोषणे भाकरः सूर्योऽसि। तृषितजीवनदोऽसि तृषिताय पिपासातुराय जीवनं जलं ददतीति तथाभूतोऽसि अथवा तृषिताय विषयाभिलाषा पीडिताय जीवनं तत्त्यागभावरूपं जीवनं ददातीति तथाभूतोऽसि। शुभाकरोऽसि शुभानां शुभभावानामाकरः खनिरसि। खड्गजालोऽसि खानीन्द्रियण्येव ज्ञषा मीनास्तेषां जाल आनयो बन्धनोपायोऽसि। इतीत्थं यतेर्गणधरादिसाधोः सुगीः शोभना भारती अस्तीति शेषः। अथ अमुना सुमुनिनाऽपि स्तुतिकर्त्ताऽपि हि निश्चये गीयतेऽभिधीयते ॥६७॥

अर्थ-हे भगवन्! इस जगत् में आप संसाररूपी समुद्र को सुखाने के लिये प्रचंड सूर्य हैं। तृष्णारूपी तृषा से पीड़ित मनुष्य को जीवन-संतोष रूपी जल को देने वाले हैं। शुभाकर पुण्य की खान हैं तथा इंद्रियरूपी मछलियों को वश करने के लिये जाल स्वरूप हो। इस तरह आपके विषय में गणधरादि मुनियों की उत्तम वाणी है। अब मुझ मुनि के द्वारा भी यही कहा जाता है।

भावार्थ-प्राचीन मुनियों ने आपके विषय में जो कहा है, वह यथार्थ ही कहा है ॥६७॥

[६८]

मम मतिस्तवनेऽत्र सरोवरे, किमु तदा विफलो न सरो वरे।

अमृतनीरनिधौ जिन! निष्क्रिय! विषकणोऽस्तु तथापि स निष्क्रियः॥

हे जिन! निष्क्रिय! (तव) स्तवने वरे सरोवरे (यदा) मम मतिः तदा सरः (कामः) किमु न विफलः (भवतु?) अमृतनीरनिधौ स विषकणः अस्तु तथापि निष्क्रियः एव।

ममेति- हे जिन! हे निष्क्रिय! क्रियाभ्यो निष्क्रान्तः निष्क्रियस्तत्सम्बुद्धौ हे कृतकृत्य! इत्यर्थः। अत्र लोके तव भवतः स्तवने स्तवनरूपे वरे श्रेष्ठे सरोवरे कासारे यदा मम मतिरस्ति तदा सरः कामः किमु विफलो न भवतु? तदेवोदाहरति अमृतनीरनिधौ पीयूषपारावरे सः प्रसिद्धो विषकणो गरललवोऽस्तु भवतु तथापि निष्क्रिय एव वर्ततामिति शेषः ॥६८॥

अर्थ-हे जिन! हे कृतकृत्य! आपके स्तवनरूप उत्कृष्ट सरोवर में जब मेरी मति रह रही है तब काम क्या निष्फल न रहे? क्योंकि अमृत के सरोवर में विष का कण रहता भले ही हो पर वह निष्क्रिय-प्रभावशून्य ही रहता है ॥६८॥

[६९]

तव मते सति ते विफला मता, लयमयन्ति हठाद्विमला मताः।

लवणवद् अशने च सदाऽमिते, जिन! विदं सहजां सुखदामिते ॥

हे जिन! तव सहजां सुखदां विदं इते अमिते सति मते च अशने लवणवत्(हि)सदा ते विफलाः मताः लयं अयंति हटात् विमलाः मताः (पूज्याः भवति)।

तवेति-हे जिन! तव भवतः सहजां स्वाभाविकीं सुखदां सुखदायिनीं विदं ज्ञानं, इते प्राप्ते अमिते अपरिमिते सुविस्तृत इत्यर्थः सति प्रशस्ते मते च धर्मे च सदा शश्वद् विफला एकान्तवादत्वेन निरर्थका अकार्यकरा मता धर्मा यदि लयं लीनताम् अयन्ति प्राप्नुवन्ति तर्हि ते अमिते विपुले अशने भोजने लवणवत् क्षारमिव हठात् प्रसह्य विमला विगलं मलं येषां ते तथाभूता निर्दोषा मताः स्वीकृताः । अत्र भुवने ये ह्येकान्तवादाः सन्ति ते यदि जैनेन्द्रे स्याद्वादे लीना भवन्ति तर्हि तेऽपि निरवद्या भवेयुरिति भावः ॥६९॥

अर्थ- हे जिन! आपके सहज सुखदायक ज्ञान को प्राप्त अपरिमित-प्रशस्त मत में यदि एकान्तवाद के कारण अकार्यकारी अन्य मत-धर्म लीनता को प्राप्त हो जावें तो विशाल भोजन में नमक की तरह वे भी हठात् निर्मल- निर्दोष होकर पूज्य हो जावें ॥६९॥

[७०]

स्तुतिबलं ह्यवलम्ब्य मनोभवे, ह्यनुचरामि निजात्मनि नो भवे।

कदपथेऽत्र वयोऽपि सपक्षका इति चरन्ति वदन्ति विपक्षकाः ॥

हे जगद्वन्द्य! मनोः स्तुतिबलं अवलम्ब्य भवे निजात्मनि अनुचरामि, नो भवे (अनुचरामि) अत्र कदपथे सपक्षकाः वयः एव अपि चरन्ति इति विपक्षकाः वदन्ति!

स्तुतिबलमिती-हे जगद्वन्द्य! मनोर्भगवत्स्तव स्तुतिबलं हि निश्चयेन अवलम्ब्य समाश्रित्य भवे श्रेयसि कल्याणकर इति यावत् 'भक्तः श्रीकण्ठसंसारश्रेयःसत्ताप्तिजन्मसु' इति विश्वलोचनः । निजात्मनि स्वस्वरूपे हि परमार्थतः । अनुचरामि विहरामि शुद्धात्मस्वरूपं चिंतयामीति भावः । भवे संसारे नो अनुचरामि । अत्र जगति सपक्षका एकान्तपक्षवन्तः पक्षे सगरुतः वयोऽपि पक्षिणोऽपि कदपथे न पन्था इत्यपथम् कुत्सितमपदमिति कदपथं तस्मिन् कुमते गगने च चरन्ति विचरन्ति। इति अपक्षका एकांतपक्षरहिता गरुद्रहिताश्च नो चरन्तीति वदन्ति कथयन्ति ॥७०॥

अर्थ-हे जगद्वन्द्य! निश्चय से आपकी स्तुति के बल का अवलम्बन लेकर मैं कल्याणकारी निज आत्मा में विचरण करता हूँ, संसार में नहीं । ठीक ही है पंखों से सहित पक्षी और एकान्तपक्ष से सहित दुराग्रही मानव भी कुमार्ग में विचरण करते हैं पक्षरहित मनुष्य और पंखरहित पक्षी कुमार्ग में (आकाश में) विचरण नहीं करते हैं ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं ॥७०॥

[७१]

यदुदितं वचनं शुचि साधुना, वदति तत् न कुधीरिति साधु ना ।

ज्वरमितः सुपयः किमु ना सितां, ह्यनुभवद् भुवि रोगविनाशिताम् । ।

हे साधो! (त्वया) साधुना यत् शुचि वचनम् उदितम् तत् साधु न इति कुधीः ना वदति । (उचितमेव) भुवि रोगविनाशितां सितां अनुभवत् सुपयः ज्वरमितः (ज्वरं गतः) ना किमु (तथा न वदति) ।

यदुदितमिति-हे साधो! साधुना त्वया यत् शुचि पवित्रं निरवद्यमिति यावत् । वचनं वच उदितं कथितं 'वाग्वचोवचनं वाणी भारती गीः सरस्वती' इति धनञ्जयः। तत् साधु प्रशस्तं न , इति कुधीर्दुर्बुद्धिः ना पुमान् वदति कथयति । युक्तमेवैतत् यतो भुवि पृथिव्यां रोगविनाशितां विनाशितो रोगो यया तां 'बाहिताग्न्यादिषु' इति निष्ठान्तस्य परप्रयोगः । सितां शर्करोपलम् अनुभवत् सुपयः सुदुग्धं ज्वरमितः ज्वरयुक्तो ना किमु तथा न वदति ? अपि तु वदत्येव यथा ज्वराक्रान्तो मनुष्यः सिता मिश्रं दुग्धं मधुरं न वदति तथा मिथ्यात्वाक्रान्तो जनो वीतरागसर्वज्ञवचनं साधु न वदतीति भावः ॥७१॥

अर्थ-हे साधो! आप साधु के द्वारा जो निर्दोष वचन कहा गया है, वह ठीक नहीं है, ऐसा अज्ञानी पुरुष कहता है । उचित ही है क्योंकि पृथिवी पर रोग को नष्ट करने वाली मिश्री से युक्त उत्तम दूध को ज्वरसहित मनुष्य वैसा नहीं है, मीठा नहीं है, ऐसा क्या नहीं कहता ? ॥७१॥

[७२]

सुकवितां विरचय्य च केवलं, भवतु कोऽपि कविर्गत ! केवलम् ।

स्वकवितां तु ततोऽहमशेषतामनुभवामि ममास्तु विशेषता । ।

हे केवलं गत ! (तव) केवलम् सुकवितां विरचय्य कः अपि कविः भवतु । अहं तु ततः अशेषताम् स्वकवितां अनुभवामि (अतः) मम विशेषता (अस्तु) ।

सुकवितामिति-हे केवलं गत ! हे प्रकटितकेवलज्ञान ! तव केवलं मात्रं सुकवितां सुन्दरकवितां स्तुतिरूपामिति यावत् विरचय्य रचयित्वा कोऽपि जनः कविः काव्यकर्ता भवतु । अहं तु ततः अशेषतां समग्रां स्वकवितामनुभवामि अतो मम विशेषतास्तु । न केवलं कवितानिर्माणेन कोऽपि कविर्भवति किन्तु तन्माध्यमेन स्वस्यानुभवितैव कविताकारको भवतीति भावः ॥७२॥

अर्थ-हे केवलज्ञान से युक्त जिनेन्द्र ! मात्र आपकी कविता रचकर कोई भी कवि हो सकता है । परन्तु मैं संपूर्ण रूप से स्वकविता का अनुभव करता हूँ अतः यह मेरी विशेषता है ।

भावार्थ-कविता लिखने मात्र से कोई कवि नहीं होता किन्तु उस कविता को आत्मसात् करने वाला ही परमार्थ से कवि होता है ॥७२॥

[७३]

जिनवरं परिवेत्ति विनिश्चितं, स नितरां हि निजं च मुनिश्चितम् ।

किमु न धूम्रविदत्र सदागते, सहचरं सहजं च सदागते! ॥

हे सदागते! (यः) जिनवरं परिवेत्ति स मुनिः हि नितराम् निजम् चितम् (परिवेत्ति) (उचितमेव) अत्र (भुवि) यः धूम्रवित् सदागतेः सहचरं च किमु न सहजम् (परिवेत्ति?) ।

जिनवरमिति-हे सदागते! सदागतिर्ज्ञानं यस्य तत्सम्बुद्धौ । यो जिनवरं जिनेन्द्रं विनिश्चितं निःसंदेहं यथास्यात्तथा परिवेत्ति जानाति स मुनिर्हि नितरामतिशयेन निजं स्वकीयं चितमात्मानम् परिवेत्ति । तदुक्तं कुन्दकुन्ददेवैः 'जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपञ्जयत्तेहि । सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।' युक्तमेतत् अत्र लोके यो धूम्रवित् धूमज्ञानवानस्ति स सदागतेः पवनस्य सहचरं सखायम् च अग्निमिति यावत् किमु न सहजमनायासेन परिवेत्ति? अपि तु परिवेत्त्येव ॥७३॥

अर्थ- हे सदागते! हे शाश्वतिक ज्ञान के धारक! जो जिनवर-अरहन्तदेव को जानता है वह मुनि निश्चय से अच्छी तरह निज आत्मा को जानता है । ठीक ही है क्योंकि पृथिवी पर जो धुवां का जानकार है वह क्या सहज ही अग्नि को नहीं जानता? अवश्य जानता है ॥७३॥

[७४]

समवधूय विधिं किल शाश्वतमिति पदं प्रगतं सहसा स्वतः ।

शरणदं न विहाय ततोऽपरं, विरिव नावमये ह्ययजितापरम् ॥

हे अजित! विधिं समवधूय किल शाश्वतं परम् शरणदम् इति पदम् सहसा स्वतः प्रगतं (त्वां) विहाय ततः अपरम् विः इव नहि (अहं) अये ।

समवधूयेति- हे अजित! न जितो भोगाकांक्षयेत्यजितस्तत्संबुद्धौ ! विधिं कर्म समवधूय निरस्य किल शाश्वतं शाश्वद्भवं शाश्वतं नित्यं परं श्रेष्ठं शरणदं शरणं ददातीति शरणदं रक्षणप्रदं इति पदम्, इतीत्थं भूतमष्टप्रातिहार्यैर्विशोभितमार्हन्त्यपदं स्वतः स्वेनैव सहसा झगिति प्रगतं प्राप्तं भवन्तं विहाय त्यक्त्वा ततो भवन्तः अपरमन्यं हरिहरादिकमिति यावत् नावं नौकां विहाय विरिव पक्षीव नहि नैव अये गच्छामि 'अयगतौ' इत्यस्य प्रयोगः । अपारपारावारे समुत्पततः पत्रिणो यथा नावं विहाय नान्यच्छरणमस्ति तथानन्ते भवसागरे मञ्जनोन्मञ्जनं विदधतो मम भवन्तं विहायान्यः कोऽपि शरणं नास्तीति भावः ॥७४॥

अर्थ- हे अजित! कर्मरूपी रज को अच्छी तरह उड़ाकर निश्चय से नित्य, श्रेष्ठ और शरणदायक इस आर्हन्त्यपद को स्वकीय पुरुषार्थ से शीघ्र प्राप्त करने वाले आपको छोड़कर, नाव को छोड़ पक्षी के समान मैं अन्य किसी को नहीं प्राप्त होता हूँ। 'मुक्त्वा भवन्तमिह कं शरणं ब्रजानि' ॥७४॥

[७५]

तव नुतेः सुखदश्च भृशं कर, उरसि मे विशतीह नु शंकर! ।

दिनकरस्य शिवास्य विभावतः, सदनरन्ध्र इवाज ! हि भावतः । ।

हे अज! शंकर! शिव! तव नुतेः सुखदः करः च भृशम् मे इह उरसि अस्य विभावतः दिनकरस्य सदनरन्ध्रे (करः) इव हि भावतः विशति।

तवेति-हे अज! हे जन्मातीत! हे शंकर! हे शान्तिविधायक! हे शिव ! सुखस्वरूप! 'शिवं मोक्षे सुखे जलम्' इति विश्वलोचनः । तवार्हतो नुतेः स्तुतेर्हेतोः सुखदः सुखप्रदः करः प्रत्ययो विश्वासः श्रद्धानमिति यावत् 'करस्तु पाणिप्रत्यायशुण्डारश्मिघनोपले' इति विश्वलोचनः । अथवा स्तुतेः स्तवनस्य करो रश्मिः मम स्तोतुः इहास्मिन् उरसि हृदये भृशमत्यर्थं विभावतः प्रभायुक्तस्य दिनकरस्य कर इवांशुरिव 'वलिहस्तांशकः कराः' इत्यमरः सदनरन्ध्रे गृहच्छिद्र इव हि भावतः परमार्थतो विशति प्रविष्टो भवति। यथा सच्छिद्रगृह पटले सूर्याशुर्बलात्प्रविशति तथा स्तुतिप्रभावात्तव प्रत्ययो मम हृदये भृशं प्रविशतीति भावः ॥७५॥

अर्थ-हे अज ! हे शान्तिविधायक! हे सुखस्वरूप! आपकी स्तुति से आपका सुखप्रद श्रद्धान अथवा आपकी स्तुति की किरणावली मेरे इस हृदय में परमार्थ से उस तरह अत्यधिक प्रवेश कर रही है जिस तरह कि प्रभापुंज सूर्य की किरण सच्छिद्र घर में प्रवेश करती है ॥७५॥

[७६]

सति शिवे हि मनोऽपि नियोजयेत्, मनसिजं सहजं समयो जयेत् ।

जगति कारण एव लयं गत, इह नु कार्यमिदं ह्यभयंगत ! । ।

हे अभयंगत! सति शिवे (त्वयि) हि मनः नियोजयेत् समयः मनसिजम् सहजम् अपि जयेत्। इह जगति कारणे लयं गते एव इदम् कार्यं मनु (अस्तु) (न कदापि)।

सतीति-हे अभयंगत! हे प्राप्ताभय! यो जनः सति साधौ शिवे शिवस्वरूपे आत्मानन्दमये त्वयीति शेषः । मनश्चित्तं हि नियोजयेत् संलग्नं कुर्यात् स समयः शुद्धात्मस्वरूपः इह जगति भुवनेऽस्मिन् सहजं सहोत्पन्नमपि मनसिजं कामं जयेत्।

उचितमेतत् हि यतः इह जगति कारण एव निमित्त इव लयं नाशं गते सति इदं कार्यं नु भवतु ? न्विति वितर्के । यतः कारणे प्रलयं गते तन्निमित्तजं कार्यं न भवति ततो मनसोऽभावे सति तत्र समुत्पन्नो मनोजः कथमिव भवेत् न कथमपीति यावत् ॥७६॥

अर्थ-हे अभय को प्राप्त जिनेन्द्र ! निश्चय से जो मनुष्य आनन्दस्वरूप आप सज्जन में मन को लगाता है वह शुद्धात्मस्वरूपी मनुष्य साथ-साथ उत्पन्न होने वाले भी काम को जीत लेता है । उचित ही है, इस जगत् में कारण के नष्ट होने पर कार्य क्या होता है ? अर्थात् नहीं होता ।

भावार्थ-काम मनसिज कहलाता है क्योंकि उसकी उत्पत्ति मन में होती है । साधक ने जब अपना मन परमानन्दमय जिनेन्द्र में लगा दिया तब मन का अभाव हो जाने से मनोज काम की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? ॥७६॥

[७७]

त्वयि रुचे रहिताय न दर्शनं, तव हिताय वृथा तददर्शनम् ।

खविकलाय करोतु न दर्पणं, समवलोकनशक्तिमुदर्पणम् ॥

हे जिन! त्वयि रुचे रहिताय तव दर्शनम् न हिताय (किन्तु) तत् वृथा अदर्शनम् (एव अस्तु) (उचितमेव) खविकलाय समवलोकनशक्तिमुदर्पणम् दर्पणम् न करोतु ।

त्वयीति- हे जिन! त्वयि भवति रुचेः प्रीतेः श्रद्धाया वा रहिताय जनाय तव दर्शनं समवलोकनं शासनं वा हिताय श्रेयसे न भवति । तत् दर्शनं वृथा अकार्यकरं वर्तते । अतोऽदर्शनमदर्शनतुल्यं स्यात् । उचितमेवैतत् यतः खविकलाय चक्षुरिन्द्रियहीनाय जनाय दर्पणमादर्शः समवलोकनशक्तिमुदर्पणं समवलोकनस्य दर्शनस्य या शक्तिः सामर्थ्यं तदुत्पन्ताया मुदो हर्षस्यार्पणं प्रदानं न करोतु न विदधातु ॥७७॥

अर्थ-हे जिन! जो आपमें प्रीति अथवा श्रद्धा से रहित है उसके लिये आपका दर्शन अथवा शासन हितकारी नहीं होता । उसका दर्शन व्यर्थ है अदर्शन के समान है । यह उचित ही है क्योंकि नेत्रेन्द्रिय से हीन मनुष्य के लिये क्या दर्पण देखने की शक्ति से उत्पन्न होने वाले हर्ष को प्रदान कर सकता है ? अर्थात् नहीं ॥७७॥

[७८]

मुधियि वागमृतं कलुषायते, कुधियि वान्तविमोहविषाय ते ।

सलिलदात् स्रवदम्बु नदेऽमृतं, विषधरे विषकं ह्यकदे मृतम् ॥

हे वान्तविमोह विष! अय! ते वाक् मुधियि अमृतं कुधियि (वाक्) कलुषायते (सत्यमेवैतत्)

सलिलदात् स्रवत् अम्बु नदे अमृतम् (भवति) अकदे विषधरे हि मृतम् विषकम् (भवति) ।

सुधियीति— अय वान्तविमोहविष! वान्तं विमोह एव विषं येन तत्सम्बुद्धौ हे वीतराग! अय सम्बुद्धिवाचकः। अथवा अय! शुभावहविधे! 'मतल्लिकामचर्चिका प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ। प्रशस्तवाचकानमून्ययः शुभावहो विधिः' इत्यमरः। ते भवतो वाग्वचनं सुधियि सुबुद्धौ जने अमृतं पीयूषरूपं भवति। कुधियि दुर्बुद्धौ कलुषायते कालुष्यं करोति। युक्तमेवैतत्— सलिलदात् मेघात् स्रवत् वर्षत् अम्बु नीरं नदे नद्याम् अमृतं जलं पीयूषं वा भवति। अकदेऽकं दुःखं ददातीत्यकदस्तस्मिन् विषधरे पन्नगे मृतं मृत्युत्पादकं विषकं विषमेव विषकं स्वार्थे कप्रत्ययः। भवतीति शेषः॥७८॥

अर्थ— हे वान्तमोहविष! हे मोहरूपी विष को उगल चुकने वाले जिनेन्द्र! आपका वचन सुधी जन में अमृत है तो कुधीजन में कलुषता उत्पन्न करता है। ठीक ही है क्योंकि मेघ से झरता—वरसता हुआ पानी नदी में अमृत—जलरूप रहता है और दुःखदायक सर्प में मृत्यु करने वाला विष हो जाता है ॥७८॥

[७९]

ननु मुनेश्च यथा धृतवृत्ततः, स्रवति शान्तरसः प्रतिवृत्ततः ।

अविरलं त्वदुपासकतोऽमनो, नहि तथा शशिनो मुखतो मनो! ॥

हे अमनः! मनो! ननु धृतवृत्ततः त्वदुपासकतः (मत्) मुनेः च यथा अविरलम् शान्तरसः स्रवति, प्रतिवृत्त (अस्मात् काव्यतः) (शान्तरसः स्रवति) तथा शशिनः मुखतः नहि स्रवति।

नन्विति— हे अमनः! मनोरहित! हे मनो! हे भगवन्! ननु निश्चयेन धृतवृत्ततो धृतमङ्गीकृतं वृत्तं चारित्रं येन तस्मात्। त्वदुपासकतः तवोपासकस्तस्मात् भवत्सेवकात् मत् स्तोतुमुनेश्च यथा यादृक्, अविरलं निरन्तरं यथा शान्तरसः शान्तश्चासौ रसश्चेति शान्तरसो वैराग्यपरिणामः स्रवति। किञ्च एतत्काव्यस्य प्रतिवृत्ततः प्रत्येकछन्दसः 'त्रिषु वृत्तं तु चरिते वृत्तं छन्दसि वर्तते' इति विश्वलोचनः। शान्तरसो नवरसेष्वन्यतमो रसः स्रवति तथा तादृक् शशिनश्चन्द्रस्य मुखतो बिम्बतो न हि स्रवति नहि क्षरति ॥७९॥

अर्थ— हे अमनः! मनो! हे भावमन से रहित! जिनदेव! सम्यक् चारित्र को धारण करने वाले आपके उपासक मुझ मुनि से तथा इस काव्य के प्रत्येक छन्द से जैसा शान्तरस झर रहा है वैसा चन्द्रमा के बिम्ब से नहीं झरता ॥७९॥

[८०]

त्वयि रतो हि शठो भववैभवः, समुपलब्धय ईश्वर वै भव ।

कृषिमतः कुरुते विधिहाञ्जनौ, सकनकेन हलेन स हा! वनौ ॥

ओ हे अवन! हे विधिहा! भव! ईश्वर! (इह) अवनौ भववैभवसमुपलब्ध्ये त्वयि रतः वै शठः हि (अस्ति) अतः स सकनकेन हलेन हा!(असौ)कृषिम् कुरुते।

त्वयीति— ओ हे अवन! रक्षक! हे विधिहा! कर्महा! हे भव! प्रशस्त!

ईश्वर! भगवन्! इह अवनौ पृथिव्यां भववैभवसमुपलब्ध्ये भवस्य संसारस्य वैभव ऐश्वर्यं तस्य समुपलब्ध्ये सम्यक्प्राप्त्यै त्वयि वीतरागजिनेन्द्रे रतो लीनः कृतप्रवृत्तिरित्यर्थः वै निश्चयेन शठोऽज्ञानी अस्ति। अतः स सकनकेन ससुवर्णेन हलेन सीरेण वनौ क्षेत्रे कृषिं करोतीति हा खेदः। भोगाकाङ्क्षया जिनस्योपासनं ससुवर्णहलेन कृषिवसुधोत्कर्षणमिवाकार्यकरं भवतीति भावः ॥८०॥

अर्थ— ओ हे अवन! हे रक्षक! हे विधिहा! हे कर्मों को नष्ट करने वाले! हे भव ईश्वर! प्रशस्त भगवन्! इस पृथ्वी में जो सांसारिक वैभव प्राप्त करने के लिए आप में लीन है—आपकी भक्ति करता है निश्चय से वह शठ है—अज्ञानी है अतः खेद है कि वह स्वर्ण के हल से खेती करता है। लोह के बदले स्वर्ण की अनी से युक्त हल के द्वारा खेत को जोतता है ॥८०॥

[८१]

अलमजे यमतोऽनियमो हतः, सविकलोऽशनतोपि विमोहतः।

वसनतोपि जितेन्द्रियवामतः, परनतो विरतोऽपि भवामतः ॥

ई अज! जितेन्द्रियवामतः वसनतः अलम् भवामतः विरतः (ततः) परनतः अपि (अलम्)। अजे अनियमः हतः (अतः) यमतः (अलम्) विमोहतः सविकलः (अतः) अशनतः अपि अलम् (अस्तु)।

अलमिति— ई अज! 'ई' इति सम्बुद्धिवाचकः। न विद्यते जा उत्पत्तिर्यस्य सोऽजस्तत्सम्बुद्धी। यदि अनियमो न नियमोऽनियमः स्वैराचारो हतो नष्टो तर्हि यमतः संयमात् अलं पर्याप्तं स्वैराचारनिरोधस्यैव संयमत्वात्। यदि विमोहतो विगतो मोहो विमोहो मोहभावस्तस्मात् सविकलः सहितस्तर्हि अशनतोऽपि अन्नादपि अलं पर्याप्तम् शरीरगतमोहाभावे सति किमन्नेन? जितेन्द्रियवामतः इन्द्रियाणि च वामश्च कामश्चेतीन्द्रियवामा जिता इन्द्रियवामा येन तस्मात् अथवा कामेन्द्रियं स्मरात्मना, सा जिता येन तस्मात् इन्द्रियकामविजयश्चेल्लब्धस्तर्हि वसनतो वस्त्रादपि अलं पर्याप्तं इन्द्रियविकारतिरोधानायैव वसनस्यावश्यकत्वात्। भवामतो भव एवामो रोगो भवामस्तस्मात् भवामतो विरतो निवृत्तश्चेत् तर्हि परनतोऽपि परश्च नश्चेति परनस्तस्मात् श्रेष्ठजिनादपि अन्यपूज्यादपीति वा अलं पर्याप्तम्। 'जः स्याज्जविनि जोद्धूतौ जयने जिः प्रकीर्तितः।' 'वामः सव्ये हरे कामे'। 'नकारौ जिनपूज्ययोः'। 'अमो रोगोऽपि तद्भेदे' इति सर्वत्र विश्वलोचनः ॥८१॥

अर्थ— ई अज! हे जन्मातीत! यदि अनियम—स्वैराचार छूट गया है तो संयम से क्या? यदि शरीर से मोह छूट गया है तो अन्न से क्या? यदि कामेन्द्रिय को जीत लिया है तो वस्त्र से क्या? यदि संसाररूपी रोग से विरत हो गये हैं तो श्रेष्ठ जिनेन्द्र अथवा अन्य पूज्य से क्या? अर्थात् सब अनावश्यक हैं ॥८१॥

[८२]

खविषयं विरसं नहि मे मनो, विचरदिच्छति शैवगमे मनो !।

परिविहाय घृतं स सुधीः कदा, जगति तक्रमिदं समधीः कदाः! ।।

हे कदाः! मनो! शैवगमे विचरत् मे मनः विरसम् खविषयम् नहि इच्छति। जगति स सुधीः समधीः कदा घृतम् परिविहाय इदम् तक्रम् (इच्छति) ।

खविषयमिति— हे कदाः! कं सुखं ददातीति कदास्तत्सम्बुद्धौ विवबन्तः प्रयोगः। हे मनो! हे भगवन्! शैवगमे शिवस्यायं शैवः स चासौ गमश्चेति शैवगमस्तस्मिन् मोक्षमार्गे विचरद् विचरणं कुर्वत् मे मम स्तोतुः मनश्चित्तं विरसं नीरसं खविषयं हृषीकविषयं नहीच्छति नो काङ्क्षति। उचितमेवैतत्— जगति भुवने स प्रसिद्धः समधीः समा धीर्यस्य सः। सुधीर् बुधः 'विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन्सुधीः कोविदो बुधः' इत्यमरः। घृतमाज्यं परिहाय त्यक्त्वा। इदं तक्रं मथितं 'उदश्विन्मथितं तक्रं कालशेयं पिबेदगुरु' इति धनञ्जयः। कदा कस्मिन् काले इच्छति? न कदापीत्यर्थः ॥८२॥

अर्थ— हे सुखदायक स्वामी! मोक्षमार्ग में विचरण करने वाला मेरा मन नीरस इन्द्रिय विषय की इच्छा नहीं करता। उचित ही है कि जगत् में वह कौन समबुद्धि विद्वान् है जो घृत के छोड़कर छांछ की इच्छा करता है? ॥८२॥

[८३]

मम मतिः क्षणिका ह्यपि चिन्मयी, तदुदिता न चित्तो यदतन्मयी ।

ननु न वीचिन्ततिः सरसा विना, भवतु वा न सरश्च तथा विनाः ! ।।

हे विनाः! मम क्षणिका अपि चिन्मयी मतिः (अस्तु) तदुदिता (अतः) न चितः यत् (यस्मात्) अतन्मयी (अस्तु) ननु वीचिन्ततिः सरसा विना न भवतु (किन्तु) सरः तथा विना भवतु न वा।

ममेति— हे विना! विशिष्टो ना विनास्तत्सम्बुद्धौ, हे विशिष्टनेतः। 'नास्तु नेतरि नावि स्त्री' इति विश्वलोचनः। मम स्तोतुः क्षणिका अपि क्षायोपशमिकत्वेनास्थिरापि मतिर्बुद्धिः हि निश्चयेन चिन्मयी चैतन्यमयी अस्ति। यतश्च सामतिः तदुदिता तस्मात् चितश्चैतन्यात् उदिता समुत्पन्ना। चितश्चैतन्यात् नोदिता चेन्नोत्पन्ना यदि, तर्हि अतन्मयी अचैतन्यरूपा भवतु। तदेवोदाहरति—ननु निश्चयेन वीचिन्तति स्तरङ्गसन्ततिः

सरसा कासारेण विना न भवतु किन्तु सर स्तया विना भवतु। क्षायोपशमिकी मतिः क्षणिकापि चैतन्यादेव समुत्पन्नत्वाच्चिन्मयी वर्तते किन्तु यच्चैतन्यं नित्येन क्षायिकज्ञानेनापि सहितं भवत्यर्हत्सिद्धावस्थायामिति भावः ॥८३॥

अर्थ— हे विनाः! हे विशिष्ट नेता! मेरी क्षणिक बुद्धि भी — क्षायोप-
शमिकप्रतिभा भी चैतन्यमयी है, क्योंकि वह उसी चैतन्य से उत्पन्न हुई है परन्तु जो
चैतन्य है वह क्षायोपशमिक बुद्धि रूप नहीं भी है। जैसे लहरों की संतति तालाब के
विना नहीं होती पर तालाब लहरों के विना भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि
क्षायोपशमिक बुद्धि तो चैतन्यमयी है परन्तु चैतन्य क्षायोपशमिक बुद्धि रूप होवे भी
और नहीं भी होवे ॥८३॥

[८४]

स्तवनतोऽस्तु मितं विधिबंधनं, बहु लयेदित तेऽत्र शिवं धनम् ।

द्विगुणितं वसु सद्ब्यवसायतः, किमपि नश्यति तत् सहसा यतः ॥

शिवं धनम् इत ! अत्र ते स्तवनतः मितम् विधिबन्धनम् अस्तु (किन्तु) बहु लयेत्। सद्-व्यवसायतः
वसु द्विगुणितम् (भवतु) तत् (वसु) किमपि सहसा यतः नश्यति।

स्तवनत इति— हे शिवं धनं इत! हे श्रेयो वित्तं प्राप्त! अत्र जगति ते तव
स्तवनतः स्तुतेः मितमल्पं विधिबन्धनं कर्मबन्धः अस्तु भवतु किन्तु बहु विपुलं विधिबन्धनं
लयेत् नश्येत्। तदेवोदाहरति यतो यस्मात्कारणात् सद्ब्यवसायतः समीचीनोद्योगात् वसु
धनं द्विगुणितं भवतु किन्तु तत् किमपि अल्पतरं सहसा झटिति नश्यति नष्टं भवति। यथा
समीचीनव्यवसायादायोऽधिको भवति व्ययस्त्वल्पतरो जायते। एवं भगवत्स्तवनात्
कर्मबन्धोऽल्पो भवति निर्जरा तु प्रचुरा जायत इति भावः ॥८४॥

अर्थ— हे कल्याणरूप धनको प्राप्त भगवन्! इस जगत् में यद्यपि आपके स्तवन
से अल्पकर्मबन्ध होता है तथापि निर्जरा अधिक होती है जैसे कि अच्छे व्यवसाय से धन
दूना होता है पर शीघ्र कुछ धन नष्ट भी होता है।

भावार्थ— जैसे समीचीन व्यापार में कुछ थोड़ा धन नष्ट होता है पर लाभ
अधिक धन का होता है, वैसे ही जिनेन्द्र के स्तवन से कर्मबन्ध कम होता है पर निर्जरा
अधिक होती है ॥८४॥

[८५]

सकलवस्तुगमा तव नासिका, परममानमयी भ्रमनाशिका ।

भगवतात्र ततो हि समाहिता, दृगमलाप्यचला च समाहिता ॥

हे जिन! तव परममानमयी सकलवस्तुगमा भ्रमनाशिका नासिका (अस्ति) ततः अत्र (नासिकायाम्)

भगवता अमला, अचला, समा, हिता, च दृक् हि समाहिता ।

सकलेति— हे जिन! तव सकलवस्तुगमा निखिलवस्तुज्ञानवती, परममानमयी दीर्घप्रमाणोपेता, भ्रमनाशिका सन्देहविध्वंसिनी नासिका घ्राणमस्तीति शेषः। तत एव तस्मादेव कारणात् भगवता त्वया स्वामिना अत्र नासिकायां अमला विमला, अचला स्थिरा, समा माध्यस्थ्योपेता, हिता च श्रेयस्करी च दृग् दृष्टिः हि निश्चयेन समाहिता संस्थापिता। नासादृष्टिर्भवानिति भावः ॥८५॥

अर्थ— हे भगवन्! यतश्च आपकी नासा समस्त पदार्थों को जानने वाली, अधिक परिमाण वाली और भ्रम का नाश करने वाली है। इसीलिये आपने निर्मल, निश्चल, माध्यस्थ्यभाव से सहित तथा हित रूप अपनी दृष्टि इस नासा पर लगा रक्खी है ॥८५॥

[८६]

असि गुरुः प्रगुणैश्च समानतः, परमराम इह्यारममाणतः ।

अतिसुखी निजबोधपरागतः, सुपुरुषः प्रकृतावपरागतः ॥

हे देव! प्रगुणैः समानतः गुरुः (असि) इह (निजात्मनि) आसमंतात् रममाणतः आरममाणतः परमरामः (असि)। निजबोधपरागतः अतिसुखी (असि)। प्रकृतौ अपरागतः सुपुरुषः (असि)।

असीति— हे देव! त्वं प्रगुणैः प्रकृष्टाश्च ते गुणाश्चेति प्रगुणास्तैः श्रेष्ठगुणैः। अथवा प्रकृष्टा गुणा येषां तैः प्रकृष्टगुणवद्भिः समानतः सहितः संनतो वा। अतः गुरुः श्रेष्ठोऽसि 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुभरि' इति विश्वः। इह शुद्धात्मस्वरूपे रममाणतः रमत इति रममाणस्ततः परमरामोऽसि परमश्चासौ रामश्चेति परमरामः श्रेष्ठरामोऽसि। निजबोधपरागतो निजस्यात्मनो बोधो ज्ञानं तदेव परागः पुष्परजस्तस्मात् सुखी अतिशयसुखसहितोऽसि। प्रकृतौ स्वभावे अपरागतः सांमुख्यात् सुपुरुषः श्रेष्ठपुरुषोऽसि। अथवा प्रकृतिः सांख्यदर्शनाभ्युपगमस्तत्त्वविशेषस्तस्मिन् अपरागतः प्रीत्यभावात् सुपुरुषः शुद्धपुरुषोऽसि ॥८६॥

अर्थ— हे देव! आप श्रेष्ठ गुणों अथवा श्रेष्ठ गुणवानों से अच्छी तरह नमस्कृत हैं अतः गुरु हैं। इस आत्मस्वभाव में सब ओर से रमण करते हैं अतः राम हैं। आत्मज्ञानरूपी पराग से अत्यन्त सुखी हैं और प्रकृति में राग रहित होने से उत्तम पुरुष हैं ॥८६॥

[८७]

परमवीरक आत्मजयीह त, इति शिवो हृदि लोकजयी हतः ।

अणुरसीति ममोरसि तानितः, समयकान् स्वविदा भवतानितः ॥

हे वीर! इह आत्मजयी (अतः) परमवीरकः असि ते हृदि लोकजयी (कामः). हतः इति शिवः (असि) मम उरसि असि इति अणुः असि। तान् (सकलान्) समयकान् स्वविदा इतः (इति) भवतानितः (विश्वव्यापी) असि।

परमवीरक इति— हे वीर! इह जगति त्वम् आत्मजयी आत्मानं जेतुं शीलः। अथवात्मनो जयो विद्यते यस्य तथाभूतः। अतः परमवीरकः परमवीरः क आत्मा यस्य तथाभूतोऽसि। ते तव हृदि हृदये लोकजयी कामो हतो नष्ट इति शिवः शंकरः कल्याणरूपो वासि। मम स्तोतुः उरसि मनसि असीति हेतोः अणुः अणुरूपोऽसि। मनसोऽणुत्वादिति भावः। तान् सकलान् समयकान् समयन्ते इति समयाः, समया एव समयकास्तान् सकलपदार्थान्। इतः प्राप्तः। इति हेतोः भवतानितः भवे तानितो विस्तृतो भवतानितो विश्वव्यापी असि।

अर्थ— हे वीर! आप आत्मजयी हैं अतः परमवीर हैं। आपके हृदय में लोकविजयी—काम नष्ट हुआ है अतः आप शिव—शंकर अथवा कल्याणरूप हैं। आप मेरे हृदय में आसीन हैं अतः अणुरूप हैं और अपने ज्ञान से समस्त पदार्थों को प्राप्त हैं अतः विश्वव्यापी हैं ॥८७॥

[८८]

नहि सुखे किल दुःखसमागमे, त्वयि मनो रमते मतमागमे।

निशि वरं शशिनो मुखवृत्तकं, भुवि चकोरवयेऽस्त्वित वृत्तकम् ॥

वृत्तकम् इत! ईश! सुखे नहि दुःखसमागमे त्वयि मनो रमते (इति) आगमे मतम् (कथितम्) भुवि चकोरवयेशशिनः मुखवृत्तकम् निशि (एव) वरम् (न दिवसे) अस्तु।

नहीति — हे वृत्तकं चारित्रं इत प्राप्त! 'त्रिषु वृत्तं तु चरिते' इति विश्वलोचनः। वृत्तमेव वृत्तकं स्वार्थे कप्रत्ययः। सुखे सुखावसरे नहि तु दुःखसमागमे दुःखस्य समागमस्तस्मिन् सति त्वयि मनश्चित्तं रमते। इति आगमे मतं कथितम्। तदेवोदाहरति भुवि चकोरवये चकोरश्चासौ विश्वेति चकोरविस्तस्मै जीवन्जीवपक्षिणे 'जीवन्जीवश्चकोरकः' इत्यमरः। शशिनश्चन्द्रस्य मुखवृत्तकं मुखमण्डलं निशि नक्तमेव वरं श्रेष्ठम् अस्तु, दिवसे नेति यावत्। 'दुःखावसरे त्वां स्मरति लोको न सुखावसरे' इति लोकोक्तं चकोरपक्षिदृष्टान्तेन स्फुटीकृतम् ॥८८॥

अर्थ— हे वृत्तकमित! हे चारित्र को प्राप्त भगवन्! सुख के समय नहीं किन्तु दुःख का समागम होने पर आप में मेरा मन रमता है, ऐसा शास्त्र में माना गया है। यह उचित ही है क्योंकि चकोर पक्षी के लिये चन्द्रमा का मण्डल रात में ही अच्छा लगता है रुचता है, दिन में नहीं ॥८८॥

[८९]

अभयदानविधावसि सद्विधि, जगति दर्शितसत्पथसद्विधिः ।

भगवता विजितः स्वबलैर्विधि, रिति भवन्तमये मम वै विधिः ॥

हे विधे! जगति दर्शितसत्पथसद्विधिः अभयदानविधौ सद्विधिः असि। भगवता स्वबलैः विधिः विजितः इति भवन्तम् (अये) (इति) मम वै विधिः।

अभयेति— हे विधे! जगति लोके दर्शितसत्पथसद्द्विधिः दर्शितः सत्पथस्य सन्मार्गस्य सद्द्विधिः समीचीनोपायो येन तथाभूतस्त्वम् अभयदानसद्द्विधौ अभयदानस्य सद्द्विधौ सम्यक्करणे सद्द्विधिः सम्यग् विधानमसि । भगवता त्वया स्वबलैरात्मबलैः विधिः कर्म विजितः। इति हेतोः भवन्तम् अये गच्छामि प्राप्नोमीति यावत्। इति मम स्तोतुः वै निश्चयेन विधिः अस्तीति शेषः ॥८९॥

अर्थ— हे भगवन्! जगत् में आपने सन्मार्ग का समीचीन उपाय दिखाया है अतः आप अभयदान के करने में उत्तम विधि से युक्त हैं— अतिशय निपुण हैं। आपने स्वकीय आत्मबलों से विधि—कर्मकलाप को जीता है इसलिये मैं आपकी शरण में आया हूँ यही मेरी निश्चय से विधि है ॥८९॥

[९०]

तव ललाटतले ललिते ह्यये!, स्थितकचावलिमित्थमहं ह्यये ।

सरसि चोल्लसिते कमलेऽमले, सविनयं स्थिति रिरिष्ट सतामलेः ॥

अयं यनाम् इष्ट ! तव ललिते ललाटतले स्थितकचावलिम् अमले यस्मि च उल्लसितं कमलं सविनयम् हि अलेः स्थितिः इत्थम् अहं हि अये ।

तवेति— अये सतामिष्टः! हे साधूनांप्रिय! तव भवतो ललिते सुन्दरे ललाटतले भालमध्ये स्थितकचावलिः स्थितालकपङ्क्तिं। अमले स्वच्छे सरसि च कासारे च उल्लसिते सुशोभिते प्रफुल्ल इत्यर्थः कमले सरोजे सविनयं हि अलेर्भ्रमरस्य स्थितिरस्तीत्थं अहं हि अये जानामि। ये ये गत्यर्थास्ते ते ज्ञानार्था अपीत्युक्तेः। कनकाभभालतले स्थिता श्यामलालकावलिः सरसि प्रफुल्लसरोजमध्ये स्थिता भ्रमरावलिः शोभत इति भावः ॥९०॥

अर्थ— हे साधुजनं प्रिय! आपके सुन्दर ललाटतल पर स्थित केशावली, स्वच्छ तालाब में प्रफुल्ल कमल पर सविनय स्थित भ्रमरावलि है, ऐसा समझता हूँ ॥९०॥

[९१]

शिरसि भाति तथा ह्यमले तरां, कचततिः कुटिला धवलेतरा ।

मलयचन्दनशाखिनि विश्रुते, विषधराश्च यथा जिन विश्रुते ॥

हे विश्रुते! तव हि अमले शिरसि धवलेतरा कुटिला कचततिः तराम् तथा भाति। विश्रुते मलयचन्दनशाखिनि विषधराः च यथा (भांति) ।

शिरसीति— हे विश्रुते! विशिष्टा श्रुतिरागमो यस्य तत्सम्बुद्धौ। जिन! भगवन्! तव भवतो हि निश्चयेन अमले स्वच्छे शिरसि मूर्ध्नि धवलेतरा श्यामला कुटिला वक्रा कचततिः केशपङ्क्तिः तथा तादृग् भातितराम् अतिशयेन शोभते यथा विश्रुते प्रसिद्धे मलयचन्दनशाखिनि मलयाचलस्थितचन्दनतरौ विषधरा नागाश्च भान्तीति शेषः॥९१॥

अर्थ— हे विश्रुते! विशिष्ट श्रुति के धारक! आपके निर्मल शिर पर कालेकाले घुंघराले वाल उस प्रकार अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं जिस प्रकार कि मलयचन्दन के वृक्ष पर काले—काले सांप सुशोभित होते हैं ॥९१॥

[९२]

ननु नरेशसुखं सुरसम्पदं, ह्यभिलषामि न भुव्यपि सत्पदम् ।

जडतनो बह्नं द्रुतमेत्विति, मज मतिः खरवत् किल मे त्विति ॥

अज! ननु नरेशसुखं सुरसम्पदम् भुवि अपि सत्पदं न अभिलषामि (किन्तु) खरवत् जडतनोः बहनम् द्रुतम् इतिम् एतु। किल इति मे मतिः [अस्ति] तु [पादपूर्तौ]।

नन्विति— हे अज! हे जन्मातीतजिनेन्द्र! ननु निश्चयेनाहं नरेशसुखं राजसुखं सुरसम्पदं देवैश्वर्यं भुवि पृथिव्यामपि सत्पदं चक्रवर्त्यादिश्रेष्ठपदं नहि अभिलषामि वाञ्छामि। किन्तु खरवत् गर्दभवत् जडतनोर्जडशरीरस्य बहनं धरणं द्रुतं शीघ्रं इति समाप्तिं एतुं प्राप्नोतु किल इति हि मे मतिरस्ति। तु पादपूर्तौ ॥९२॥

अर्थ— हे अज! मैं राजसुख, देवविभूति और पृथिवी पर समीचीन पद नहीं चाहता हूँ किन्तु गर्दभ के समान जड़ शरीर का ढोना शीघ्र ही समाप्ति को प्राप्त हो, यही मेरी चाह है ॥९२॥

[९३]

तवलवाश्च तरन्ति सुभावि मे, परममानमदोऽत्र विभाविमे ।

भगवतो स्थिति यद् ह्यमितं श्रुतं, सह दृशा मुनिना पठितं श्रुतम् ॥

हे भगवन्! अदः सुभावि परममानम् अत्र विभौ तव इमे लवाः च तरन्ति इति भगवतः अमितम् श्रुतम् अस्ति यत् (मया) मुनिना दृशा सह हि पठितम् श्रुतम्।

तवेति— हे भगवन्! अदस्तत् सुभावि सुभविष्यत् परममानं परमं च तन्मानं चेति परममानं समुत्कृष्टज्ञानम् विभौ व्यापिनि अत्रोत्कृष्टज्ञाने तव भवत इमे लवाः च विलासा

दशाश्चेति यावत् तरन्ति प्रतिफलन्ति इतीत्थं भगवतस्तव अमितमपरिमितं श्रुतम्
अस्ति यत् मया मुनिना स्तोत्रा दृशा श्रद्धया सह हि निश्चयेन पठितमधीतं श्रुतंच ।
श्रुतज्ञानमेव केवल ज्ञानरूपेण परिणमतीति यावत् ॥९३॥

अर्थ— हे भगवन्! यह भावी उत्कृष्ट ज्ञान है और इस व्यापक ज्ञान में आपकी ये
समस्त दशाएं तैर रही हैं—प्रतिबिम्बित हो रही हैं, ऐसा भगवान् आपका अपरिमित श्रुत
है जो मुझ मुनि ने श्रद्धा के साथ निश्चय से पढ़ा है और सुना है।

भावार्थ— बारहवें गुणस्थान के अन्त में विद्यमान श्रुतज्ञान ही घातिचतुष्क का
क्षय हो जाने पर केवल ज्ञान रूप परिणत हो जाता है। वह लोकालोकवर्ती पदार्थों को
जानने से व्यापक होता है और उसमें सब पदार्थ प्रतिफलित होते हैं ॥९३॥

[९४]

मयि रतोऽहमतो भवतो रुचि, गतबलस्तु विधिर्भवतोऽरुचिः ।

विषधरो विषदन्तविहीनकः, सहचरोऽपि भवन् किमु हीनकः ।

हे इन! क! भवतः रुचि अहम् रतः अतः भवतः अरुचिः मयि अस्तु (अतः) गतबलः विधिः (अस्तु)।
विषदन्तविहीनकः हि विषधरः सहचरः भवन् अपि किमु? (कापि हानिः न)

मयीति— हे इन! हे ईशितः! 'भर्तेन्द्र इन ईशिता' इति धनञ्जयः। हे क! हे ब्रह्मन्!
'को ब्रह्मानिलसूर्यग्निमात्मघोतबर्हिषु' इति विश्वलोचनः। भवतस्तवं रुचि
श्रद्धायाम् ज्योतिषि वा अहं स्तोता रतो लीनः। अतोऽस्मात् कारणात् भवतः संसारात्
अरुचिः अप्रीतिः मयि स्तोतरि अस्तु भवतु। गतबलो निर्बलः विधिः कर्म अस्तु।
विषदन्तविहीनकः विषदन्तेन विहीनो विषदन्तविहीनः स एव विषदन्तविहीनकः स्वार्थे
कप्रत्ययः। विषधरः सर्पः सहचरो सहगामी भवन्नपि किमु? कापि हानिर्नास्तीति
भावः ॥९४॥

अर्थ— हे स्वामिन्! हे ब्रह्मन्! आपकी रुचि—श्रद्धा या ज्योति में मैं रत हूँ— लीन
हूँ अतः संसार से अरुचि मुझमें हो। सम्प्रति क्षीणशक्ति वाले कर्म मुझमें हैं तो रहें,
उनसे हानि नहीं। जैसे विषदन्त से रहित सांप साथ में रहे तो क्या करेगा?

भावार्थ— जिनेन्द्रदेव का श्रद्धान होने से सम्यग्दर्शन हो जाता है।
विरतसम्यग्दृष्टि जीव संसार में रहता हुआ भी संसार से विरक्त रहता है। वह
चाहता तो है कि कर्म की एक कणिका भी मेरी आत्मा में न रहे पर निष्कर्म अवस्था
प्राप्त कर लेना उसके तात्कालिक पुरुषार्थ की बात नहीं है। मिथ्यात्व के नष्ट हो जाने
से सत्ता में स्थित कर्मों की शक्ति क्षीण हो जाती है। ऐसे शक्तिहीन कर्म संसारदशा में
विद्यमान रहते हैं पर उनसे उतनी हानि नहीं ॥९४॥

[१५]

किल विदा कमयंति विरागिणस्तदितरद् कुविदा भुवि रागिणः ।

शुचिमिते जिन ते भव सन्मते !, समुदितं विशदं त्वित्ति सन्मते ॥

हे सन्मते! भव जिन! भुवि विरागिणः किल विदा कम अयंति। रागिणः कुविदा तदितरत्(दुःखम्) (अयन्ति) इति ते सन्मते शुचिम् इते (शुचिमते) विशदम् समुदितम्।

किलेति— हे सन्मते! सती मतिर्यस्य स सन्मतिस्तत्सम्बुद्धौ हे सद्बुद्धौ विशोभित! हे महावीर! वा ! हे भव जिन! श्रेयोरूप जिन! भुवि वसुधायां किलेति वाक्यालंकारे विरागिणो रागरहिता जना विदा सम्यग्ज्ञानेन कं सुखम् अयन्ति प्राप्नुवन्ति। रागिणस्तु रागयुक्ता जनास्तुकुविदा मिथ्याज्ञानेन तदितरं तस्मात्सुखादितरद् दुःखमयन्ति। इतीत्थं शुचिं नैर्मल्यमिते प्राप्ते ते तव सन्मते समीचीनमते विशदं स्पष्टं यथा स्यात्तथा समुदितं कथितं त्वयेति शेषः ॥१५॥

अर्थ— हे सद्बुद्धि से विशोभित! हे प्रशस्तजिन! पृथिवी पर विरागी मनुष्य सम्यग्ज्ञान से सुख को प्राप्त होते हैं और रागी मनुष्य कुज्ञान से दुःख को प्राप्त होते हैं। इस तरह शुचिता को प्राप्त आपके समीचीन मत में स्पष्ट रूप से कहा गया है।

भावार्थ— रागपरिणति दुःख का कारण है और विरागपरिणति सुख का कारण है। जिनधर्म में स्पष्ट कहा गया है कि रागी जीव कर्मबन्ध करता है और विरागी जीव कर्मबन्ध से छूटता है ॥१५॥

[१६]

मम सुवित् तनुरद्य मितांजसा, तव नुतेर्लघुना ह्यमिताज सा ।

इति समुद्गम एव भृशं गमे, सरिदिवात्र सरित्पतिसंगमे ॥

हे अज! अत्र समुद्गमे गमे एव सरित् (तनुः) (किन्तु) सरित्पतिसंगमे इव मम सुवित् अद्य (एव) मिता तनुः (अस्ति किन्तु) तव नुतेः लघुना अंजसा सा हि अमिता (स्यात्)।

ममेति— हे अज! हे जन्मातीत! यद्यपि मम स्तोतुः सुवित् सम्यग्ज्ञानं अद्य साम्प्रतम् अज्ञसा याथार्थ्येन तनुः अल्पा मिता सीमिता चास्ति तथापि तव नुतेः स्तुतेः सा सुवित् लघुना शीघ्रं लघुना कालेनेति यावत्। हि निश्चयतः अमिता सीमातीता स्यादिति शेषः। जिनस्तुतिप्रभावादल्पमपि सम्यग्ज्ञानं केवलज्ञानेन परिणमतीत्यर्थः। तदेवोदाहरति— अत्र जगति सरित् इव नदी यथा इति समुद्गमे एव अयनमितिर्गतिरित्यर्थः तस्याः समुद्गमे प्रारम्भ एव तनुः कृशा भवति, गमे मार्गे 'गमो द्यूतान्तरे मार्गे' इति विश्वलोचनः। सरित्पतिसंगमे च सागरसमागमे च भृशमत्यन्तम् अमिता सुविस्तृता भवति ॥१६॥

अर्थ— हे अज ! यद्यपि आज मेरा सम्यग्ज्ञान वास्तव में अल्प और सीमित है तथापि आपके स्तवन से वह शीघ्र ही निश्चयतः अपरिमित हो सकता है। जैसे कि नदी उद्गम स्थान में ही पतली होती है। परन्तु मार्ग में और समुद्र का समागम होने के समय अत्यन्त अपरिमित—सुविस्तृत हो जाती है ॥९६॥

[९७]

विरत ईश ! भवामि न हंसतः, पदयुगादिह तावदहं सतः ।

विदमला मम नृत्यति सम्मुखं, सदय!यावदिता विहसन्मुखम् ॥ ।

हे सदय!ईश! हंसतः सतः पदयुगात् अहम् तावत् विरतः न भवामि यावत् ममसम्मुखं विहसन्मुखं इता विदमला नृत्यति।

विरत इति— हे सदय! हे सकृप! ईश! स्वामिन्! इह जगति। अहं स्तोता हंसतो विवेकरूपात् आत्मरूपाद्वा सतः साधोस्तव पदयुगात् चरणयुगलाद् तावत् विरतो विरक्तो न भवामि यावत् मम सम्मुखं पुरस्तात्। विहसन्मुखं प्रसन्नवदनम् इता प्राप्ता अमलाविद् निर्मलाज्ञापतिश्चेतनेति यावत् नृत्यति नृत्यं करोति। यावन्मम हृदये निर्मलविचारसन्ततिर्विद्यते तावत्त्वच्चरणारविन्दयुगलभक्तितो विरतो न भविष्यामीति मे संकल्पः ॥९७॥

अर्थ— हे सदय! ईश! हे दयालो भगवन्! इस जगत् में मैं आपके विवेकरूप श्रेष्ठ चरण युगल से तब तक विरत— पराङ्मुख नहीं होता हूँ जब तक मेरे सन्मुख प्रसन्नवदना निर्मलचेतना नृत्य करती है ॥९७॥

[९८]

स्तवनतो रसना च शिरो नतेः, पथि पदौ गमनाच्च गुणे न! ते ।

इति समीक्षणतो नयने न ! मे, ह्यवयवा विमलाः सुमुने नमे! ॥ ।

हे सुमुने! न ! नमे! ते स्तवनतः मे रसना (ते) पथि गमनात् पदौ (ते) नतेः शिरः (ते) समीक्षणतः (मे) नयने इति (सर्वे) हि अवयवाः विमलाः (भूताः)।

स्तवनत इति— हे सुमुने! हे शोभनयते! हे न न! हे पूज्यजिनेन्द्र! हे न गुरो! पूज्यगुरो! हे नमे! नमितीर्थकर! ते तव स्तवनतः स्तुतेः रसना जिह्वा, नतेर्नमस्कारात् शिरोमूर्धा, पथि मार्गे गमनात् पदौ चरणौ, समीक्षणतः समवलोकनात् नयने लोचने च। इतीत्थं मे मम अवयवा अङ्गानि हि निश्चयेन विमला निर्मला जाता इति शेषः ॥९८॥

अर्थ— हे सुमुने! हे पूज्य जिनराज! हे पूज्य गुरुदेव! हे नमिनाथ भगवन्! आपके स्तवन से जिह्वा, नमस्कार से मस्तक, मार्ग में गमन करने से पैर और दर्शन से दोनों नेत्र, इसप्रकार मेरे सभी अङ्ग निश्चय मे निर्मल हो गये ॥९८॥

[९९]

गुणवतामिति चासि मतोऽक्षरः, किल तथापि न चित्तवतोऽक्षरः ।

नहि जिनाप्यसि तेन विना सितः, स्तुतिरियं च कृतात्र विनाशितः । ।

हे जिन (त्वं) अक्षरः असि इति गुणवताम् मतः किल तथापि चित्तवतः अक्षरः (शब्दमयः) न (असि) । (किन्तु) तेन विना (शब्देन विना) (मया) सितः (ज्ञातः) अपि न (असि) । अतः अत्र विनाशितः (शब्दैः) इयम् च (ते) स्तुतिः (मया) कृता ।

गुणवतामिति— हे जिन! त्वम् अक्षरोऽविनाशी असि। इतीत्थं गुणवतां गुणधारिणां मतः किल तथापि चित्तवतो विचारशीलस्य अक्षरः शब्दमयो नासि। अक्षरस्य पौद्गलिकत्वादात्मरूपत्वं नास्तीति भावः। तेनाक्षरेण विना शब्देन विना त्वं सितो ज्ञातोऽपि नासि 'सितं श्वेतसमाप्तयोः। त्रिषु ज्ञातेऽपि बद्धेऽपि' इति विश्वलोचनः। अतोऽत्र लोके विनाशितः शब्दैर्विना नाशं प्राप्तः। इयमेषा च ते स्तुतिः कृता मयेति शेषः ॥९९॥

अर्थ— हे जिन! यद्यपि आप अक्षर—अविनाशी हो ऐसा गुणवानों का मत है तथापि चित्तवान्—आत्मा के अक्षररूपता कैसे हो सकती है? क्योंकि आप सचेतन हैं और अक्षर पौद्गलिक होने से जड़ रूप हैं। आप अक्षररूप नहीं हैं यह ठीक है फिर भी अक्षर के विना आप ज्ञात नहीं हैं। अर्थात् अक्षरों से ही आपका ज्ञान होता है। अतः इस जगत् में आपकी यह स्तुति मैंने शब्दों से की है ॥९९॥

[१००]

वै विषमयीमविद्यां विहाय ज्ञानसागरजां विद्याम् ।

सुधामेम्यात्मविद्यां नेच्छामि सृकृतजां भुवि द्याम् ॥

अत्र भुवि अहम् आत्मवित् सृकृतजां याम् द्याम् न इच्छामि वै विषमयीम् अविद्याम् विहाय "ज्ञानसागरजाम्" सुधाम् विद्याम् एमि।

वै इति— अत्र भुवि अस्यां पृथिव्यामहं वै निश्चयेन सृकृतजां पुण्योद्भूतां द्यां स्वर्गं नेच्छामि नाभिलषामि किन्तु विषमयीं गरलरूपाम् अविद्यामज्ञानपरिणतिं विहाय त्यक्त्वा ज्ञानसागरजां ज्ञानमेव सागरः समुद्रस्तस्माज्जातां ज्ञानसागर एतन्नामा गुरुस्तस्माज्जातां समुदितां वा आत्मविद्याम् आत्मज्ञानपरिणतिरूपां सुधां पीयूषं एमि प्राप्नोमि ॥१००॥

अर्थ— हे भगवन्! इस पृथिवी पर मैं निश्चय से पुण्योदय से प्राप्त होने वाले स्वर्ग को नहीं चाहता हूँ किन्तु विषरूप अविद्या को छोड़कर ज्ञानरूप सागर (पक्ष में ज्ञानसार गुरु) में उत्पन्न आत्मविद्यारूपी सुधा को प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ— यहाँ श्लेष से 'ज्ञानसागर' नामक विद्या एवं दीक्षा गुरु का उल्लेख किया है। लोक में प्रसिद्ध है कि समुद्र मन्थन से विष और अमृत निकले थे उनमें से देवों ने अमृत को ग्रहण किया था और उसके फलस्वरूप वे अमर हो गये। यहाँ ज्ञानसागर गुरु के संपर्क से अज्ञान और ज्ञान का मुझे अनुभव हुआ। उनमें से अज्ञान विषरूप है उसे छोड़कर मैं आत्मज्ञान रूपी अमृत को ग्रहण करता हूँ और उसके फलस्वरूप अमर हो जाना चाहता हूँ। जन्ममरण के चक्र से निवृत्त होना चाहता हूँ ॥१००॥

मङ्गलकामना

विभावतः सुद्वाराणां सन्तति र्जयतात् सताम्।

द्यामेत्य पुनरागत्य स्वानुभूतेः शिवं व्रजेत् ॥१॥

साधुना सा पदं ह्येतु भूपतौ च जने जने ।

गुवि सर्वत्र शान्तिः स्यात् मदीया भावना सदा ॥२॥

रेपवृत्तिं परित्यज्य ना नवनीतमार्दवम् ।

णलाभाय भजेद् भव्यो भक्त्या साकं भृशं सदा ॥३॥

विद्याब्धिना सुशिष्येण ज्ञानोदधेरलङ्कृतम् ।

रसेनाध्यात्मपूर्णेन शतकं शिवदं शुभम् ॥४॥

चित्ताकर्षिं तथापि ज्ञैः पठनीयं विशोध्य तैः ।

तं मन्ये पण्डितं योऽत्र गुणान्वेषी भवेद् भवे ॥५॥

अर्थ— विभाव से अत्यन्त दूर रहने वाले साधुजनों की सन्तति —परम्परा जयवंत रहे जो स्वर्ग जाकर पश्चात् आकर स्वानुभूति से मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥१॥

इस समय वह सा— लक्ष्मी राजा तथा जन—जन में पद स्थान को प्राप्त हो एवं पृथिवी पर सर्वत्र सदा शान्ति रहे यह मेरी भावना है ॥२॥

भव्यपुरुष हिंसावृत्ति को छोड़कर मक्खन जैसी कोमलता को प्राप्त हो एवं ज्ञान की प्राप्ति के लिए भक्ति के साथ सदा भगवान् की आराधना करे ॥३॥

आचार्य ज्ञानसागर जी के शिष्य विद्यासागर ने अध्यात्मपूर्ण रस से अलंकृत, कल्याणप्रद शुभशतक की रचना की है ॥४॥

यद्यपि यह शतक चित्ताकर्षक है तथापि ज्ञानीजनों को शोधकर पढ़ना चाहिये। इस जगत् में मैं उसे पण्डित मानता हूँ जो गुणों का अन्वेषण करने वाला हो ॥५॥

सन्तों नमस्कृत सुरों बुध मानवों से,
ये हैं जिनेश्वर नमूं मन वाक्त्तनों से ।
पश्चात् करूँ स्तुति निरंजन की निराली,
मेरा प्रयोजन यही कि मिटे भवाली ॥१॥

स्वामी ! अनन्त-गुण-धाम बने हुए हो,
शोभायमान निज की झुति से हुए हो ।
मृत्युंजयी सकल-विज्ञ विभावनाशी,
वदूँ तुम्हें, जिन बनूँ सकलावभाशी (षी) ॥२॥

सच्चा निजी पद निरापद सम्पदा है,
तो दूसरा पद घृणास्पद आपदा है ।
हे ! भव्यकंजरवि ! यों तुमने बताया,
शुद्धात्म से प्रभव वैभवभाव पाया ॥३॥

जो चाहता शिव सुखास्पद सम्पदा है,
वो पूजता तव पदाम्बुज सर्वदा है ।
पाना जिसे कि धन है अयि 'वीर' देवा !
क्या निर्धनी धनिक की करता न सेवा ? ॥४॥

सत् तेज से मदन को तुमने जलाया,
अन्वर्थ नाम फलरूप 'महेश' पाया ।
निराग हो अमति सन्मति विज्ञ प्यारे,
स्वामी मदीय मन को तुम ही सहारे ॥५॥

हे ! देव दो नयन के मिस से तुम्हारे,
हैं वस्तु को समझने नय मुख्य प्यारे ।
यों जान, मान, हम लें उनका सहारा,
पावें अवश्य भवसागर का किनारा ॥६॥

उत्पाद ध्रौव्य व्यय भाव सुधारता हूँ,
चैतन्यरूप वसुधातल पालता हूँ ।
पाते प्रवेश मुझमें तुम हो इसी से,
स्वामी ! यहाँ अमित सागर में शशी से ॥७॥

जो आपमें निरत है सुख लाभ लेने,
आते न पास उसके विधि कष्ट देने ।
क्या सिंह के निकट भी गज झुण्ड जाता ?
जाके उसे भय दिखाकर क्या सताता ? ॥८॥

हे! शुद्ध! बुद्ध! मुनिपालक! बोधधारी !
है कौन सक्षम कहे महिमा तुम्हारी ?
ऐसा स्वयं कह रही तुम भारती है,
शास्त्रज्ञ पूज्य गणनायक भी ब्रती हैं ॥९॥

है आपने स्वतन की ममता मिटादी,
सच्चेतना सहज से निज में बिठादी ।
लो! देह में इसलिये कनकाभ जःगी,
मोहान्धकार विघटा, निज ज्योति जागी ॥१०॥

श्रीपाद ये कमल-कोमल लोक में हैं,
ये ही यहाँ शरण पंचम काल में हैं ।
है भव्य कंज खिलता, इन दर्श पाता,
पूजँ अतः हृदय में इन को बिठाता ॥११॥

लोहा बने कनक पारस संग पाके,
मैं शुद्ध किन्तु तमसा तुम संग पाके ।
वो तो रहा जड़, रहे तुम चेतना हो,
कैसा तुम्हें जड़ तुला पर तोलना हो! ॥१२॥

सानन्द भव्य तुम में लवलीन होता,
पाता स्वधाम सुख का, गुणधाम होता ।
औ देह त्याग कर आत्मिक वीर्य पाता,
संसार में फिर कभी नहीं लौट आता ॥१३॥

काले घने भ्रमर से शिर में तुम्हारे,
ये केश हैं नहि विभो ! जिन देव प्यारे ।
ध्यानाग्नि से स्वयम को तुमने जलाया,
लो ! सान्ध धूम्र मिस बाहर राग आया ॥१४॥

लो ! आपके सुभग-सौम्य-शरीर द्वारा,
दोषी शशी अयशधाम नितान्त हारा ।
वो आपके चरण की नख के बहाने,
सेवा तभी कर रहा यश कान्ति पाने ॥१५॥

लो आपकी सुखकरी कविता विभा से,
मोहान्धकार मिटता अबिलम्बता से ।
ज्योतिर्मयी अरुण है जब जाग जाता,
कैसे कहूँ कि तम है कब भाग जाता ? ॥१६॥

सौंदर्य पान कर भी मुख का तुम्हारे,
प्यासा रहा मन तभी, तुम यों पुकारे !
पीयूष पी निज, तृषा यदि है बुझाना,
बेटा! तुझे सहज शाश्वत शांति पाना ॥१७॥

मूँगे समा अधर पे स्मित सौम्य रेखा,
है प्रेम से कह रही मुझ को सुरेखा ।
आनन्द बाधि तुम में लहरा रहा है,
पूजूँ तुम्हें, बन दिगम्बर, भा रहा है ॥१८॥

नक्षत्र है गगन के इक कोन में ज्यो,
आकाश है दिख रहा तुम बोध में त्यों ।
ऐसी अलौकिक विभा तुम ज्ञान की है,
मन्दातिमन्द पड़ती झुति भानु की है ॥१९॥

है एक साथ तुममें यह विश्व सारा,
उत्पन्न हो मिट रहा ध्रुव भाव धारा ।
कल्लोल के सम सरोवर में न स्वामी !
पै ज्ञेय ज्ञायकतया, शिवपंथगामी ॥२०॥

मैं रागत्याग तुझमें अनुराग लाके,
होता सुखी कि जितना लघु ज्ञान पाके ।
तेरी बृहस्पति सुभक्ति करें, तथापि,
हो स्वर्ग में नहिं सुखी उतना कदापि ॥२१॥

ज्यों ही मदीय मन है तब स्पर्श पाता,
त्यों ही त्वदीय सम भासुर हो सुहाता ।
रागी विराग बनता तब संघ में है ।
लो ! नीर, दूध बनता गिर दूध में है ॥२२॥

मानूँ तुम्हें तुम शशी तम में भरी हैं,
सच्ची सुधा गुणमयी मन को हरी है ।
ऐसा न हो, मम मनोमणि से भला यों,
सम्यक्त्वरूप झरना, झर है रहा क्यों ? ॥२३॥

सम्मोह से भ्रमित हो जग पाप पाता,
पै आपका मन नहीं अघ ताप पाता ।
लोहा स्वभाव तजता जब जंग खाता,
हो पंक में कनक पै सब को सुहाता ॥२४॥

हो केवली तुम बली शुचि शान्त शाला,
ऐसा तुम्हें कब लखे अघ दृष्टि वाला ।
हो पीलिया नयन रोग जिसे हमेशा,
पीला शशी नियम से दिखता जिनेशा! ॥२५॥

ऐसी कृपा यह हुई मुझपे तुम्हारी,
आस्था जगी कि तुममें मम निर्विकारी ।
संसार भोग फलतः रुचते नहीं हैं,
प्रत्यक्ष मात्र तुम हो जड़ गौण ही है ॥२६॥

स्वामी ! निवास करते मुझमें सुजागा,
आत्मानुराग फलतः पर राग भागा ।
लो दूध में जब कि माणिक ही गिरेगा,
क्या लाल लाल तब दूध नहीं बनेगा ? ॥२७॥
वैराग्य से तुम सुखी भज के अहिंसा,
होता दुखी जगत है कर राग हिंसा ।
सत् साधना सहज साध्य सदा दिलाती,
दुःसाधना दुखमयी विष ही पिलाती ॥२८॥

श्रद्धा समेत तुम में रममान होता,
वो ओज तेज तुम सा स्वयमेव ढोता ।
काया हि कंचन बने कि अचेतना हो,
आश्चर्य क्या ? द्युतिमयी यदि चेतना हो ॥२९॥

जैसा कि वृक्ष फल फूल लदा सुहाता,
माथा, धरा जननि के पद में झुकाता ।
ऐसे लगे कि गुण भार लिए हुए हो,
चैतन्यरूप-जननी पद में झुके हो ॥३०॥

छत्रादि स्वर्णमय वैभव पा लिए हो,
स्वामी ! न किन्तु उनसे चिपके हुए हो ।
तेरी अपूर्व गरिमा गणनायकों से,
जाती कही न फिर क्या ? हम बालकों से ॥३१॥

विज्ञानरूपरमणी तुममें शिवाली,
जैसी लसी अमित अव्यय कांतिवाली ।
वैसी नहीं शशिकला शशि में, निराली,
अत्यन्त चूँकि कुटिला व्यय-शील-वाली ॥३२॥

देखा विभामय विभो मुख आपका है,
ऐसा मुझे सुख मिला नहीं नाप का है ।
जैसा यहां गरजता लख मेघ को है,
पाता मयूर सुख भूलत खेद को है ॥३३॥

सर्वज्ञ हो इसलिए विभु हो कहाते,
निस्संग हो इसलिये सुख चैन पाते ।
में सर्व संग तजके तुम संग से हूँ,
आश्चर्य आत्म सुख लीन अनंग से हूँ ॥३४॥

आकाश में उदित हो रवि विश्वतापी,
संतप्त त्रस्त करता जग को प्रतापी ।
पै आप कोटि रवि तेज स्वभाव पाये,
बैठे मदीय उर में न मुझे जलाये ॥३५॥

वे कामधेनु सुरपादप स्वर्ग में ही,
सीमा लिए दुख घुले सुख दे, विदेही !
पै आपका स्तवन शाश्वत मोक्ष-दाता,
ऐसा बसन्ततिलका यह छन्द गाता ॥३६॥

जो आपकी स्तुति सरोवर में घुली है,
मेरी खरी श्रमणता शुचि हो धुली है ।
तो साधु स्तुत्य मम क्यों न सुचेतना हो ?
औ शीघ्र क्यों न कल-केवल-केतना हो ? ॥३७॥

तल्लीन नित्य निज में तुम हो खुशी से,
नीरादि से परम शीतल हो इसी से ।
पा अग्नि योग जल है जलता जलाता,
कर्माग्नि से तुम नहीं यह साधु गाथा ॥३८॥

लो आपकी रमणि एक गुणावली है,
दूजी सती विषदकीर्तिमयी भली है ।
पै एक तो रम रही नित आप में है,
कैसा विरोध यह ? एक दिगंत में है ॥३९॥

देवाधिदेव मुनिबन्ध कुकाम वैरी,
पाती प्रवेश तुम में मति हर्ष मेरी ।
जैसी नदी अमित सागर में समाती,
होती सुखी मिलन से दुख भूल जाती ॥४०॥

उत्फुल्ल नीरज खिले तुम नेत्र प्यारे,
हैं शोभते करुण केशर पूर्ण धारें ।
मेरा वहीं पर अतः मन स्थान पाता,
जैसा सरोज पर जा अलि बैठ जाता ॥४१॥

हैं आप दीनजन रक्षक, साधु माने,
दावा प्रचण्ड विधि कानन को जलाने ।
पंचेंद्रि-मत्त-गज-अंकुश हैं सुहाते,
हैं मेघ विश्वमदताप-तृषा बुझाते ॥४२॥

चारों गती भिट गयी तुम ईश ! शम्भू,
हो ज्ञान पूर निजगम्य अतः सयम्भू,
ध्यानाग्नि दीप्त मम हो तुम बात हो तो,
संसार नष्ट मम हो तुम हाथ हो तो ॥४३॥

हो आपको नमन तो सघना अघाली,
पाती विनाश पल में दुख शील वाली ।
फैला पयोद दल हो नभ में भले ही,
थोड़ा चले पवन तो बिखरे उड़े ही ॥४४॥

श्री पाद मानस सरोवर आपका है,
होते सुशोभित जहाँ नख मौक्तिका हैं ।
स्वामी ! तभी मनस हंस मदीय जाता,
प्रायः वहीं विचरता चुग मोति खाता ॥४५॥

लो ! आपके चरण में भवभीत मेरा,
विश्रान्त है अभय पा मन है अकेला ।
माँ का उदारतम अंक अवश्य होता,
निःशंक हो शरण पा शिशु चूँकि सोता ॥४६॥

हो वर्धमान गतमान प्रमाणधारी,
क्यों ना सुखी तुम बनो जब निर्विकारी ।
स्वात्मस्थ हो अभय हो मन अक्षजेता,
हो दुःख से बहुत दूर निजात्मवेत्ता ॥४७॥

सन्मार्ग पे विचरता मुनि हो अकेला,
स्वामी ! हुआ बहुत काल व्यतीत मेरा ।
मेरे थके पग अभी कितना विहारा,
बोलो कि दूर कितना तुम धाम प्यारा ॥४८॥

स्वामी अपूर्व रवि हो द्युति धाम प्यारे,
ये तेज हीन रवि सम्मुख हो तुम्हारे,
मानो नहीं स्वयम को रवि हे विरागी !
क्यों अग्नि है मम तपो मणि में सुजागी ? ॥४९॥

हे ईश धीश मुझमें बल बोधि डालो !
कारुण्य धाम करुणा मुझमें दिखालो ।
देहात्म में बस विभाजन तो करूँगा,
शीघ्रातिशीघ्र सुख भाजन तो बनूँगा ॥५०॥

विज्ञान से शमित की रति की निशा है,
पाया प्रकाश तुमने निज की दशा है ।
तो भी निवास करते मुझमें विरागी !
आलोक धाम तुम हो, तम मैं, सरागी ॥५१॥

शुद्धात्म में तुम सुनिश्चय से बसे हो,
जो जानते जगत को व्यवहार से हो ।
होती सदा सहजवृत्ति सुधी जनों की,
इच्छामयी विकृतवृत्ति कुधी जनों की ॥५२॥

संसार को निरखते न यथार्थ में हैं,
लो आप केवल निजीय पदार्थ में हैं ।
संसार ही झलकता दृग में तथा हैं,
नाना पदार्थ दल दर्पण में यथा हैं ॥५३॥

स्वादी तुम्हीं समयसार स्वसम्पदा के,
आदी कुधी सम नहीं जड़ सम्पदा के ।
औचित्य है भ्रमर जीवन उच्च जीता,
मक्खी समा मल न, पुष्प पराग पीता ॥५४॥

है वस्तुतः जड़ अचेतन ही तुम्हारी,
वाणी तथापि जग पूज्य प्रमाण प्यारी ।
है एक हेतु इसमें तुमने निहारा,
विज्ञान के बल अलोक त्रिलोक सारा ॥५५॥

सम्यक्त्व आदिक निजी बल मोक्षदाता,
वे ही अपूर्ण जब लौ सुर सौख्यधाता ।
औचित्य वस्त्र बनता निज तन्तुओं से,
ऐसा कहा कि तुमने मित सत् पदों से ॥५६॥

होता विलीन भवदीय उपासना में,
तो भूलता सहज ही सुख याचना मैं ।
जो डूबता जलधि में मणि ढूँढ़ लाने,
क्या मांगता जलधि से मणि दे! सयाने! ॥५७॥

औचित्य! है प्रथम अम्बर को हटाया,
पश्चात् दिगम्बर विभो! मन को बनाया ।
रे! धान का प्रथम तो छिलका उतारो,
लाली उतार, फिर भात पका, उड़ा लो ॥५८॥

शंका न मृत्यु भय ने सबको हराया,
संसार ने तब परिग्रह को सजाया ।
हे सेव्य! हे अभय! सेवक मैं विरागी,
मैं भी बनूँ अभय जो सब ग्रन्थत्यागी ॥५९॥

जो देह नेह मद को तजना कहाता !
स्वामी! अतीन्द्रिय वही सुख है सुहाता ।
तेरे सुशान्त मुख को लख हो रहा है,
ऐसा विबोध, मन का मल धो रहा है ॥६०॥

गंभीर सांगर नहीं शशि दर्श पाता,
गांभीर्य त्याग तट बाहर भाग आता ।
गंभीर आप रहते निज में इसी से,
होते प्रभावित नहीं जग में किसी से ॥६१॥

है चाहता अबुध ही तुम पास आना,
धारे बिना नियम संयम शील बाना ।
धीमान कौन वह है! श्रम देख रोये,
चाहे यहाँ सुफल क्या बिन बीज बोये ॥६२॥

शुद्धात्म में रुचि बिना शिवसाधना है,
रे निर्विवाद यह आत्मविराधना है ।
हो आत्मघात शिर से गिरि फोड़ने से,
तेरा यही मत इसे सुख मानने से ॥६३॥

ना आत्म तृप्ति उदयागत पुण्य में है,
वो शांति की लहर ना शशिविम्ब में है ।
जो आपके चरण का कर स्पर्श पाया,
आनन्द ईदृश कहीं अब लौ न पाया ॥६४॥

स्वामी! निजानुभवरूप समाधि द्वारा,
पाया, मिटी-भव-भवाब्धि, भवाब्धि पारा ।
ये धैर्य धार बुध साधु समाधि साधें,
साधें अतः सहज को निज को अबाधें ॥६५॥

है वज्र, कर्म-धरणी-धर को गिराता,
दावा बना कुमत्त कानन को जलाता ।
ऐसा रहा सुखद शासन शुद्ध तेरा,
पाथेय पंथ बन जाय सहाय मेरा ॥६६॥

हो तेज भानु भवसागर को सुखाने,
गंगा तुम्हीं तृषित की कुतृषा बुझाने ।
हो जाल इंद्रियमयी मछली मिटाने,
मैं भी, तुम्हें, सुबुध भी, इस भाँति मानें ॥६७॥

मेरी मती स्तुति सरोवर में रहेगी,
होगी मदाग्नि मुझमें, रह क्या करेगी ।
पीयूष सिन्धु भर में विषबिन्दु क्या है ?
अस्तित्व हो पर प्रभाव दबाव क्या है ? ॥६८॥

स्याद्ववादरूप मत में, मत अन्य खारे,
ज्यों ही मिले मधुर हो बन जाएं प्यारे ।
मात्रानुसार यदि भोजन में मिलाओ,
खारा भले लवण हो अति स्वाद पाओ ॥६९॥

ले आपकी प्रथम मैं स्तुति का सहारा,
पश्चात् नितान्त निज में करता विहारा ।
ज्यों बीच बीच निज पंख विहंग फैला,
फैला विहार करता नभ में अकेला ॥७०॥

मिथ्यात्व से भ्रमित चित्त सही नहीं है,
तेरे उसे वचन ये रुचते नहीं हैं।
मिश्री मिला पय उसे रुचता कहाँ है ?
जो दीन पीड़ित दुखी ज्वर से अहा ! है ॥७१॥

लालित्य पूर्ण कविता लिख के तुम्हारी,
होते अनेक कवि हैं कवि नामधारी ।
मैं भी सुकाव्य लिख के कवि तो हुआ हूँ,
आश्चर्य तो यह निजानुभवी हुआ हूँ ॥७२॥

श्रद्धासमेत तुमको यदि जानता है,
शुद्धात्म को वह अवश्य पिछानता है ।
धूवाँ दिखा अनल का अनुमान होता,
है तर्क शास्त्र पढ़ते दृढ़ बोध होता ॥७३॥

मोहादि कर्म मल को तुमने मिटाया,
स्वामी स्वकीय पद शाश्वत सौख्य पाया ।
लेता सहार मुनि हो अब मैं तुम्हारा,
तोता जहाज तज कुत्र उड़े बिचारा ? ॥७४॥

त्योँ आपके स्तवन की किरणावली है,
पाती प्रवेश मुझमें सुखदा भली है ।
ज्यों ज्योति पुंज रवि की प्रखरा प्रभाली,
हो रंघ्र में सदन के घुसती निराली ॥७५॥

कामारिरूप तुम में मन को लगाता,
है वस्तुतः मुनि मनोभव को मिटाता ।
हो जाय नाश जब कारण का तथापि,
क्या कार्य का जनम हो जग में कदापि ? ॥७६॥

स्वामी तुम्हें न जिसने रुचि से निहारा,
देता उसे न “दृग” दर्शन है तुम्हारा ।
जो अन्ध है, विमल दर्पण क्या करेगा,
क्या नेत्र देकर कृतार्थ उसे करेगा ? ॥७७॥

वाणी सुधा सदृश सज्जन संगती से,
तेरी, बने कलुष दुर्जन संगती से।
औचित्य मेघ जल है गिरता नदी में,
तो स्वाद्य पेय बनता, विष हो अही में ॥७८॥

जैसा सुशान्त रस वो मम आत्म से है,
धारा प्रवाह झरता इस काव्य से है।
वैसा कहाँ झर रहा शशि बिम्ब से है,
पूजें तुम्हें तदपि दूर सुवृत्त से है ॥७९॥

संसार के विविध वैभव भोग पाने,
पूजें तुम्हें बस कुधी जड़, ना सयाने।
ले स्वर्ण का हल, कृषी करता कराता,
वो मूर्ख ही कृषक है जग में कहाता ॥८०॥

है मोह नष्ट तुममें फिर अन्न से क्या ?
त्यागा असंयम, सुसंयम भार से क्या ?
मारा कुमार तुमने फिर वस्त्र से क्या ?
हैं पूज्य ही बन गये, पर पूज्य से क्या ? ॥८१॥

मेरा जभी मन बना शिवपंथगामी,
संसार भोग उसको रुचते न स्वामी।
धीमान कौन वह है घृत छोड़ देगा,
क्या! मान के परम नीरस छाछ लेगा ॥८२॥

मेरी भली विकृति पै मति चेतना है,
चैतन्य से उदित है जिन-देशना है।
कल्लोल के बिन सरोवर तो मिलेगा,
कल्लोल वो बिन सरोवर क्या मिलेगा ? ॥८३॥

लो! आपके स्तवन से बहु निर्जरा हो,
स्वामी! तथापि विधिबंधन भी जरा हो।
अच्छी दुकान चलती धन खूब देती,
तो भी किराय कम से कम क्या न लेती ? ॥८४॥

वो आपकी सकल वस्तुप्रकाशिनी है,
नासा, प्रमाणमय, विभ्रम-नाशिनी है ।
नासाग्र पे इसलिए तुम साम्यदृष्टि,
आसीन है सतत शाश्वत शांति सृष्टि ॥८५॥

हैं आप नम्र गुरु चूँकि भरे गुणों से,
हैं पूज्य “ राम ” निज में रमते युगों से ।
पी, पी, पराग निजबोधन की सुखी हैं,
नीराग हैं, पुरुष हैं, प्रकृती तजी हैं ॥८६॥

हो धीर वीर तुम चूँकि निजात्म जेता,
मारा कुमार तुमने “ शिव ” साधु नेता ।
सर्वज्ञ हो इसलिए तुम सर्वव्यापी,
बैठे मदीय मन में अणु हो तथापि ॥८७॥

साता नहीं उदय में जब हो असाता,
मैं आपके भजन में बस डूब जाता ।
है चन्द्र को निरखता सघनी निशा में,
जैसा चकोर रुचि से न कभी दिवा में ॥८८॥

धाता तुम्हीं अभय दे जग को जिलाते,
नेता तुम्हीं सहज सत्पथ भी दिखाते ।
मृत्युंजयी बन गये भगवान् कहाते,
सौभाग्य है, कि मम मन्दिर में सुहाते ॥८९॥

ऐसी मुझे दिख रही तुम भाल पे है,
जो बाल की लटकती लट गाल पे है ।
तालाब में कमल पे अलि भा रहा हो,
संगीत ही गुणगुणा कर गा रहा हो ॥९०॥

काले घने कुटिल चिक्कण केश प्यारे,
ऐसे मुझे दिख रहे शिर के तुम्हारे ।
जैसे कहीं मलयचन्दन वृक्ष से ही,
हो कृष्ण नाग लिपटे अयि दिव्य देही ॥९१॥

चाहूँ न राज सुख मैं सुरसम्पदा भी,
चाहूँ न मान यश देह नहीं कदापि ।
हे ईश गर्दभ समा तन भार ढोना,
कैसे मिटे, कब मिटे, मुझको कहो ना ॥९२॥

मेरी सुसुप्त उस केवल की दशा में,
ये आपकी सहज तैर रहीं दशायें ।
यों आपका कह रहा श्रुत सत्य प्यारा,
मैंने उसे सुन गुणा रुचि संग धारा ॥९३॥

संसार से विरत हूँ तुम ज्योति में हूँ,
निस्तेज कर्म मुझमें जब होश में हूँ ।
बैठा रहे निकट नाग कराल काला,
टूटा हुआ, कि जिसका विषदन्त भाला ॥९४॥

विज्ञान से अति सुखी बुध बीतरागी,
अज्ञान से नित दुखी मद—मत्त, रागी ।
ऐसा सदा कह रहा मत आपका है,
धर्मात्म का सहचरी, रिपु पाप का है ॥९५॥

हो आज सीमित भले मम ज्ञान धारा,
होगी असीम तुम आश्रय पा अपारा ।
प्रारम्भ में सरित हो पतली भले ही,
पै अन्त में अमित सागर में ढले ही ॥९६॥

लो आपके सुखमयी पदपंकजों में,
श्रद्धासमेत नत हूँ तब लौ विभो मैं ।
विज्ञानरूप रमणी मम सामने आ,
ना नाच गान करती जब लौ न नेहा ॥९७॥

स्वामी तुम्हें निरख सादर नेत्र दोनों,
आरूढ़ मोक्षपथ हो मम पैर दोनों ।
ले ईश नाम रसना, शिर तो नती से,
यों अंग अंग हरषे तुम संगती से ॥९८॥

हो मृत्यु से रहित 'अक्षर' हो कहाते,
हो शुद्ध जीव 'जड अक्षर' हो न तातैं ।
तो भी तुम्हें न बिन अक्षर जान पाया,
स्वामी अतः स्तवन अक्षर से रचाया ॥९९॥

चाहूँ कभी न दिवि को अयि वीर स्वामी,
पीऊँ सुधारस स्वकीय बनूँ न कामी ।
पा 'ज्ञानसागर' सुमंथन से सुविद्या,
विद्यादिसागर बनूँ तज दूँ अविद्या ॥१००॥

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूँ नहीं मुझमें कुछ नहि ज्ञान
त्रुटियाँ होवे यदि यहाँ शोध पढ़ें धीमान ॥१॥

स्थान समय परिचय

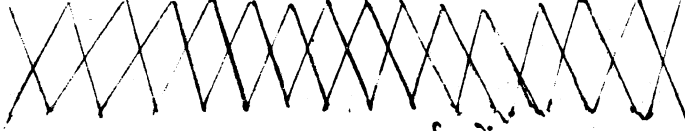
आत्म साधना कुछ बड़ी कुण्डलगिरि पै हर्ष
श्रीधर केवलचरण का सविनय कर संस्पर्श ॥२॥
गुप्ति गगनगतिसंग की अमा अषाढी आज
लिखा गया यह ग्रन्थ है भुक्ति-मुक्ति के काज ॥३॥

[इति शुभं भूयात्]

भावना शतक

विशेष—

दि व्वा लो क प्र दा ने श द र्श न शु ब्धि भा स्क रः



भ व्वा ब्ज क क दा वा श स्पर्श कों शु शु भा क रः

यह सामान्य मुरजबन्ध का चित्र है। इसमें पूर्वार्द्ध के विषम संख्यांक 1,3,5,7,9,11,13,15 अक्षरों को उत्तरार्द्ध के समसंख्यांक 2,4,6,8,10,12,14,16 अक्षरों के साथ क्रमशः मिलाकर पढ़ने से श्लोक का पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के विषम संख्यांक अक्षरों को पूर्वार्ध के समसंख्यांक अक्षरों के साथ क्रमशः मिलाकर पढ़ने से उत्तरार्ध बन जाता है। इसी प्रकार के 16,22,28,34,40,46,52,58,64,70, 76,82,88,94 और 100 क्रमांक श्लोक भी इसी काव्य में हैं। चित्रालंकार में अनुस्वार और विसर्ग का अन्तर ग्राह्य नहीं होता है।

[१]

साधव इह समाहितं नमन्ति सतां समाधृतसमा हितम् ।

कुर्वन् हृदि समाहितं तमहमपि वन्दे समाहितम् ॥

इह सतां हितं समाहितं समाधृतसमाः साधवः नमन्ति, तं हृदि समाहितं कुर्वन् अहम् अपि वन्दे ।

साधव इति- इह जगति सतां सत्पुरुषाणां हितं कल्याणकरम्, समाहितं संसिद्धं युक्त्यागमसिद्धमित्यर्थः, समाहितं समाधिस्थं, ध्याननिमग्नमर्हत्परमेष्ठिनमित्यर्थः । आत्मानं वा 'समाधिस्थे समाहितः। त्रिषुन्यस्तप्रतिज्ञानसंसिद्धे यम आत्मनि।' इति विश्वलोचनः। समाधृतसमाः सम्यक्-प्रकारेण आधृतं समं साम्यं यैस्ते समाधृतसमाः समताधारिण इति यावत्, साधवो मुनयो नमन्ति नमस्कुर्वन्ति । तम् अर्हत्परमेष्ठिनं शुद्धात्मानं वा हृदि चित्ते समाहितं संस्थापितं कुर्वन्, अहमपि ग्रन्थकर्ता, वन्दे नमस्करोमि । 'समा वर्षे सदृक्सर्वमान्येषु च समं त्रिषु' इति विश्वलोचनः ॥१॥

अर्थ- इस जगत् में जो सत्पुरुषों का हित करने वाले हैं, समाहित- संसिद्ध- युक्ति-आगम से सिद्ध हैं, तथा समाहित- समाधिस्थ हैं- ध्यान निलीन हैं, उन अरहन्त परमेष्ठी को साम्यभाव के धारक साधु नमस्कार करते हैं। अतः उन्हें हृदय में धारण करता हुआ मैं भी नमस्कार करता हूँ-उनकी त्रिकाल वन्दना करता हूँ ॥१॥

[२]

सुधृतरत्नत्रयशरं गुरो ध्यानवसुविनष्टकुसुमशरम् ।

त्वां पीतानुभवशरं यजेऽमुं शमय मेऽनाश ! रम् ॥

हे गुरो! (ज्ञानसागर!) अनाश! सुधृतरत्नत्रयशरं ध्यानवसुविनष्टकुसुमशरम्, पीतानुभवशरम् त्वाम्, (अहं) यजे मे अमुं शमय ।

सुधृतेति- हे गुरो! (ज्ञानसागर!) अनाश! यस्य आशा इच्छा वासना वा न विद्यते यस्य सः अनाशः तत्सम्बुद्धौ हे अनाश! अथवा न विद्यते नाशो यस्य स तत्सम्बुद्धौ हे अनाश! अथवा अशनम् आश आहार इत्यर्थः, न विद्यते आशो यस्य सः अनाशः तत्सम्बुद्धौ, समाधिबेलायां त्यक्तचतुर्विधाहार ! इत्यर्थः। सुधृतरत्नत्रयशरं सुधृतो रत्नत्रयमेव शरो हारो येन तं 'शरो हारे शरे पुंसि' इति विश्वलोचनः।

ध्यानवसुविनष्टकुसुमशरं ध्यानमेव वसुरग्निस्तेन विनष्टः कुसुमशरः कामो येन तं, ध्यानाग्निविनष्टकाममिति यावत् 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति विश्वः। पीतानुभवशरम् पीतम् अनुभव एव शरं नीरं येन तं पीतस्वानुभूतिसलिलम् 'शरं नीरे नपुंसकम्' इति विश्वलोचनः। त्वां भवन्तम् (अहम्) भवदन्तेवासी विद्यासागरः। यजे पूजयामि। मे मम, अमुं रं कामानलम् 'रस्तु कामानले बह्नौ' इति विश्वलोचनः। शमय शान्तं कुरु ॥२॥

अर्थ- हे गुरो! हे ज्ञानसागर! हे अनाश! नाश अथवा आशा से रहित! रत्नत्रय रूपहार के धारक, ध्यानरूप अग्नि के द्वारा काम को नष्ट करने वाले और अनुभवरूपी जल का पान करने वाले आपकी मैं पूजा करता हूँ। आप मेरी इस कामाग्नि को शान्त कर दीजिए—मुझे निष्काम बनने में सहायक हों ॥२॥

[३]

भक्त्येप्सितास्रवारिर्मोहतमः प्रसारत्वादवारिः ।

धर्मवारिदां वारिमीडेऽनिच्छन् विषयवारिः ॥

ईप्सितास्रवारिः मोहतमः प्रसारत्वाद् अवारिः (अहम्) विषयवारि अनिच्छन् धर्मवारिदां वारिं भक्त्या ईडे।

भक्त्येति- ईप्सितास्रवारिः आस्रवस्यारिः शत्रुः आस्रवारिः संवर इत्यर्थः, ईप्सितोऽभिलषित आस्रवस्यारियेन सः। मोहतमःप्रसारत्वात् मोह एव तमस्तिमिरं तस्य प्रसारत्वं तस्मात्, अवारिः नेत्रविहीनः, ज्ञानचक्षुषा रहित इत्यर्थः (अहम्) विषयवारि विषयजलम्। अनिच्छन् अवाञ्छन् धर्मवारिदां धर्मसलिलप्रदात्रीम्, वारिं सरस्वतीम् 'वारिः सरस्वतीदेव्याम्' इति विश्वलोचनः। भक्त्या ईडे स्तौमि 'वार्वारिकं पयोऽम्भोऽम्बु' इति धनञ्जयः ॥३॥

अर्थ- जो संवर का इच्छुक है तथा मोहरूपी तिमिर का प्रसार होने से नेत्रहीन है, ऐसा मैं विषय रूप जल की इच्छा न करता हुआ धर्मरूप जल को देने वाली सरस्वती की भक्तिपूर्वक स्तुति करता हूँ ॥३॥

[४]

विरतोऽकामहानये शतकं कामदं च कामहानये ।

नम्रः कामहानये वदेऽविद्वृत्कामहानये ॥

अये अकामहा! क! नये विरतः, अविद्वृत्कामहानये नम्रः (सन्) अमहान् (अहम्) कामदं शतकं च कामहानये वदे ।

विरत इति- अये क! हे ब्रह्मन्! हे परमात्मन्! अकामहा! अकं पापं तदेव अमः रोगः संसारदुःखकारकः तम् जहाति त्यजति इति अकामहाः तत्सम्बुद्धौ अकामहा! पापरोगत्यागिन्! अथवा अकामहा! कामं मनोरथं हन्तीति कामहा, न कामहा अकामहा अमनोरथविघातकः तत्सम्बुद्धौ अकामहा! अथवा कामं मदनं जहाति इति कामहा, नये नीतौ तथा च नये आगमे विरतः प्रकर्षरूपेण रतः आगमभक्तिरतः अविदज्ञानं तथा रहितः (अहं) कृता कामस्य मदनस्य हानिर्येन तस्मै अपगतमदनविकाराय, भगवते नम्रः प्रणतः सन् (अहम्) अमहान् न महान् लघुरित्यर्थः। कामदम् अभिलषितवस्तुप्रदम्। शतकं भावनाशतकनामधेयं काव्यम्। कामहानये कस्य आत्मनः अमा रोगा रागद्वेषादयः तेषां रागद्वेषादिविभावभावानां रोगाणां विनाशार्थं वदे देशयामि। 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु।' 'कामः स्मरेच्छयोः काम्ये', 'नयो द्यूतान्तरे नीतौ' इति सर्वत्र विश्वलोचनः ॥४॥

अर्थ- हे अकामहा! पापरूपी रोग को नष्ट करने वाले! हे क! हे ब्रह्मन्! जो नीति विज्ञान अथवा आगम में विरत—विशेषरूप से लीन है अथवा नीति विज्ञान से रहित है, अविद् — अज्ञानी है, काम का नाश करने वाले के लिये विनम्र है और अमहान्— लघु है, ऐसा मैं कामहानि —आत्मसम्बन्धी रागादि रोगों की हानि के लिये कामद—अभिलषित पदार्थ को देने वाले भावनाशतक को कहता हूँ ॥४॥

[५]

यतो जिनपददर्शनं तदस्त्विह दर्शनशुद्धं दर्शनम् ।

दर्शयति सददर्शनं जगति जयतु जैनं दर्शनम् ॥

दर्शनशुद्धं दर्शनं तत् अस्तु यतो जिनपददर्शनं (भवति) (इति) जैनं दर्शनं सददर्शनं दर्शयति (तत्) जगति इह जयतु ।

यत इति- दर्शनशुद्धं दर्शनमिव शुद्धं दर्शनशुद्धं दर्पणवन्निर्मलम्, दर्शनं सम्यग्दर्शनं तत् अस्तु भवतु यतो यस्मात् जिनपददर्शनं पञ्चकल्याणोपेत-तीर्थकरपदोपलब्धिः (भवति) (इति) जैनं जिनेन प्रोक्तं जैनं दर्शनं शास्त्रं सददर्शनं सन्मार्गं दर्शयति प्रकटयति (तत्) सम्यग्दर्शनम् इह जगति अस्मिन् लोके जयतु सर्वोत्कर्षेण वर्तताम्। 'दर्शनं दृशि दर्पणे। स्वप्ने वर्त्मनि बुद्धौ च शास्त्रधर्मोपलब्धिषु' । इति विश्वलोचनः ॥५॥

अर्थ- वह सम्यग्दर्शन दर्पण के समान निर्मल हो जिससे जिनपद — तीर्थकरपद का दर्शन होता है। इस प्रकार जैनदर्शन—जैनशास्त्र सम्यग्दर्शन को दिखाता है— प्राप्ति कराता है । जगत् में वह सम्यग्दर्शन जयवंत रहे ॥५॥

[६]

मोहारेः पराभवे कषायदेरपि दृशा पराभवे ।

यान्ति नराः परा भवेऽस्त्यजवागितीदं परा भवे ॥

मोहारेः पराभवे (सति) दृशा कषायादेः—अपि पराभवे (सति) भवे पराः नराः इदम् (दर्शनविशुद्धिं) यान्ति इति भवे परा अजवाक् अस्ति ।

मोहारेरिति- मोहारेः मोह एवारिः शत्रुस्तस्य पराभवे तिरस्कारे सति मिथ्यात्वतिमिरापहरणे सतीत्यर्थः । दृशा सम्यग्दर्शनेन कषायादेरपि कषायप्रभृतेरपि अनन्तानुबन्धिक्रोघमानमायालोभादीनामपि पराभवे तिरस्कारे अनुदय इत्यर्थः । भवे महादेवे जिने वा परा रताः तत्पराः भगवद्भक्तिविनीता इत्यर्थः । नराः मनुजाः । इदं सामान्ये नपुंसकलिङ्गप्रयोगः दर्शनशुद्धिमित्यर्थः यान्ति प्राप्नुवन्ति । इतीत्थं भवे लोके परा उत्कृष्टा अजवाक् अजस्य जन्मातीतस्य भगवतः वाक् वाणी अस्ति विद्यते ॥६॥

अर्थ- मोहरूप शत्रु का पराभव होने पर तथा सम्यग्दर्शन के द्वारा कषाय आदि का भी पराभव होने पर संसार में श्रेष्ठता को प्राप्त हुए मनुष्य इस दर्शनविशुद्धि को प्राप्त होते हैं, ऐसी जिनेन्द्र भगवान् की उत्कृष्ट वाणी है ॥६॥

[७]

करुणाभाववसत्यां सदिभरिदं सेवितायां वसत्याम् ।

लसतु मानव ! सत्यां वसतिपतिप्रभेव वसत्याम् ॥

वसत्यां सत्यां वसतिपतिप्रभा इव हे मानव ! सदिभः सेवितायां वसत्यां करुणाभाववसत्यां (सत्यां) इदं(दर्शनं)लसतु ।

करुणाभावैति- वसत्यां रात्रौ सत्यां वसतिपतिप्रभेव निशापतिकान्तिरिव हे मानव ! सदिभः सत्पुरुषैः सेवितायां वसत्यां अवस्थितौ स्वकीयप्रवृत्तावित्यर्थः । करुणाभाववसत्यां करुणाभावस्य वसतिर्वेश्मनिवासस्थानं तस्यां (सत्याम्) इदं दर्शनं सम्यग्दर्शनं लसतु शोभताम् । 'वसतिः स्यान्निशावेश्मावस्थानेऽप्यर्हदाश्रमे' इति विश्वलोचनः ॥७॥

अर्थ- रात्रि होने पर जिस प्रकार चन्द्रमा की प्रभा सुशोभित होती है, उसी प्रकार हे मानव ! सत्पुरुषों के द्वारा सेवित प्रवृत्ति में करुणाभाव की वसति—स्थिति होने पर यह सम्यग्दर्शन सुशोभित हो ॥७॥

[८]

विराधनं न राधनं निदानमस्य केवलं नरा धनम् ।
ददाति सदाराधनं राधनं मुक्तिदाराधनम् ॥

हे नराः! निदानम् अस्य (दर्शनस्य) विराधनम्, (निदानं) केवलं धनं ददाति, न राधनं (ददाति) (किन्तु) सदाराधनं मुक्तिदाराधनं राधनं च (ददाति)।

विराधनमिति- हे नराः! भो मानवाः! निदानं भोगाभिलाषः, अस्य (दर्शनस्य) विराधनं विघातकम्, (अस्ति) न राधनं मुक्तेः साधनं न भवति। (निदानं) केवलं धनं द्रविणं ददाति (किन्तु) सदाराधनं सताम् आराधनं सत्पुरुषाणामुपासनं, मुक्तिदाराधनम् मुक्तिदार एव आ-समन्तात् पूर्णमित्यर्थः धनं सुखसाधनम्, राधनं तुष्टिं (ददाति) दर्शनविशुद्धिभावनाबलेन नराः पञ्चपरमेष्ठिभक्तियुक्तं संतोषं लभन्त इत्यर्थः। 'राधनं साधने प्राप्तौ तोषणेऽपि च राधनम्' इति विश्वलोचनः ॥८॥

अर्थ- हे मानवो! निदान (भोगाभिलाषा) सम्यग्दर्शनं का विघात करने वाला है। निदान, केवल धन देता है, संतोष नहीं देता, किन्तु सदाराधना-सत्पुरुषों की सेवा मुक्ति स्त्रीरूप पूर्णधन और संतोष को देता है ॥८॥

[९]

जितमोहहारकेण व्यालसता शुचिनयमणिहारकेण ।
विना ह्यपि हारकेण प्राप्यते न व्यवहारकेण ॥

शुचिनयमणिहारकेण, व्यालसता, जितमोहहारकेण, हारकेण विना अपि इदं प्राप्यते (किन्तु) व्यवहारकेण न (प्राप्यते)।

जितेति- शुचिनयमणिहारकेण शुचिनयो निश्चयनय एव मणिहारो यस्य तेन समासान्तकप्रत्ययः। व्यालसता शोभमानेन, जितमोहहारकेण जितः पराजितो मोह एव हारकश्चौरौ येन तेन, हारकेण विज्ञानविशेषेण विना अपि इदं (सदर्शनं) प्राप्यते (किन्तु) व्यवहारकेण कुत्सितो व्यवहारो व्यवहारकः निश्चयसांगत्यरहितत्वेन क्रियाकाण्डैकजीवनेन मात्रव्यवहारनयेन न हि (प्राप्यते) नहि लभ्यते। 'हारकस्तु शठे चौरै गद्यविज्ञानभेदयोः' इति विश्वलोचनः ॥९॥

अर्थ- जिसमें निश्चयनय मणिमय हार है, जो सुशोभित है तथा जिसने मोहरूपी चोर को जीत लिया है ऐसे हारक-विशिष्ट ज्ञान के बिना भी यह सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। किन्तु मात्र व्यवहारनय से नहीं प्राप्त होता ॥९॥

[१०]

दिव्यालोकप्रदानेशदर्शनशुद्धिभास्करः ।

भव्याब्जककदा वाशस्पर्शकोऽशुशुभाकरः ॥

(दर्शनं) दिव्यालोकप्रदानेशदर्शनशुद्धिभास्करः अंशुशुभाकरः, अशस्पर्शकः, भव्याब्जककदाः (अस्ति) । वा निश्चये (न) ।

दिव्यालोकेति- (दर्शनं) एतत् सम्यग्दर्शनम् । दिव्यालोकः केवलज्ञानं तत्प्रदाने ईशः समर्थः, स चासौ दर्शनशुद्धिरेव भास्करः केवलज्ञानप्रदानदक्षदर्शनविशुद्धिभावनासूर्यः, अंशुशुभाकरः अंशूनां किरणानां शुभाकरो मङ्गलखनिः । अशस्पर्शकः शः हिंसा तस्य स्पर्शको न भवतीत्यशस्पर्शकः अहिंसान्वितः । भव्याब्जककदाः भव्या एव अब्जानि कमलानि भव्याब्जानि, भव्याब्जान्येव भव्याब्जकानि, स्वार्थे कः, तेभ्यः कं सुखं ददातीति भव्याब्जककदाः (अस्ति) वा निश्चयेन । सम्यग्दर्शनमेतत् केवलज्ञानप्रदाने भास्कर इव शोभते । भव्यारविन्दविकासकश्च निश्चयेनास्तीति भावः । 'शः शतायुषि हिंसायां शं धर्मं शा तु मातरि' इति विश्वलोचनः ॥१०॥

अर्थ- केवलज्ञान के प्रदान करने में समर्थ दर्शनविशुद्धिरूपी सूर्य, किरणों की शुभ खान है, अहिंसा से सुशोभित है, और भव्यजीव रूप कमलों को सुख देने वाला है, यह निश्चय है ॥१०॥

[११]

न मयाऽकं न नपावनं विनयो यियासुनार्च्यते पावनम् ।

मुक्त्वा सुधीः पावनं कोऽटेद् ग्रीष्मार्त्तः पावनम् ॥

हे नप ! पावनं अवनं यियासुना मया विनयः अर्च्यते, न अकं (अर्च्यते) कः सुधीः ग्रीष्मार्त्तः पावनं मुक्त्वा पावनं अटेत् (कोऽपि नेत्यर्थः) ।

न मयेति- हे नप ! हे पूज्यरक्षक ! 'नकारो जिनपूज्ययोः' 'पो वाते पा तु पाते स्यात्पास्तु पातरि वाच्यवत्' इति च विश्वलोचनः । पावनं पवित्रम् अवनं रक्षणं यियासुना प्राप्तुमिच्छुना, मया नयपदं नीतिस्थानं विनय इति यावत्, अर्च्यते पूज्यते, न अकं पापं 'अकं दुःखाघयोः' इति विश्वलोचनः । न (अर्च्यते) । कः सुधीः को विद्वान् ग्रीष्मार्त्तो निदाघपीडितः (सन्) पावनं जलं मुक्त्वा पावनम् अग्निम् अटेत् गच्छेत् ? (न कोऽपीत्यर्थः) पावनं तु जले कृच्छ्रे पावकाध्यासयोः पुमान्' इति विश्वलोचनः ॥११॥

अर्थ- हे नप ! हे पूज्यरक्षक ! पवित्र रक्षण को प्राप्त करने के इच्छुक मेरे द्वारा विनय की पूजा की जाती है, अक - पाप की नहीं । कौन ऐसा विद्वान् है जो गरमी से पीड़ित होता हुआ पवन - वायु को छोड़ पवन-अग्नि को प्राप्त हो ? अर्थात् कोई नहीं ॥११॥

[१२]

एतद्विषं साधनं जयश्रीरिवेनमूनसाधनम् ।

ब्रजेन्नहि सत् साधनं फलति संसारेऽञ्जसा धनम् ॥

एतद्विषं (विनयविहीनं) साधनं न ब्रजेत् ऊनसाधनम् इन्म जयश्रीः इव। सत् साधनं हि संसारे अञ्जसा धनं फलति ।

एतद्विषमिति- एतद्विषम् एतं द्वेष्यति एतद्विद् तं विनयविहीनं जनमिति शेषः। साधनं सिद्धिः, न ब्रजेत् न गच्छेत् । ऊनसाधनं न्यूनसैन्यम्, इन् राजानम्, जयश्रीरिव विजयलक्ष्मीरिव। सत् साधनं समीचीन उपायः हि निश्चयेन संसारे जगति अञ्जसा यथार्थं धनं द्रविणं फलति समुत्पादयति। 'साधनं मेहने सैन्ये निवृत्तिगतिसिद्धिषु। करणे चोपकरणे मृतसंस्करणे वधे। द्रवणे चानुब्रज्यायामुपाये दापने धने ॥' इति विश्वलोचनः ॥१२॥

अर्थ — विनय से द्वेष करने वाले मनुष्य को साधन — सिद्धि उस प्रकार नहीं प्राप्त होती, जिस प्रकार कि ऊनसाधन — कम सेना वाले राजा को विजय लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती । उचित है, क्योंकि समीचीन साधन — उपाय ही यथार्थ रूप से धन को फलता है ॥१२॥

[१३]

एतद्ब्रह्मता गमितं ह्यनन्तान्तं पापं सम्यगमितम् ।

स्वमूल्यं येन गमितं तस्मै कं किं नाङ्ग मितम् ॥

हे अङ्ग ! अनन्त ! न ! येन एतद्ब्रह्मता (विनयशीलेन) स्वमूल्यं गमितं अमितं पापं अन्तं गमितं (तदा) तस्मै मितं कं किं ? (किमपि नेत्यर्थः) ।

एतदिति- अङ्ग ! अनन्त ! न ! हे अन्तातीतजिन ! 'नकारो जिनपूज्ययोः' इति विश्वलोचनः। येन कारणेन एतद् (विनयसम्पन्नत्वं) ब्रह्मता दधता विनयशीलेन जनेनेत्यर्थः। स्वमूल्यम् आत्ममूल्यं गमितं प्रापितम् । अमितं अपरिमितं बहुलमित्यर्थः। पापं वृजिनं सम्यक् सुष्ठुरीत्या अन्तं विनाशं गमितं प्रापितं (तदा) तस्मै मितं परिमितम् अल्पपरिमाणं कं सुखं किं किं नामधेयम् न किमपीत्यर्थः। 'अन्तं विशुद्धे व्याप्ते स्यादन्तो नाशे मनोहरे' । 'कं सुखे वारि शीर्षे च' इति च विश्वलोचनः ॥१३॥

अर्थ- अङ्ग ! अनन्त ! न ! हे अन्तातीतजिनेन्द्र ! विनयसम्पन्नता को धारण करने वाले जिस मनुष्य ने स्वमूल्य—आत्ममूल्य को प्राप्त किया है, और अपरिमित पाप का अन्त किया है उसके लिये मित—सीमित—सांसारिक सुख क्या है ? वह तो मोक्षसम्बन्धी अनन्तसुख का पात्र होता है ॥१३॥

[१४]

स विनयशीलोऽकेन श्रितमहितमपि कुमार्गगं लोकेन ! ।

मुदा विदालोकेन स्वपथगं करोति लोके न ! ॥१४॥

हे लोकेन ! न ! अकेन श्रितं कुमार्गगं अहितं अपि लोके विनयशीलः मुदा विदालोकेन स्वपथगं करोति ।

स इति- हे लोकेन ! लोकस्य जगत इतः स्वामी लोकेनस्तत्सम्बुद्धौ हे जगन्नाथ ! न !

हे जिन ! अकेन दुःखेन पापेन वा 'अकं दुःखाघयोः' इति विश्वलोचनः । श्रितं सेवितं

सहितमिति यावत् । कुमार्गगं कापथगामिनम् । अहितं शत्रुम् अपि जनं लोके भुवने

विनयशीलः विनयः शीलं स्वभावो यस्य तथाभूतः स विनयसम्पन्नता-युक्तो जन् । मुदा

हर्षेण । विदालोकेन सम्यग्ज्ञानप्रकाशेन स्वपथगम् आत्ममार्गगामिनं करोति विदधाति ।

विनयशीलो जनः कुमार्गगं शत्रुमपि सुमार्गगं विदधातीति भावः ॥१४॥

अर्थ- हे लोकेन ! हे जगत् के स्वामी जिनेन्द्र ! दुःख या पाप से युक्त,

कुमार्गगामी शत्रु को भी लोक में विनयशील मनुष्य हर्षपूर्वक ज्ञानरूप प्रकाश के द्वारा

सुपथगामी बना देता है ॥१४॥

[१५]

किं स्याद् भगवन्तमितं सुखमवनाविह विना ह्यनेन मितम् ।

वन्दे मुनिभिर्नमितं ततो विदांवरैर्मानमितम् ॥

हे भगवन् ! इह अवनौ अमितं (ना) मितं सुखं अनेन विनयेन विना किं स्यात् ? ततः विदांवरैः मुनिभिः
मानं इतं नमितं (च) (विनयपदं अहं) हि वन्दे ।

किं स्यादिति- हे भगवन् ! इह अवनौ अस्यां पृथिव्यां अमितं अपरिमितं

विपुलमित्यर्थः, मितं परिमितम् अल्पमिति यावत्, वा सुखम् अनेन (विनयेन) विना किं

स्यात् ? अपि तु न स्यात् । ततस्तस्मात् कारणात् विदांवरैः ज्ञातृश्रेष्ठैः मुनिभिः यत्तिभिः,

मानं पूजाम्, इतं प्राप्तं, नमितं नमस्कृतं (च) विनयपदं विनयसम्पन्नत्वम् अहम्, हि

निश्चयेन वन्दे नमस्करोमि । 'मानः स्यादपि पूजायाम्' इति विश्वलोचनः ॥१५॥

अर्थ- हे भगवन् ! इस पृथिवी पर अपरिमित और परिमितसुख क्या विनय के

विना हो सकता है ? अर्थात् नहीं । इस विनय के द्वारा ही ज्ञानी मुनियों ने सन्मान और

नमस्कार को प्राप्त किया है ॥१५॥

[१६]

एतद्दिद्वेषः प्लवन्ते न भवार्णवं भयङ्करम् ।

वान्तदोष भवं ते न भवाभवं न यन्त्यरम् ॥

हे वान्तदोष ! न ! भव ! एतदद्विषः (विनयरहिताः) भयङ्करं भवार्णवम् न प्लवन्ते (ततः) ते अभवं भवं न अरं यन्ति ।

एतदद्विष इति- हे वान्तदोष ! हे निर्दोष ! न ! पूज्य ! भव ! कल्याण ! हे रागादिदोषरहित, पूज्य, कल्याणरूप जिनेन्द्र ! एतदद्विषः एतद् विनयसम्पन्नत्वं द्विपन्तीति एतदद्विषः विनयरहिता इत्यर्थः । भयङ्करं भीत्युत्पादकं भवार्णवं संसारसागरं न प्लवन्ते न तरन्ति (ततः) ते अभवं जन्मरहितं भवं कल्याणं सुखम्, अरं शीघ्रं न यन्ति न प्राप्नुवन्ति । 'भवः श्रीकण्ठसंसारश्रेयः सत्ताप्तिजन्मनि' इति विश्वलोचनः । 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः ॥१६॥

अर्थ- हे वान्तदोष ! हे पूज्य ! हे कल्याणरूप ! विनयशीलता से द्वेष रखने वाले मनुष्य, भयंकर संसारसागर को नहीं तैर सकते । इसीलिये वे अभवभव — जन्मरहित सिद्धपर्याय को शीघ्र नहीं प्राप्त होते ॥१६॥

[१७]

वामवमिना ह्यमानं जगदकमनुभवति दंदह्यमानम् ।
स हित्वाऽग्राह्यमानं जगादेत्यजः संगृह्य मानम् ॥

वामवमिनां हि दंदह्यमानं अमानं जगद् अकं अनुभवति, इति स अजः अग्राह्यमानं हित्वा मानं संगृह्य जगाद ।
वामेति- वामवमिना वामः काम एव वमिः पावकः अग्निरित्यर्थस्तेन कामाग्निना, हि निश्चयेन, दंदह्यमानं पुनः पुनरतिशयेन वा दह्यमानं, अमानं ज्ञानरहितम्, अमितं सर्वं वा जगद् भुवनम्, अकं दुःखम्, अनुभवति । इतीत्थं, स प्रसिद्ध, अजो भगवान् अग्राह्यमानं न ग्रहीतुं योग्यः अग्राह्यस्तथाभूतो मानोऽहंकारस्तं हित्वा त्यक्त्वा मानं ज्ञानं संगृह्य सम्यक् प्रकारेण गृहीत्वा, जगाद कथयामास । 'वामः सव्ये हरे कामे धने वित्ते तु न द्वयोः' 'वमिः स्यात्पावके पुंसि' इति च विश्वलोचनः ॥१७॥

अर्थ- 'कामरूप अग्नि से अत्यधिक जलता हुआ जगत् अपरिमित दुःख का अनुभव करता है' ऐसा उन जन्मातीत—जिनेन्द्र ने अग्राह्य — ग्रहण करने के अयोग्य मान को छोड़कर तथा ज्ञान का अच्छी तरह संग्रह कर कहा है ॥१७॥

[१८]

संयमिभिर्महितेन शीलेन समं सुमते ! मम हि तेन ।
मतिरतिवाम ! हितेन त्वस्तु परं स्वधाम हि तेन ॥

हे अतिवाम ! सुमते ! संयमिभिः महितेन हितेन तेन शीलेन समं हि मम मतिः अस्तु । तेन

(कारणेन) स्वधाम नु परं (अस्तु)।

संयमिभिरिति- हे अतिवाम ! वामं कामम् अतिक्रान्तः अतिवामस्तत्सम्बुद्धौ हे निष्काम ! सुमते ! सुष्ठु मतिर्यस्य तत्सम्बुद्धौ हे सुबुद्धे ! संयमिभिः साधुभिः, महितेन पूजितेन, हितेन कल्याणकारिणा, तेन शीलेन शीलव्रतेन, समं सार्धं, हि निश्चयेन, मम मतिः, अस्तु मामकीना बुद्धिः निरतिचारशीलव्रतसहिता भवतु। तेन (कारणेन) तु परं पुरतः सम्मुखं, स्वधाम स्वस्य धाम स्वधाम मोक्षः (अस्तु) ॥१८॥

अर्थ- हे निष्काम ! हे सुमतिसंपन्न ! जिनेन्द्र ! संयमी साधुओं के द्वारा पूजित, हितकारी उस शीलव्रत के साथ ही मेरी बुद्धि रहे और इस कारण श्रेष्ठ स्वधाम—मोक्ष प्राप्त हो ॥१८॥

[१९]

हिमांशुनाऽपि हिमेन ह्यलं गाङ्गेनाम्बुनाऽपि हिमेन ।

वरोऽस्त्वस्यमहिमेन बाह्येतरदाहहा हि मे न ! ॥

हे ! इन ! न ! हिमेन हिमांशुना अपि गाङ्गेनाम्बुना अपि हिमेन अलं मे अस्य (शीलस्य) बाह्येतरदाहहा महिमा वरः अस्तु।

हिमांशुनेति- हे इन ! स्वामिन् ! न ! जिन ! हिमेन तुषारेण, हिमांशुनापि चन्द्रेणापि गाङ्गेन गङ्गाया इदं गाङ्गं तेन गङ्गासम्बन्धिना अम्बुना जलेन, अपि किञ्च, हिमेन चन्दनेन, अलं पर्याप्तं, एतैर्ममान्तर्दाहस्य विध्वंसो न भवतीत्यर्थः । 'तुषारे चन्दने शीले हिमं त्रिषु तु शीतले' इति विश्वलोचनः। मे मम, अस्य (शीलस्य) बाह्येतरदाहहा बाह्यश्च इतरश्चेति बाह्येतरौ, तौ च तौ दाहौ च, इति बाह्येतरदाहौ तौ हन्तीति बाह्येतरदाहहा बाह्याभ्यन्तरदाहविघातकः महिमा प्रभावः, वरः प्रकृष्टः अस्तु। निरतिचारशीलव्रतत्वे सति बाह्याभ्यन्तरदाहविघातो भवति नान्यथेति भावः ॥१९॥

अर्थ- हे स्वामिन् ! हे जिनेन्द्र ! बर्फ, चन्द्रमा, गङ्गाजल, और चन्दन की आवश्यकता नहीं है। इस शीलव्रत की बाह्य और आभ्यन्तर दाह को नष्ट करने वाली उत्कृष्ट महिमा ही मेरे पास रहे ॥१९॥

[२०]

स्तुतानि ह्यङ्ग तानि व्रतानि यानि सता शुचितां गतानि ।

अकानि सम्यगतानि त्यक्त्वा गतान्यनागतानि ॥

हे अङ्ग ! आगतानि अनागतानि गतानि च अकानि हि त्यक्त्वा यानि सता स्तुतानि शुचितां गतानि व्रतानि तानि सम्यक् (अहं) अतानि ।

स्तुतानीति- हे अङ्ग! आगतानि वर्तमानानि, अनागतानि भविष्यत्कालसम्बन्धीनि; गतानि भूतकालसम्बन्धीनि च अकानि पापानि 'अकं दुःखाघयोः' इति विश्वलोचनः। हि निश्चयेन त्यक्त्वा आलोचना प्रतिक्रमणप्रत्याख्यानविधिना परिमार्ज्येत्यर्थः। यानि सता साधुना स्तुतानि स्तुतिविषयीकृतानि शुचितां निर्मलतां गतानि व्रतानि तानि सम्यक् (अहम्) अतानि गच्छानि प्राप्नुवानीत्यर्थः। 'अत सातत्यगमने' इत्यस्य लोडुत्तमपुरुषे रूपम् ॥२०॥

अर्थ- अङ्ग जिनेन्द्र! आगत- वर्तमान, अनागत-भविष्यत् और गत- भूतकाल सम्बन्धी पापों को छोड़कर सत्पुरुषों के द्वारा स्तुत होते हुए जो शुचिता-निरतिचारवृत्ति को प्राप्त हुये हैं उन व्रतों को मैं प्राप्त होता हूँ ॥२०॥

[२१]

सा भातु गजगतितया सती नानेन संसृतिर्गतितया ।

सिद्धः सदा गतितया सदागतिनोषा जगति तया ॥

जगति गजगतितया सा सती भातु, गतितया संसृतिः (भातु) सिद्धः तथा गतितया (भातु) सदागतिना उषा (भातु) अनेन (शीलेन व्रतेन वा) ना सदा (भातु)।

सैति- जगति लोके, गजगतितया गजस्य गतिरिव गतिर्यस्याः सा गजगतिस्तस्या भावस्तत्ता तया, सा प्रसिद्धा सती साध्वी स्त्री भातु शोभताम्। गतितया प्रगत्या चतुर्गतिगमनेनेत्यर्थः, संसृतिः संसारः (भातु) सिद्धः मुक्तात्मा तया शास्त्रप्रसिद्धया गतितया गतिः ज्ञानं केवलज्ञानं तस्या भावस्तत्ता तया गतितया भातु, आत्मना साकं ज्ञानस्य तादात्म्यं वर्तते इति। अथवा तथा शास्त्रप्रसिद्धया अगतितया न विद्यते गतिर्यस्य तस्य भावः अगतिता तया गतिराहित्येन (भातु)। सदागतिना वायुना उषा प्रातर्वेला (भातु) अनेन (शीलेन व्रतेन वा) ना पुमान्, सदा सततं (भातु) 'सती साध्वीचण्डिकयोः ।' 'उषा बाणसुतायां स्यात्प्रभातेऽपि विभावरौ।' 'सदागतिर्गन्धवाहे निर्वाणेऽपि सदीश्वरे' इति च विश्वलोचनः ॥२१॥

अर्थ - संसार में वह पतिव्रता स्त्री हाथी जैसी चाल से सुशोभित हो, संसार चतुर्गतियों से सुशोभित हो, सिद्ध परमेष्ठी प्रसिद्ध केवलज्ञान से अथवा अगतिता-गति राहित्य से सुशोभित हो, प्रातःकाल वायु से सुशोभित हो और मनुष्य इस शीलव्रत से सदा सुशोभित हो ॥२१॥

[२२]

शीलरथो भयाऽऽरूढो वामोऽनेन भृशं स्वतः ।

किल ह्यथो भयारूढो यमो येन स शं गतः ॥

(१४५)

अथो हि अनेन मया वामः शीलरथः आरूढः येन स शं गतः यमः किल स्वतः भृशं भयारूढः (अवलोक्यते)।

शीलेति- अथो हि अथ निश्चयेन, अनेन मया वामः सुन्दरः शीलरथः शीलमेव रथः शीलरथः आरूढः कृतारोहणः। येन कारणेन स जगत्प्रसिद्धः शं हिंसां गतः प्राप्तः, यमः कालः किल निश्चयतः स्वतः स्वस्मादेव भृशम् अत्यर्थं भयारूढो भीतियुक्तः (अवलोक्यते) शीलस्यन्दनारूढं जनं दृष्ट्वा यमो भीत्या वेपते। 'बलुप्रतीपयोर्वामः'। 'शः शतायुषि हिंसायां शं धर्मे शा तु पातरि' इति च विश्वलोचनः ॥२२॥

अर्थ- अब मैंने इस सुन्दर शीलरथ पर आरोहण किया है जिससे वह हिंसक यम स्वयं ही अत्यन्त भयभीत दिखाई देता है ॥२२॥

[२३]

यथा कल्पते मदनता रसतो मदनाहितेन मदनः ।

मदोऽनलतोऽपि मदनः प्रज्ञानयोगात् कामद! न! ॥

हे कामद ! न! यथा रसतः मदनता, मदनाहितेन मदनः, अनलतः मदनः, कल्पते (तथा) प्रज्ञानयोगात् मदः अपि (कल्पते)।

यथेति- हे कामद! कामं मनोरथं ददातीति कामदस्तत्सम्बुद्धौ हे कामद! न! जिन! यथा येन प्रकारेण, रसतः रसायनात् मदनता मदनस्य भावो मदनता धत्तूरत्वं, मदनाहितेन कामवैरिणा, मदनः कामः, अनलतः अग्नेः, मदनः सिक्थकः 'मैन' इति प्रसिद्धः, कल्पते नष्टो भवति (तथा) प्रज्ञानयोगात् प्रकृष्टं ज्ञानं प्रज्ञानं तस्य योगः तस्मात् श्रेष्ठज्ञानयोगात्, मदो गर्वः अपि (कल्पते) नष्टो भवति। 'मदनः स्मरधत्तूरवसन्तद्गुमसिक्थके' इति विश्वलोचनः ॥२३॥

अर्थ- हे मनोरथ को पूर्ण करने वाले जिनेन्द्र! जिस प्रकार रसायन से धत्तूर की मादकता, कामवैरी के द्वारा काम, और अग्नि से मैन नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार प्रकृष्ट-श्रेष्ठ ज्ञान के योग से मद-अहंकार नष्ट हो जाता है ॥२३॥

[२४]

कुमुदमथो वा मेन जलधिर्वामा यूनेव वामेन ।

मुदमेति च वामेन! मनोऽनेनोऽनेन वा मे न ! ॥

हे अनेनः! वाम इन न मेन कुमुदं जलधिः वा वामेन यूना वामा इव मे मनः च अनेन (ज्ञानोपयोगेन) मुदं एति।

कुमुदमिति- हे अनेनः! निष्पाप! वाम! सुन्दर! इन! स्वामिन्! न! जिन! मेन

चन्द्रेण 'मः प्रिये पुंसि मश्चन्द्रे' इति विश्वलोचनः । कुमुदं कैरवं, अथो जलधिर्वा सागर-
इव 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरिवार्थेऽपि समुच्चये' इत्यमरः । वामेन बल्युना सुन्दरेणेत्यर्थः
'बल्युप्रतीपयोर्वामः' इति विश्वलोचनः । यूना तरुणेन वामेव ललनेव । मे मम मनश्चित्तं
च अनेन (ज्ञानोपयोगेन) मुदं हर्षं, एति प्राप्नोति ॥२४॥

अर्थ- हे निष्पाप! हे सुन्दर! हे स्वामिन्! हे जिनेन्द्र! जिस प्रकार चन्द्रमा से कुमुद
अथवा समुद्र और सुन्दर युवक से स्त्री हर्ष को प्राप्त होती है उसी प्रकार मेरा मन इस
अभीक्षणज्ञानोपयोग से हर्ष को प्राप्त हो ॥२४॥

[२ ५]

मुनिषु मम विपाकस्य त्वं भव सखाग्निरिव भुवि पाकस्य ।

यद् भवेद् विपाकस्य व्ययश्चायः सुखविपाकस्य ॥

भुवि पाकस्य सखा अग्निः इव मुनिषु विपाकस्य मम त्वं (ज्ञानोपयोगः) सखा भव । यद् विपाकस्य
व्ययः सुखविपाकस्य आयः च भवेत् ।

मुनिष्विति- भुवि पृथिव्याम्, पाकस्य वायोः सखा अग्निरिव, मुनिषु यतिषु
विपाकस्य विशिष्टः पाकः शिशुरिति विपाकस्तस्य बालरूपस्य अज्ञानिन इत्यर्थः अथवा
विरुद्धः पाकः कर्मोदयो यस्य तस्य विपन्नस्येति यावत् । मम प्रार्थयितुं, त्वं (ज्ञानोपयोगः)
सखा मित्रं भव । यद् येन कारणेन विपाकस्य दुर्गतिः व्ययो विनाशः, सुखविपाकस्य
सुखानुभवनस्य आयः प्राप्तिश्च भवेत् । 'पाकस्तु पवने शिशौ ।' 'विपाकः परिणामेऽपि
खेदे स्वादुनि दुर्गतौ ।' इति च विश्वलोचनः ॥२५॥

अर्थ- पृथिवी पर जिस प्रकार वायु का सखा अग्नि है; उसी प्रकार हे
ज्ञानोपयोग! तुम मुझ अज्ञानी मुनि के सखा होओ, जिससे दुःखदायक कर्मोदय का
विनाश और सुखदायक कर्मोदय की प्राप्ति हो ॥२५॥

[२ ६]

महतां वराजराजः शिरसि यदूनोऽपि धृतराजराजः ।

श्रितो मुनिराजराज स्यादजोऽनेन राजराजः ॥

मुनिराजराज! महतां वर अजर! शिरसि धृतराजराजः अपि यदूनः (ज्ञानोपयोगेन) अजः (किन्तु)
राजराजः अजः (कृष्णः) अनेन (ज्ञानोपयोगेन) श्रितः स्यात् ।

महतामिति- मुनिराजराज! मुनिराजानां राजा इति मुनिराजराजस्तत्सम्बुद्धौ हे
मुनिराजराज! यतीन्द्रशिरोमणे! महतां वर! महापुरुषोत्तम! अजर! जराशून्य! शिरसि

मूर्ध्नि, धृतराजराजः धृतो राजराजश्चन्द्रो येन सः 'राजराजस्तु धनदे सार्वभौममृगाङ्कयोः' इति विश्वलोचनः। अपि यदूनः येन ज्ञानोपयोगेन ऊनो रहितः अजः स्मरहरः शिवः (अज एवाभूत्) (किन्तु) राजराजः राजेश्वरः, अजः कृष्णः 'अजः कृष्णे स्मरहरे विद्मौ छागे रघोः सुते' इति विश्वलोचनः। अनेन (ज्ञानोपयोगेन) जिनस्तीर्थकरः स्याद् भवेत्। अभीक्ष्णज्ञानोपयोगभावनाबलेन कृष्णस्तीर्थकरो भविष्यतीति भावः ॥२६॥

अर्थ- हे श्रेष्ठ मुनियों के नाथ! हे महापुरुषों में महान्! हे जरारहित! जिनेन्द्र! शिर पर चन्द्रमा को धारण करने वाला शिव भी जिससे रहित हो अज-छाग हुआ, किन्तु राजराजेश्वर कृष्ण इस ज्ञानोपयोग से सहित हो तीर्थङ्कर होंगे ॥२६॥

[२७]

चञ्चलचित्तसंवरं कलयति च कुरुतेऽयं विधिसंवरम् ।

विमदमलीमसंवरं गता मुनय आहुः संवरम् ॥

अयं (ज्ञानोपयोगः) विधिसंवरं कुरुते, चञ्चलचित्तसंवरं च कलयति (इति) विमदमलीमसंवरं संवरं गता मुनयः आहुः ।

चञ्चलेति- अयं (ज्ञानोपयोगः), विधिसंवरं विधीनां कर्मणां संवरं अनास्रवणं कुरुते, चञ्चलचित्तसंवरं चपलचेतः संवरणं च कलयति संपादयति (इतीत्थं) विमदमलीमसं विगतो विनष्टो मदमलीमसो मदमलिनं यस्य तथाभूतं वरं श्रेष्ठं संवरं जिनं भगवन्तं गताः प्राप्ताः मुनयो यतीश्वरा आहुः कथयामासुः ॥२७॥

अर्थ- 'यह ज्ञानोपयोग, कर्मों के संवर को तथा चञ्चलचित्त के निरोध को करता है' ऐसा मद रूपी मैल से रहित उत्कृष्ट संवर को प्राप्त मुनि कहते हैं ॥२७॥

[२८]

ज्ञानरूपी करे दीपोऽमनोऽचलो यतेऽस्त्ययम् ।

सन्नरूपी हरेऽपापो जिनोऽवलोक्यते स्वयम् ॥

हे हरे! अमनः! यते! अयं अचलः ज्ञानरूपी दीपः करे अस्ति (चेत्) अपापः अरूपी सन् जिनः स्वयं अवलोक्यते ।

ज्ञानरूपीति- हरे! हे भगवन्! अमनः भावमनोरहित! यते साधो! अयम् एषः, अचलः स्थिरः, ज्ञानरूपी ज्ञानात्मकः दीपः प्रदीपः करे हस्ते अस्ति (चेत्) अपापः पापरहितः, अरूपी रूपरहितः सन् जिनस्तीर्थकरः स्वयं बाह्यनिमित्तमन्तरेणापि अवलोक्यते दृश्यते। ज्ञानात्मना दीपेन जनस्तीर्थकृद् भवतीति भावः ॥२८॥

अर्थ- हे हरे! हे भावमन से रहित! हे मुने! यदि यह अविनाशी ज्ञानरूपी दीपक हाथ में है तो पापों से रहित एवं रूप से शून्य जिन, स्वयमेव दिखने लगता है ॥२८॥

[२९]

स ना भुवि नायकेन प्रभातु शरोऽप्यजवाक् विनायकेन ।
विरतो विनायकेन संवेगेन विनाऽयकेन ॥

हे विन! अयक! इन! न! भुवि नायकेन शरः विनायकेन अजवाक् अपि प्रभातु। विनायके विरतः स ना संवेगेन (प्रभातु)।

सेति— हे विन! विशिष्टो नः पूज्य इति विनस्तत्सम्बुद्धौ हे विन! हे विशिष्टपूज्य! अयक! अयते इति अयकस्तत्सम्बुद्धौ हे अयक! हे गतिशील! अथवा अयः शुभावहो विधिः, अय एव अयकस्तत्सम्बुद्धौ हे अयक! इन! स्वामिन्! न! जिन! भुवि वसुधायां नायकेन मध्यमणिना शरो हारः, विनायकेन गणधरेण अजवाक् जिनेश्वरवाणी, अपि प्रभातु प्रकर्षेण शोभताम्। विनायके गुरौ विरतः विशिष्टरूपेण तत्परः विश्रान्तः गुरुभक्तिनिरत इत्यर्थः। स प्रसिद्धः ना नरः, संवेगेन भवभीरुत्वलक्षणेन संवेगेन (प्रभातु) प्रशोभताम्। 'नकारो जिनपूज्ययोः' इति विश्वलोचनः। 'अयः शुभावहो विधिः' इत्यमरः। 'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि'। 'विनायको जिने बुद्धे ताक्ष्ये हेरम्बविघ्नयोः' इति विश्वलोचनः ॥२९॥

अर्थ- हे विशिष्टपूज्य! हे गतिशील! हे स्वामिन्! जिनेन्द्र! जिस प्रकार पृथिवी पर नायक—मध्यमणि से हार सुशोभित होता है और विनायक—गणधर से तीर्थङ्कर की दिव्यवाणी शोभायमान होती है उसी प्रकार गणधर में लीन मनुष्य भी संवेग से शोभायमान होवे ॥२९॥

[३०]

मुनितात्मनि शान्तेन स्थितेन च निशेषेन निशान्ते न ।
विरवोऽपि निशान्ते नः सत्कवेः कविता निशान्तेन ॥

हे नः! आत्मनि स्थितेन अन्तेन शान्तेन मुनिता, निशेषेन निशा, शान्तेन सत्कवेः कविता, च निशान्ते विरवः अपि (प्रभातु)।

मुनितेति- हे नः! हे पुरुष! आत्मन्! इत्यर्थः। आत्मनि शुद्धात्मस्वरूपे, स्थितेन कृतावस्थानेन, शान्तेन विगतक्षोभेण, अन्तेन स्वरूपेण 'अन्तं विशुद्धे व्याप्ते स्यादन्तो नाशे मनोहरं। स्वरूपेऽन्तं मतं क्लीबं न स्त्री प्रान्तेऽन्तिके त्रिषु ॥' इति विश्वलोचनः। मुनिता मुनेर्भावो मुनिता यतित्वम्। निशेषेन निशाया ईशो निशेषस्तेन चन्द्रेण निशा रात्रिः, शान्तेन शान्तरसेन 'शान्तस्तु रसे दान्तेऽपि मुक्तके' इति विश्वलोचनः। सत्कवेः प्रशस्तकवेः कविता काव्यं 'च' इति समुच्चये 'नि' इति नित्यभृशाश्चर्ये वा अव्ययौ, निशान्ते निशाया अन्तो निशान्तस्तस्मिन् प्रभाते, विरवः बीनां पक्षिणां रवः शब्दः गीत

अपि (प्रभातु) 'निः स्यान्नित्यभृशाश्चर्यविन्यासक्षेपराशिषु' इति विश्वलोचनः ॥३०॥

अर्थ- हे जिनेन्द्र! आत्मा में स्थित शान्त धर्म से जिस प्रकार मुनिता (मुनिपद) सुशोभित होती है, चन्द्रमा से जिस प्रकार रात्रि सुशोभित होती है, शान्त रस से जिस प्रकार सुकवि की कविता सुशोभित होती है और प्रातःकाल से जिस प्रकार पक्षियों का कलरव सुशोभित होता है, उसी प्रकार संवेग से मुनि सुशोभित हो ॥३०॥

[३१]

भवोरुवनधनंजयः कर्मकौरवगर्वान्तधनंजयः ।

ततो निजं धनं जय ह्ययं करणभेकधनंजयः ॥

अयं (संवेगः) करणभेकधनंजयः कर्मकौरवगर्वान्तधनंजयः भवोरुवनधनंजयः (अस्ति) ततः निजं धनं हि (त्वं) जय ।

भवोरुवनेति- अयमेषः (संवेगः) करणभेकधनंजयः करणानि इन्द्रियाण्येव भेका मण्डूकास्तेषां धनंजयो नागः सर्प इति यावत् । कर्मकौरवगर्वान्तधनंजयः कर्माण्येव कौरवा दुर्योधनादयस्तेषां गर्वस्य दर्पस्य अन्ते विनाशने धनंजयः अर्जुनः । भवोरुवनधनंजयः भवः संसार एव उरुवनं विशालकाननं तस्मिन् धनंजयः अग्निः अस्तीति शेषः । ' धनंजयोऽग्नौ ककुभे नागदेहानिलेऽर्जुने' इति विश्वलोचनः । ततः करणात् निजं स्वकीयं धनं द्रविणं हि निश्चयेन (त्वं) जय आत्मसात्कुरु ॥३१॥

अर्थ- यह संवेग इन्द्रियरूप मेंढकों को नष्ट करने लिए धनंजय—नाग है, कर्मरूपी कौरवों के गर्व को नष्ट करने के लिये धनंजय—अर्जुन है और संसाररूपी वन को भस्म करने के लिये धनंजय—अग्नि है इसलिये आत्मधनस्वरूप संवेगभाव जयवंत हो ॥३१॥

[३२]

चिदानन्दोषाकरोऽयमशेषदोषोन ! सदोषाकरः ।

विलसत्वदोषाकरो दोषायां न नु दोषाकरः ॥

अयं (संवेगः) अशेषदोषोन! चिदानन्दोषाकरः सदा उषाकरः अदोषाकरः अतः विलसतु (किन्तु) दोषायां दोषाकरः न नु (विलसतु) ।

चिदानन्देति-अयं (संवेगः) हे अशेषदोषोन! अशेषैः समस्तैर्दोषैरवगुणैरूनों रहितस्तत्सम्बुद्धौ हे निखिलदोषातीत! चिदानन्दोषाकरः चिदानन्दस्य उषाकरः प्रभातकरः तस्मात् सदा सर्वदा उषाकरः उषाः कामिनः तेषां अकं दुःखं रातिं लाति इति कामवासनापीडितजनदुःखकरः, कामिनो निशायामेव सुखिनो भवन्ति दिवसे न

(१६०)

निशाकरस्तु दोषाणाम् आकरः सदोषः अयं तु दोषातीतोऽस्ति। स तु निशायामेव लसतु, अयं तु सर्वदा विलसतु, स तु कामिनः तोषयति दुःखीकरोति च अयं तु वैराग्यधारिणो मोदयति कामिनो विषयाभिलाषिणो वा दुःखीकरोति। इत्यनयोर्विशेषभेदोऽस्ति। ततोऽयं संवेग एव पूज्य आदरणीयः स तु न ॥३२॥

अर्थ- हे समस्त दोषों से रहित जिनेन्द्र! यह संवेगभाव, चिदानन्द- आत्मानन्द को प्रकट करने के लिये उषाकर - प्रभातकाल है, सदा उषाकर है- कामी मनुष्य को दुःख देने वाला है और दोषाकर-अवगुणों की खान नहीं है, अतः सुशोभित हो, किन्तु दोषा-रात्रि में दोषाकर-चन्द्रमा सुशोभित न हो ॥३२॥

[३३]

जितको दृग्भयानकः पापाब्धिवाडवोऽयं भयानकः ।

अवतीति विभया न कश्चञ्चलमनोमृगभयानकः । ।

हे विभयाः! अयं (संवेगः) दृग्भया जितकः अनकः भयानकः पापाब्धिवाडवः चञ्चलमनोमृगभयानकः च इति कः न अवति ?

जितक इति- हे विभयाः! विगतं भयं येषां ते तत्सम्बुद्धौ हे निर्भिका जिनाः! अयं (संवेगः) दृग्भया दृशः सम्यग्दर्शनस्य भा दीप्तिः दृग्भा तथा, जितकः जितः पराजितः कः सूर्यो येन सः 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु' इति विश्वलोचनः। अनकः न विद्यते अकं दुःखं पापं वा यस्मिन् सः अनकः। भयानकः भयंकरः पापाब्धिवाडवः पापपयोधिबडवानलः। चञ्चलमनोमृगभयानकः चञ्चलमन एव मृगो हरिणस्तस्य भयानकः शार्दूलः 'भयानकस्तु शार्दूले सैहिकेये विभीषणे' इति विश्वलोचनः। च समुच्चये। इतीत्थं कः न अवति जानाति? अपि तु सर्व एव जानाति ॥३३॥

अर्थ- हे विभय! भय से रहित जिनेन्द्रदेव! यह संवेगभाव सम्यग्दर्शन की भा-दीप्ति से सूर्य को जीतने वाला है, पाप या दुःख से रहित है, भयानक है, पापरूप समुद्र को सुखाने के लिये बडवानल है और चञ्चल मनरूपी मृग के लिये भयानक शार्दूल है, यह कौन नहीं जानता ? ॥३३॥

[३४]

संसारदेहभोगेभ्यो भीतिर्भवति सतां परा ।

यत् सा सदेह भोऽघेभ्यो हीतिर्भवेऽमिता खरा ॥

भो संसारदेहभोगेभ्यः सतां परा भीतिः भवेत् यत् इह भवे सदा अघेभ्यो अमिता खरा सा ईतिः (भवेत्)।

संसारति- जिना इति शेषः। संसारदेहभोगेभ्यः संसारश्च देहश्च भोगश्चेति संसारदेहभोगास्तेभ्यः संसारशरीरपञ्चेन्द्रियविषयेभ्यः। सतां साधूनां, परा सातिशया, भीतिः भयः, भवेत्, यत् यस्मात् इह भवे अस्मिन् जगति, सदा सर्वदा, अघेभ्यः पापेभ्यः अमिता अपरिमिता अनवसानेत्यर्थः, खरा तीक्ष्णा कष्टदायिनीत्यर्थः सा प्रसिद्धा ईतिः पीडा (भवेत्) 'ईतिः स्यादतिवृष्ट्यादिषट्के डिम्बप्रवासयोः' इति विश्वलोचनः। संवेगात् संसारशरीरभोगेभ्यो निर्विण्णता पापेभ्यो विरतिश्च भवतीति भावः ॥३४॥

अर्थ- हे भगवन्! संसार, शरीर और भोगों से सत्पुरुषों को सदा भय रहे, जिससे इस संसार में पापों से वह अपरिमित एवं सातिशय ईति - पीडा हो, पापों से पलायन हो ॥३४॥

[३५]

ज्वलतात्र शङ्करेण त्यागो ह्यनाधृतोऽतोऽशङ्करेण ।
जगत् सुखि शङ्करेण त्रिशूलमहताऽशङ्करेण ॥

हे अशङ्क! अत्र रेण ज्वलता शङ्करेण त्यागः हि अनाधृतः अतः त्रिशूलमहता अशङ्करेण शङ्करेण जगत् सुखि? (कदापि नेत्यर्थः)।

ज्वलतात्रेति- हे अशङ्क! हे शङ्कतीत! अत्र जगति, रेण कामाग्निना 'रस्तु कामानले वह्नौ' इति विश्वलोचनः। ज्वलता दह्यमानेन, शङ्करेण शिवेन त्यागः एतन्नाम धर्मः हि यतः अनाधृतः न संधृतः, अतः कारणात् त्रिशूलमहता त्रिशूलेन महान् त्रिशूलमहान् तेन त्रिशूलधारिणा, अशङ्करेण शः धर्मः न शः अशः तं अधर्मं करोति अशङ्करस्तेन अशङ्करेण अधर्मात्मना, शङ्करेण शः हिंसा तं करोति इति शङ्करस्तेन निर्दयिनेत्यर्थः जगत् भुवनं, सुखि? काकुप्रयोगः कदापि नेत्यर्थः। 'शङ्करः पार्वतीनाथे त्रिषु कल्याणकारिणि' इति विश्वलोचनः। शङ्करस्त्रिशूलधारकत्वात् कल्याणकारी अभयदाता न भवतीति भावः ॥३५॥

अर्थ- हे अशङ्क! इस जगत् में कामाग्नि से जलते हुये शिव ने त्यागधर्म का अनादर किया इसलिये त्रिशूलधारी और हिंसाकारी शङ्कर से जगत् सुखी है क्या? अर्थात् नहीं है ॥३५॥

[३६]

विदधानमामोदकं नासां कुसुममिव रसनां मोदकम् ।
मोदयतु मा मोदकं तृषितमिह नुतसमामोदकम् ॥

हे नुतसम! हे अम! इह नासां आमोदकं विदधानं कुसुमं रसनां मोदकं तृषितं मोदकं उदकं इव (अयं त्यागधर्मः) मा मां मोदयतु ।

विदधानमिति-हे नुतसम! नुतः स्तुतः समैः सर्वैरिति नुतसमः तत्सम्बुद्धौ हे नुतसम! हे सर्वजनस्तुत इत्यर्थः। हे अम! न विद्यते मा बन्धनं यस्य सः अमः तत्सम्बुद्धौ हे अम! 'स्त्रियां स्यान्मा रमायां च माक्षेपे मानबन्धयोः' इति विश्वलोचनः। अथवा नतसमाम इति पाठ इह जगति, नासां घ्राणं, आमोदकं आमोद एव आमोदकं सुगन्धं विदधानं कुर्वाणं कुसुमं पुष्पं रसनां जिह्वां मोदकं लड्डुकं, तृषितं पिपासातुरं मोदकं हर्षकरम् उदकमिव सलिलमिव, (अयं त्यागधर्मः) मा माम्, मोदयतु हर्षयतु। यथा सुगन्धोपेतं कुसुमं नासां सुखयति, मोदकं रसनां सुखयति, हर्षकरं सलिलं पिपासातुरं जनं सुखयति तथायं त्यागधर्मो मां सुखयत्विति भावः ॥३६॥

अर्थ- हे नुतसम! सबके द्वारा स्तुत! हे अम! हे बन्धन से रहित! जिस प्रकार सुगन्धित पुष्प नासिका को, लड्डू रसना को और पानी प्यासे मनुष्य को प्रमुदित करता है उसी प्रकार यह त्यागधर्म मुझे प्रमुदित करे ॥३६॥

[३७]

मोदेऽमुनाहमधुना नासानन्दनेनेवाग्नमधुना ।

लता कोकिलो मधुना नन्दनो जननीस्तनमधुना ॥

नासानन्दनेन आग्नमधुना कोकिलः, जननीस्तनमधुना नन्दनः, मधुना लता इव, अहं अधुना अमुना (त्यागधर्मेण) मोदे ।

मोद इति- नासानन्दनेन घ्राणानन्दकरणेन आग्नमधुना रसालपुष्परसेन कोकिलः पिकः, जननीस्तनमधुना मातृस्तनक्षीरेण नन्दनः पुत्रः, मधुना जलेन लता इव वल्लीव, अहम्, अधुना साम्प्रतम्, अमुना एतेन (त्यागधर्मेण) मोदे हर्षामि। 'मधु पुष्परसे क्षौद्रे मद्यक्षीराप्सु न द्वयोः,' इति विश्वलोचनः ॥३७॥

अर्थ- जिस प्रकार घ्राण को आनन्द देने वाले आम के मकरन्द से कोयल, माँ के स्तन से निकले दूध से बालक और जल से लता प्रसन्न होती है; उसी प्रकार मैं इस समय इस त्यागधर्म से प्रसन्न हो रहा हूँ ॥३७॥

[३८]

शमयति नान्नं वसुकं ह्यतिघृतयुतमपि गतमधिकं वसुकम् ।

तथा भवक्षुद्वसुकं श्रुतो नो यियासो स्ववसुकम् ॥

(१६३)

अधिकं वसुकं गतं अतिघृतयुतं अपि वसुकं अन्नं (यथा) क्षुधां न शमयति तथा स्ववसुकं यियासो! श्रुतोः (शास्त्रविरुद्धत्यागः) भवक्षुद्वसुकं न शमयति ।

शमयतीति- अधिकं प्रचुरं रौमकं लवणमित्यर्थः 'वसुकः शिवमल्ल्यां स्यादकैर्पर्णैऽपि रौमके' इति विश्वलोचनः। रौमकं 'सांभरनमक' इति प्रसिद्धम्। गतं प्राप्तम्, अतिघृतयुतमपि प्रचुराज्ययुक्तमपि, वसुकं मधुरम् अन्नं खाद्यं (यथा) क्षुधां न शमयति न शान्तां करोति तथा स्ववसुकं आत्मधनं यियासोः यातुमिच्छोः जनस्येति शेषः। श्रुतोः श्रुतेन शास्त्रेण शास्त्रोक्ताचारेण वा ऊनो रहितः शास्त्रविरुद्ध इत्यर्थः (त्यागः) भवक्षुद्वसुकं संसारक्षुदग्निं न शमयति न दूरीकरोति। 'वसुर्ना देवभेदे च योक्थे वह्नौ युधे त्रिषु। वसु वृद्धौषधे रत्नेऽपि श्यामे हृदके धने ॥ वाच्यवन्मधुरेऽपि स्यात्' इति विश्वलोचनः। वसु एव वसुकं स्वार्थे कप्रत्ययः ॥३८॥

अर्थ- जिस प्रकार अधिक नमक और अधिक घी से युक्त होने पर भी अन्न क्षुधा को शान्त नहीं करता है; उसी प्रकार हे आत्मधन को प्राप्त करने के इच्छुक साधो! शास्त्रविरुद्ध त्याग भी संसार की भूखरूप अग्नि को शान्त नहीं करता है ॥३८॥

[३९]

समुदिता सह साधुना समता-श्रीनेन वचसा साधुना ।

मयावसिता साधुना साधुनाऽसाधुना साऽधुना ॥

साधुना (वृद्धेन) नेन साधुना वचसा सह समताश्रीः समुदिता (किन्तु) साधुनां (मुनिना) असाधुना (यूना) साधुना (सुन्दरेण) मया सा अधुना अवसिता ।

समुदितेति- साधुना वृद्धेन, नेन जिनेन, साधुना श्रुतिमधुरेण, वचसा वचनेन सह समताश्रीः साम्यभावलक्ष्मीः समुदिता सम्यक्प्रकारेण कथिता प्राप्ता वा। (किन्तु) साधुना मुनिना, असाधुना अवृद्धेन यूनेत्यर्थः, साधुना सुन्दरेण, मया सा समताश्रीः, अधुना साम्प्रतम्, अवसिता मोहिता संसेविता सर्वाङ्गे बन्धा। मम पूज्यगुरुणाचार्यज्ञानसागरेण वृद्धेनापि सता समताश्रीः समासादिता मया पुनर्यूना शरीरसौष्ठवसहितेनापि सा समताश्रीः समापिता, इत्ययमर्थोऽत्र निगूढः प्रतिभाति। 'साधुर्वाधुषिके पुंसि चारुसज्जनयोस्त्रिषु' इति विश्वलोचनः ॥३९॥

अर्थ- साधु-वृद्ध जिनेन्द्र और साधु-श्रुति मधुर अथवा पूर्वापर विरोध से रहित वचन के साथ समतारूपी लक्ष्मी प्रकट हुई थी परन्तु मुझ युवा साधु के द्वारा वह समतारूपी लक्ष्मी इस समय अवसित- समाप्त हो रही है ॥३९॥

[४०]

सत्यस्मिन्नेव संत्याग आलोको भास्करे यथा ।

सत्यं मुने ह्यसङ्गाङ्ग व्यलोलं भातु रे! तथा ॥

हे! अङ्ग असङ्ग मुने यथा भास्करे सति आलोकः भातु तथा अस्मिन् संत्यागे सति हि सत्यं व्यलोलं भातु ।

सत्यस्मिन्निति- अङ्ग असङ्ग मुने! हे निर्ग्रन्थसाधो! यथा भास्करे सूर्ये, सति विद्यमाने, आलोकः प्रकाशो, भातु शोभताम्, तथा अस्मिन् संत्यागे शक्तितस्त्यागभावनायां सत्यामित्यर्थः 'नानुस्वारविसर्गौ च चित्रभङ्गाय सम्मतौ' इत्युक्तेरनुस्वारन्यूनता चित्रभङ्गाय नास्ति। सति हि निश्चयेन सत्यं सत्यधर्मः व्यलोलं विशेषेण अलोलं व्यलोलम् अतिस्थिरं भातु शोभताम्। 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः॥४०॥

अर्थ- अङ्ग असङ्ग मुने! जिस प्रकार सूर्य के रहते प्रकाश सुशोभित रहता है, उसी प्रकार इस त्यागधर्म के रहे हुए सत्यधर्म निश्चय से अत्यन्त स्थिर सुशोभित रहे॥४०॥

[४१]

स्थितिर्निजात्मनि काये तपो न मुनेः क्षणान्तात्मनि काये ।

रता वदन्ति निकायेऽन्यथा त्विति व्यथा मुनिका ये ॥

क्षणान्तात्मनि काये स्थितिः मुनेः तपः न (किन्तु) काये निजात्मनि स्थितिः तपः, अन्यथा तु व्यथा (भवेत्) इति निकाये ये रता मुनिकाः वदन्ति ।

स्थितिरिति- क्षणान्तात्मनि क्षणभङ्गुरस्वरूपे काये शरीरे, स्थितिः ममत्वभावेन परिणतिः मुनेः साधोः तपो न तपश्चरणं न विद्यते (किन्तु) काये स्वभावे, निजात्मनि स्वकीयात्मनि, स्थितिः स्वकीयत्वपरिणतिः, तपः। अन्यथा तु निजात्मानं त्यक्त्वा शरीरप्रभृतिषु परपदार्थेषु ममत्वभावे सति तु व्यथा पीडा, (भवेत्) इति इत्थं, निकाये स्वभावे ये रता लीनाः, (ते) मुनिकाः मुनय एव मुनिका यतयः, वदन्ति कथयन्ति। 'कायो वर्षस्वभावे च'। 'निकायः स्वात्मवेश्मनोः' इति च विश्वलोचनः॥४१॥

अर्थ- 'क्षणभङ्गुर शरीर में स्थित रहना—उसमें ममत्व रखना मुनि का तप नहीं है किन्तु निजात्मा में रहना तप है, अन्यथा पीडा होती है' ऐसा निकाय— स्वभाव में स्थित मुनि कहते हैं ॥४१॥

[४२]

तापसोऽतो विनाऽशं तपनतापतापिततनुर्विनाशम् ।
उद्गच्छतु भुवि नाशं विहाय विनाशम् ॥

अतः तपनतापतापिततनुः तापसः अशं विना विनाशं उद्गच्छतु भुवि नाशं विहाय विलम्बेन विनाशं (उद्गच्छतु)।

तापस इति- अतः अस्मात्कारणात्, तपनतापतापिततनुः तपनस्य सूर्यस्य तापेन तापिता तनुः शरीरं यस्य सः तथाभूतः, तापसः साधुः, अशं अहिंसां दयां विना विनाशं उद्गच्छतु प्राप्नोतु दयापरिणतिं विना तापनादियोगो व्यर्थ इत्यर्थः । भुवि पृथिव्यां ना पुमान्, शं हिंसां विहाय त्यक्त्वा, विलम्बेन विना, शीघ्रमित्यर्थः, शं धर्मं कल्याणं (उद्गच्छतु) 'शः शतायुषि हिंसायां शं धर्मं' इति विश्वलोचनः ॥४२॥

अर्थ- अतः सूर्य के संताप से संतापित है शरीर जिसका ऐसा साधु दया के विना विनाश को प्राप्त हो, पृथिवी पर मानव हिंसा को छोड़कर विलम्ब के विना — शीघ्र ही धर्म या कल्याण को प्राप्त हो ॥४२॥

[४३]

न याति लुञ्चिताङ्गं परीषहजयिनं श्रीः कलिताङ्गम् ।
वहन्तमविभुताङ्गं सतां स्तुतिंगताऽजिताङ्गम् ॥

सतां स्तुतिंगत! अविभुताङ्गं वहन्तं लुञ्चिताङ्गं कलिताङ्गं परीषहजयिनं अजिताङ्गं श्रीः न याति ।

नेति- हे सतां साधूनां स्तुतिं स्तवनं गत प्राप्त! हे साधुस्तुत्य! अविभुताङ्गं न विभुः अविभुः तस्य भावः अविभुता, अविभुता एव अङ्गजः रोगः तं वहन्तं धारयन्तं अप्रभुतारोगधारिणमिति भावः, लुञ्चिताङ्गं लुञ्चिताः अङ्गाः केशा येन तम् समुत्पाटितकेशमित्यर्थः, कलिताङ्गं कलितो धृतः अङ्गजः स्वेदो येन तम् परीषहजयिनं परीषहाः क्षुत्पिपासादयस्तान् जयतीति परीषहजयी तम्, अजिताङ्गं अजितो न पराजितः अङ्गजः कन्दर्पो येन तम्, श्रीः बाह्याभ्यन्तरलक्ष्मीः न याति न प्राप्नोति। 'अङ्गजः केशकन्दर्पे पदे पुत्रे गदे स्वजे' इति विश्वलोचनः। स्वजः स्वेद इत्यर्थः ॥४३॥

अर्थ- हे साधुस्तुत्य! जो अविभुता रूप अङ्गज-रोग को धारण कर रहा है, जिसने अङ्गज-केशों का लोच किया है, जो अङ्गज — पसीना को धारण किये हुए है, जो परीषहों को जीतने वाला है किन्तु अङ्गज-काम को जिसने नहीं जीता है ऐसे साधु को बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती ॥४३॥

[४४]

सतेति किं न वा सितं नैत्ययो रसाद्धेमतां वासितम् ।

उपधिना न नु वासितं तपसोऽपि च सिततां वासितम् ॥

वासितं अयः रसात् हेमतां न एति। उपधिना सितं वासितं अपि तपसः सिततां न एति, इति सता किं न नु सितं? सितमित्यर्थः। वा वा समुच्चये।

सतेति- वासितं वसनवेष्ठितम्, अयः लोहः, रसात् रसायनात्, हेमतां सुवर्णत्वं, न एति न प्राप्नोति। उपधिना परिग्रहेण सितं बद्धं सहितमित्यर्थः वासितं ज्ञानं परिग्रहवासनासहितमित्यर्थः। अपि तपसः तपश्चरणतः सिततां सितस्य भावः सितता उज्ज्वलता ताम्, न एति न प्राप्नोति केवलज्ञानं न याति। इतीत्थं सता साधुना किं न नु सितं किं न ज्ञातं, नु इति वितर्कं, सितमित्यर्थः। वा वा समुच्चये। 'वासितं विहगारवे। ज्ञाने त्रिष्वेव वसनवेष्ठिते सुरभीकृतं।' 'सितं श्वेतसमाप्तयोः। त्रिषु ज्ञानेऽपि बद्धेऽपि' इति च विश्वलोचनः ॥४४॥

अर्थ- वस्त्र से वेष्टित लोहा रसायन से सुवर्णता को प्राप्त नहीं होता और परिग्रह से बद्ध-सहित ज्ञान तप की उज्ज्वलता को प्राप्त नहीं होता, ऐसा क्या साधु ने नहीं जाना ? ॥४४॥

[४५]

यथा दहति सदागतिप्रेरितो वनजो वनं सदागतिः ।

विधिततिमिति सदागतिः सदागतिष्वाह सदा गतिः ॥

सदागतिप्रेरितः वनजः सदागतिः यथा वनं दहति तथा (तपः) विधिततिं (दहति) इति सदागतिषु सदागतिः सदागतिः आह ।

यथेति- सदागतिप्रेरितः वायुप्रेरितः, वनजो वनोत्पन्नः, सदागतिः अग्निः, यथा येन प्रकारेण, वनं काननं, दहति भस्मसात्करोति, तथा (तपः) विधिततिं कर्मसमूहं, (दहति), इतीत्थं, सदागतिषु सदागतिः मुनिः तेषु मुनिषु, सदागतिः ईश्वरः इति यावत्, आह जगाद। 'सदागतिर्गन्धवाहे निर्वाणेऽपि सदीश्वरे' इति विश्वलोचनः ॥४५॥

अर्थ- जिस प्रकार सदागति-वायु से प्रेरित वन की सदागति-अग्नि वन को जला देती है, उसी प्रकार तप कर्मसमूह को जला देता है-इस प्रकार सदागति-मुनियों में सदागति-ईश्वर स्वरूप सदागति-मुनि ने कहा है।

[४६]

दृशान्वितं विदो युक्तं सत् तपो गीयते ह्यतः ।

आशातीतं ह्यदो व्यक्तं पूतधीर्गीर्यते सतः ॥४६॥

उ ! पूतधीः! यते ! दृशान्वितं विदा युक्तं हि अतः आशातीतं व्यक्तं हि अदः सत् तपः गीयते इति सतः गीः ।

दृशान्वितमिति- उ सम्बुद्धौ पूतधीः! हे पवित्रबुद्धे! हे यते! भो साधो! दृशा सम्यग्दर्शनेन अन्वितं सहितं, विदा सम्यग्ज्ञानेन, युक्तं हि निश्चयेन, अतः अत एव कारणात्, आशातीतं तृष्णारहितं, व्यक्तं स्पष्टं हि अदः प्रसिद्धं, सत् तपः समीचीनं तपः गीयते निगद्यते, इतीत्यं सतः साधोः गीः वाणी अस्तीति शेषः। सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानसहितं भोगाकाङ्क्षातीतमेव च तपः प्रशस्यत इति यावत् ॥४६॥

अर्थ- हे पवित्र बुद्धि से युक्त! जो सम्यग्दर्शन से सहित है, सम्यग्ज्ञान से युक्त है और इसीलिये जो आशातीत—तृष्णा से परे है, सुव्यक्त है, वही उत्तम तप कहलाता है, ऐसी साधु की वाणी है ॥४६॥

[४७]

साधोः समाधिकरणं सुखकरं गुणानामाधिकरणम् ।

न कृतागमाधिकरणं करणो नु कामाधिकरणम् ॥

हे कृतागम! करणो न सुखकरं गुणानाम् आधिकरणं कामाधिकरणं, न आधिकरणं च नु साधोः समाधिकरणं (अस्ति) ।

साधोरिति- हे कृतागम! कृत आगमो येन तत्सम्बुद्धौ हे रचितशास्त्र! हे करणो न! करणैरिन्द्रियैः इन्द्रियविषयैरित्यर्थः ऊनो रहितस्तत्सम्बुद्धौ । सुखकरं सुखोत्पादकम्, गुणानां वात्सल्यादीनाम्, आधिकरणम् अधिक्रियते यस्मिन् तदधिकरणम्, अधिकरणमेव आधिकरणम् स्वार्थेऽणप्रत्ययः आधारस्थानम्, कामाधिकरणं कामानां मनोरथानाम् आधिकरणं पूरकम्, न आधिकरणं न मानसिकव्यथाया आधारः, च समुच्चये, नु वितर्के, समाधिकरणं साधूनां सुस्थिरीकरणम् (अस्ति) ॥४७॥

अर्थ- हे कृतागम! आगम के रचयिता! हे करणो न! इन्द्रियविषयों से रहित! जो सुखकारी है, गुणों का आधार है, काम—मनोरथों का पूरक है और मानसिकव्यथा को करने वाला नहीं है वही साधु का समाधिकरण है — साधुसमाधि नामक भावना है ॥४७॥

[४८]

सर्वमन्यद् व्यलीकं ह्यदो विहाय विपश्चितां व्यलीकम् ।

अताम्येतद् व्यलीकं कदाप्यनिच्छन् भुव्यलीकम् ॥

विपश्चितां अदः विहाय हि अन्यद् सर्वं व्यलीकं व्यलीकं (अस्ति अतः) भुवि अलीकं व्यलीकं कदापि अनिच्छन् एतत् अतामि ।

सर्वमिति- विपश्चितां विदुषां 'विद्वान् विपश्चिद्वोषज्ञः सन्तुधीः कोविदो बुधः' इत्यमरः। अदः एतत्, समाधिसाधनम् विहाय त्यक्त्वा हि निश्चयेन, अन्यत् सर्वम् इतरत् निखिलम्, व्यलीकम् अकार्यम्, व्यलीकं विप्रियम् (अस्ति अतः) भुवि पृथिव्याम् अलीकम्, व्यलीकं स्वर्गं, कदापि जात्वपि, अनिच्छन् अनभिलषन् (अहम्) एतत् अतामि गच्छामि प्राप्नोमीति यावत्। 'अत सातत्यगमने' इत्यस्य रूपम्। 'व्यलीकं विप्रियाकार्यवैलक्ष्येष्वपि पीडनम्' । 'अलीकं त्रिदिवे क्लीबं मिथ्यायामाप्रिये त्रिषु' इति च विश्वलोचनः ॥४८॥

अर्थ- विद्वानो के लिए इस साधुसमाधि को छोड़कर अन्य सब व्यलीक- अकार्य हैं, अप्रिय हैं। मैं पृथिवी पर मिथ्यास्वर्ग की इच्छा न करता हुआ इस साधुसमाधि को प्राप्त होता हूँ ॥४८॥

[४९]

यो मदादिं न मन्तुं मुञ्चति भुवीशो गन्तुं न मन्तुम् ।
तदूनस्तं न मन्तुं जातु स्वमिच्छामि नमन् तुम् ॥

यः तदूनः (साधुसमाधिकरणविहीनः) मदादिं मन्तुं न मुञ्चति (सः) मन्तुं गन्तुं न ईशः स्वं नमन् तुं मन्तुं तं जातु न इच्छामि ।

यो मदादिमिति- यः तदूनः तेन साधुसमाधिकरणेन ऊनो विहीनः, मदादिं गर्वादिकं, मन्तुम् अपराधं, न मुञ्चति न त्यजति (सः) मन्तुं परमेष्ठिनं, गन्तुं प्राप्तुं, न ईशः न समर्थः, स्वम् आत्मानं, नमन् नमस्कुर्वन्, तुं चौरं, तं मन्तुं मानवं, जातु कदाचित्, न इच्छामि नाभिलषामि। 'मन्तुः स्यादपराधेऽपि मानवे परमेष्ठिनि' इति विश्वलोचनः 'तुश्चौरक्रोडमुच्यते' इत्यपि च। यो गर्वादिभावमाश्रित्य साधुसमाधिं न करोति तमहं नेच्छामीति भावः ॥४९॥

अर्थ- जो साधुसमाधि से रहित हो अहंकार आदि अपराध को नहीं छोड़ता है वह मन्तु-परमेष्ठी को प्राप्त करने में समर्थ नहीं है। स्वकीय आत्मा को नमन करता हुआ मैं उस चौरमानव- परपदार्थों को अपना मानने वाले मानव की कभी इच्छा नहीं करता ॥४९॥

[५०]

ततस्तदाप्त्यै भगतस्तिष्ठाम्यहमतिदूरं न तु भगतः ।
एवास्यचलन् भगतः परमपदमपीह वृषभ ! गतः ॥

(१६६)

ततः तदाप्त्यै (साधुसमाधिकरणाय) अहं भगतः अतिदूरं तिष्ठामि न तु भगतः हे वृषभ! भगतः अचलन् इह (त्वमपि) परमपदं गतः असि ।

तत इति- ततः तस्मात् कारणात् तदाप्त्यै तस्य साधुसमाधेः आप्त्यै प्राप्त्यै, अहं भगतः यशसः अतिदूरं तिष्ठामि न तु भगतः वैराग्यात्। हे वृषभ! हे आद्यजिनेन्द्र! भगतः धर्मतः अचलन् नैव चलन् इह जगति (त्वमपि) परमपदं श्रेष्ठपदं मोक्षमिति भावः। गतः प्राप्तः असि। 'भगं तु ज्ञानयोनीच्छायशोमाहात्म्यमुक्तिषु' इति विश्वलोचनः ॥५०॥

अर्थ- इसलिये उस साधुसमाधि की प्राप्ति के लिये मैं भग-यश से अतिदूर रहता हूँ, भग-वैराग्य से नहीं। हे वृषभजिनेन्द्र! भग-धर्म से विचलित न होते हुये आप भी परमपद को प्राप्त हुए हैं।॥५०॥

[५१]

पवनो गतः परागं मुनिमित्तमिदमिव शस्यतेऽपरागम् ।

गता तव गीः परागं सुललनाकरलतेप! रागम् ॥

हे ईप! परागं गतः पवनः, परागं गता सुललनाकरलता, तव गं गता (मम) परा गीः इव अपरागं मुनिं इतं इदं (समाधिकरणं) शस्यते।

पवन इति- हे ईप! ई लक्ष्मीं पाति रक्षतीति ईपस्तत्सम्बुद्धी हे लक्ष्मीपते! परागं पुष्परजः गतः प्राप्तः, पवनः समीरः, परागं लोहितवर्णमयाङ्गरागं, गता प्राप्ता, सुललनाकरलता सुस्त्रीपाणिवल्ली, तव भवतः, गं गीतं गता (मम) परा श्रेष्ठा गीः वाणी इव, अपरागं अपगतो विनष्टो रागो यस्य तं वीतरागं मुनिम्, इतं प्राप्तं, इदम् (समाधिकरणं) शस्यते प्रशंसितं भवति। 'परागः पुष्परजसि स्नानीयादौ रजस्यपि। विख्यातावुपरागेऽपि चन्दने पर्वतान्तरे'। 'गं गीते शास्त्रगातरि' इति च विश्वलोचनः ॥५१॥

अर्थ- हे ईप! हे लक्ष्मीपते! जिस प्रकार पराग-पुष्परज को प्राप्त हुआ पवन, पराग - मेंहदी की लाली को प्राप्त हुई सुन्दर स्त्री की करलता और आपके गीत-गुणगान को प्राप्त हुई मेरी वाणी प्रशंसनीय है, उसी प्रकार अपराग-वीतराग मुनि को प्राप्त हुई यह साधुसमाधि भावना प्रशंसनीय है ॥५१॥

[५२]

भव्यकौमुददोषेशः कामधेनुः सुरागकः ।

दिव्यविद्मुक्तिदोमेश मामटेन्नु तरां तु क ॥

हे दिव्यविद्मुक्तिदोमेश! उमेश! क! भव्यकौमुददोषेशः कामधेनुः सुरागकः (साधुसमाधिकरणं) मां तरां अटेत्नु (निश्चये) तु (पादपूर्तौ) ।

भव्येति- हे दिव्यविदमुक्तिद! विच्च मुक्तिश्चेति विदमुक्ती, दिव्ये विदमुक्ती इति दिव्यविदमुक्ती ते ददातीति दिव्यविदमुक्तिदस्तत्सम्बुद्धौ हे दिव्यविदमुक्तिद! दिव्यज्ञानमोक्षद! उमेश! उमायाः कीर्तेः ईशः उमेशस्तत्सम्बुद्धौ कीर्तिस्वामिन् ! क! ब्रह्मन्! भगवन्नित्यर्थः । भव्यकौमुददोषेशः कुमुदानां समूहः कौमुदं भव्या एव कौमुदं भव्यकौमुदं तस्य दोषेशश्चन्द्र, कामधेनुः सुरगवी, सुरागकः सुराणां देवानाम् अगः सुरागः, सुराग एव सुरागकः कल्पवृक्षः (इदं साधुसमाधिकरणं) मां अटेत् तरां अतिशयेन प्राप्नुयात् यायात् । नु निश्चये, तु पादपूर्ती। 'उमा गौर्यामतस्यां च हरिद्राकान्तिकीर्तिषु' इति विश्वलोचनः ॥५२॥

अर्थ- हे दिव्यज्ञान और मुक्ति के दाता! हे कीर्ति के स्वामी! हे ब्रह्मन् - हे जिनेन्द्र! भव्यरूप कुमुदसमूह को चन्द्रमा, कामधेनु और कल्पवृक्ष रूप यह साधुसमाधि मुझे निश्चय से अच्छी तरह प्राप्त हो ॥५२॥

[५३]

यथोद्यतमिह रोहितः सततं जगतां नु हिताय रोहितः ।

वान्तस्वार्थरोहितः सत्सेवको भव परो हितः ॥

-यथा इह रोहितः जगतां हिताय रोहितः नु उद्यतः तथा (त्वमपि) वान्तस्वार्थरोहितः (भवन्) (जगतां) हितः परः सत्सेवकः भव ।

यथोद्यत इति- यथा येन प्रकारेण, इह लोके, रोहितः वीरः राजेत्यर्थः जगतां लोकानां, हिताय कल्याणाय, उद्यतः तत्परः, यथा (च) रोहितः सूर्याः जगतां हिताय नु निश्चयेन (उद्यता उदिताः) भवन्ति, तथा (त्वमपि) वान्तस्वार्थरोहितः वान्तं स्वार्थ एव रोहितं रुधिरं येन तथाभूतः (भवन्) जगतां जगज्जीवानां हितः कल्याणकारकः परः उत्कृष्टः सत्सेवकः सतां साधूनां सेवको वैयावृत्यकरः, भव एधि। 'सरलेन्द्रायुधे वीरे रुधिरेऽपि च रोहितम्' इति, 'रोहिदके पुमानेव' इति च विश्वलोचनः ॥५३॥

अर्थ- जिस प्रकार इस जगत् में रोहित- वीर राजा जगत् जनों के हित के लिये उद्यत रहता है अथवा उगते हुए रोहित - सूर्य जगत् के हित के लिये तत्पर हैं, उसी प्रकार हे आत्मन्! तू स्वार्थरूपी रुधिर को वान्त करता हुआ जगत् का हितकारी उत्कृष्ट सेवक हो ॥५३॥

[५४]

ममत्तमित-सुरः कुमुदं तदूनमश्चे न जितमनःकुमुदम् ।

बन्धुरयति किं कुमुदं नलिनीदलनन्दनं कुमुदम् ॥

(१७१)

तदूनं (साधुसेवाऽकरणशीलं) न अञ्चे (किन्तु) जितमनःकुमुदं मम उरः कुमुदं इतं तं (जिनं) अञ्चे, किं बन्धुः कुमुदं अयति ? किं कुमुदं नलिनीदलनन्दनं अयति ? (नेत्यर्थः)

ममेति- तदूनं तेन ऊनस्तदूनस्तं साधुसेवाऽकरणशीलमित्यर्थः। न अञ्चे न पूजयामि, (किन्तु) जितमनःकुमुदं जिता मनसः कुमुदं कुत्सितहर्षो येन तं विषयानन्दरहितमित्यर्थः, मम, उरःकुमुदं हृदयकैरवम्, इतं प्राप्तं, तं (जिनं) अञ्चे पूजयामि। किं बन्धुः परिवारजनः, कुमुदं कृपणं, अयति गच्छति प्रेम्णा प्राप्नोतीत्यर्थः, किं कुमुदं कैरवं, नलिनीदलनन्दनं सूर्यं, अयति गच्छति प्रेम्णा प्राप्नोति? अपि तु नेत्यर्थः। 'अयति' इति रूपं 'इट किट कटी गतौ' इत्यत्र प्रश्लिष्टस्य इधातो रूपम् । 'कुमुदं कैरवे क्लीबं कृपणे कुमुदन्यवत्' इति विश्वलोचनः ॥५४॥

अर्थ- साधुसेवा से रहित मानव की मैं पूजा नहीं करता, किन्तु मन के कुमुद-कुत्सित हर्ष-विषयानन्द को जीतने वाले अपने हृदयकुमुद में आये उन जिनेन्द्र की पूजा करता हूँ। क्या बन्धु-कुटुम्ब परिवार कुमुद-कृपण मनुष्य के पास जाता है? अथवा कुमुद-कैरव सूर्य के पास जाता है। अर्थात् नहीं ॥५४॥

[५५]

हरति दययाऽमा नतः प्ररक्षन् मनमनो न! मनो मानतः ।

यो मुनिगतामानतः स मुक्तिमेत्यधतोऽमानतः ॥

हे अमनः! न! यः दयया अमा नतः मानतः मनः प्ररक्षन् मुनिगतामान् हरति (सः) अतः अमानतः अधतः मुक्तिं एति।

हरतीति- हे अमनः ! न विद्यते मनो यस्य सः अमनाः तत्सम्बुद्धौ हे सर्वज्ञ ! यः जनः, दयया करुणया, अमा सह, नतः नम्रीभूतः, मानतः गर्वात्, मनः चित्तं, प्ररक्षन् प्रकर्षेण रक्षन् मुनिगतामान् मुनीन् गताः प्राप्ताः मुनिगताः अमा रोगाः मुनिगतामाः तान् मुनिगतामान् साधुसमुद्भवरोगान् हरति दूरीकरोति । (सः) अतः मुनिजनवैद्यावृत्यकरणान् हेतोः अमानतः न विद्यते मानं प्रमाणं यस्य सः अमानः अपरिमितः तस्मात्, अधतः पापात् मुक्तिं निवृत्तिम्, एति प्राप्नोति। अथवा मानतः मानकषायात् निवृत्तिम् एति। अथवा अमानतः ईषत् मानं प्रमाणं अमानं क्षायोपशमिकज्ञानमिति यावत्, तस्मात् अल्पज्ञानात् मुक्तिम् एति, केवलज्ञानी भवतीति भावः ॥५५॥

अर्थ- हे अमनः न! हे भावमन से रहित जिनदेव ! जो दया के साथ नम्रीभूत तथा मान-गर्व से मन की रक्षा करता हुआ मुनियों के रोगों को हरता है- दूर करता है वह इसके फलस्वरूप अपरिमित पाप से मुक्ति पा जाता है ॥५५॥

[५६]

समौक्तिकोऽत्र कलिङ्गः कलितः कमनीयमणिना कलिङ्गः ।

दुर्लभो भुवि कलिङ्गस्तथा युतोऽनेन सकलिङ्गः ॥

यथा अत्र भुवि समौक्तिकः कलिङ्गः, कमनीयमणिना कलितः कलिङ्गः दुर्लभः, तथा अनेन युतः (वैयावृत्यान्वितः) सकलिङ्गः कलिङ्गः दुर्लभः ।

समौक्तिक इति- यथा येन प्रकारेण अत्र भुवि अस्यां वसुधायां, समौक्तिकः मौक्तिकैः सहितः कलिङ्गो मतङ्गजः हस्तीत्यर्थः, कमनीयमणिना मनोहरफणारत्नेन, कलितः सहितः, कलिङ्गः भुजङ्गः, दुर्लभः दुष्प्राप्यः, तथा अनेन वैयावृत्येन, युतः अन्वितः, सकलिङ्गः कस्य आत्मनो लिङ्गं चिह्नं कलिङ्गं जातरूपमुद्रा तेन सहितः सकलिङ्गः, कलिङ्गः विदग्धः चतुरो जन इत्यर्थः, दुर्लभो दुष्प्राप्यः । 'कलिङ्गो भूमिकूष्माण्डे मतङ्गजभुजङ्गयोः', 'नीवृद्भे कलिङ्गस्तु त्रिषु दग्धविदग्धयोः' इति च विश्वलोचनः ॥५६॥

अर्थ- जिस प्रकार इस भूमि पर मौक्तियों सहित कलिङ्ग-हाथी, और सुन्दर मणि से सहित कलिङ्ग-नाग दुर्लभ है उसी प्रकार इस वैयावृत्य से सहित सकलिङ्ग-निर्ग्रन्थ-तंगनमुद्रा से सहित कलिङ्ग-चतुर जन दुर्लभ है ॥५६॥

[५७]

रतेन निजे पदे न न्विदं शोभते च वस्तुतोऽपदेन ।

सरसिजं षट्पदेन पदेन जनपदोऽलं पदेन ॥

हे न! वस्तुतः निजे पदे रतेन अपदेन नु इदं शोभते। सरसिजं षट्पदेन, जनपदः पदेन यथा (शोभते) पदेन अलम् (अस्तु)।

रतेनेति- हे न! हे पूज्य! वस्तुतः परमार्थतः, निजे पदे स्वस्वभावेन रतेन, अपदेन पदं वस्त्ररूपं वस्तु न विद्यते यस्य सः अपदः तेन अपदेन दिगम्बरेण निर्ग्रन्थसाधुनेत्यर्थः, नु निश्चयेन, इदं वैयावृत्यकरणं शोभते। सरसिजं कमलं, षट्पदेन भ्रमरेण, जनपदः देशः, पदेन व्यवसायेन उद्योगेनेत्यर्थः । यथा येन प्रकारेण (शोभते) पदेन शब्देन व्यर्थवाग्जालेनेति भावः अलं पर्याप्तम् (अस्तु) व्यर्थेन शब्दाडम्बरेण को लाभः? नैर्ग्रन्थेनैवेदं वैयावृत्यं विशोभते इति भावः। 'पदं वाक्ये प्रतिष्ठायां व्यवसायापदेशयोः। पादात्तचिह्नयोः शब्दे स्थानत्राणाङ्घ्रिवस्तुषु' इति विश्वलोचनः ॥५७॥

अर्थ- हे न! पूज्य! जिनवर! यथार्थतः निज स्वभाव में लीन अपद-दिगम्बर-निर्ग्रन्थ साधु से ही यह वैयावृत्य सुशोभित होता है, उस प्रकार, जिस प्रकार कि षट्पद - भ्रमर से कमल और पद-व्यवसाय-उद्योग से जनपद-देश सुशोभित होता है ॥५७॥

[५८]

श्रेयसा मनसा साधोः सेवा विधीयते मया ।

जायतां मयि साऽबन्धोऽहं वा सुधीर्यते यया ॥

हे यते! श्रेयसा मनसा साधोः सेवा मया विधीयते, यया अहं अबन्धः, मयि सा सुधीः जायतां वा (इतिममानुमानं सम्यक्)।

श्रेयसेति- हे यते! हे साधो! श्रेयसा श्रेष्ठेन, मनसा हृदयेन, साधोः तपस्विनः, सेवा वैयावृत्यं, मया काव्यकर्त्रा, विधीयते क्रियते, यया भावनया, अहम् अबन्धः बन्धरहितः स्यामेति शेषः। मयि काव्यकर्तरि, सा वैयावृत्यपरायणा, सुधीः प्रशस्तबुद्धिः, जायतां वा समुत्पद्यतां वा (इति ममानुमानं सम्यक्) ॥५८॥

अर्थ- हे यते! श्रेष्ठ मन से मेरे द्वारा साधु की सेवा की जावे, जिस सेवा से मैं बन्धरहित हो जाऊं और मुझ में वह सुबुद्धि उत्पन्न हो सके ॥५८॥

[५९]

स्तुता यतिपतिना गता वस्तुगताश्च दशा गतानागताः ।

निजं जयन्तु ना गता यद्धियं वाधां विना गताः ॥

आगताः गताः अनागता च वस्तुगताः दशाः वाधां विना यद्धियं गताः (ते) नाः ये निजं गताः यतिपतिना स्तुताः जयन्तु ।

स्तुता इति- आगता वर्तमानाः, गता अतीताः, अनागताः च भविष्यत्कालसम्बन्धिन्यश्च, वस्तुगताः द्रव्यगताः दशाः अवस्थाः पर्यायाः इत्यर्थः, वाधां विना, निर्बाधरीत्या, यद्धियं यदीयबुद्धिं गताः प्राप्ताः त्रिकालज्ञा इत्यर्थः (ते) ना जिनेश्वराः, 'नकारो जिनपूज्ययोः' इति विश्वलोचनः। ये निजं स्वस्वरूपं गताः प्राप्ताः, यतिपतिना यतिनायकेन गणधरपरमेष्ठिना, स्तुताः स्तवनविषयीकृताः, जयन्तु सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ताम् ॥५९॥

अर्थ- अतीत, अनागत और वर्तमान सम्बन्धी द्रव्यगत पर्यायें विना किसी बाधा के जिनके ज्ञान में प्राप्त हैं, जो निज स्वभाव को प्राप्त कर चुके हैं और यतिपति-गणधर देवों के द्वारा जो स्तुत हैं; वे जिनेन्द्र जयवन्तं हों ॥५९॥

[६०]

खगणः कामहा! लयं त्वयेत इन इतोसि दृङ्महालयम् ।

श्रिया तया महालयं कुरुषेऽये त्वात्र महालयम् ॥

हे कामहा! अत्र त्वया खगणः लयं इतः (अतः) दृङ्महालयं इतः असि, तया श्रिया महालयं कुरुषे (अतः) इनः असि (अतः) त्वा महालयं (अहं) अये।

खगण इति- हे कामहा! कामं जहातीति कामहाः तत्सम्बुद्धौ जितकाम! अत्र अस्मिन् लोके, त्वया, खगणः इन्द्रियसमूहः, लयं विनाशम्, इतो गतः (अतः) वृद्धमहालयं सम्यग्दर्शनमहाभवनं, इतः प्राप्तः असि, तया प्रसिद्धया श्रिया मोक्षलक्ष्म्या, महालयं महाश्चासौ लयश्चेति महालयस्तं महाश्लेषं क्रीडां कुरुषे विदधासि (अतः) इनः स्वामी असि, त्वा भवन्तं महालयं तीर्थस्वरूपं महानामुत्सवानामालयस्तं अमन्दानन्दभवनमित्यर्थः। (अहम्) अये शरण्यबुद्ध्या प्राप्नोमि 'अय गतौ' इत्यस्य लडुत्तमे प्रयोगः। 'लयो नृत्यादिसाम्ये स्याद्विनाशाश्लेषयोर्लयः' इति विश्वलोचनः। 'मह उत्सवतेजसोः' इति विश्वलोचनः। 'खमिन्द्रियं हृषीकं च स्रोतोऽक्षं करणं विदुः इति धनञ्जयः ॥६०॥

अर्थ- हे मदनविजयिन्! इस जगत् में आपके द्वारा खगण—इन्द्रियों का समूह लय — विनाश को प्राप्त हुआ है अतः आप सम्यग्दर्शन रूप महाभवन को प्राप्त हैं। आप उस—अनिवर्चनीय मोक्षलक्ष्मी के साथ आलिङ्गन करते हैं अतः आप इन— स्वामी हैं। इसीलिये महालय—उत्सवों के आलय स्वरूप आपको प्राप्त होता हूँ—आपकी शरण में आता हूँ ॥६०॥

[६१]

दक्षो दूरोऽक्षरतोऽतितापात् क्षितिं स्रवत् क्षरं क्षरतः ।

तथा मामिहारक्षरतो न रक्षरक्षाभरोऽक्षरतः ॥

(यथा) इह क्षरतः स्रवत् क्षरं अतितापात् क्षितिं (रक्षति) तथा (त्वं) अक्षरतः दूरः दक्षः न अक्षरतः अक्षरतः अक्षरः मां रक्ष रक्ष।

दक्ष इति- (यथा) येन प्रकारेण इह जगति, क्षरतः मेघात्, स्रवत् क्षरत् क्षरं जलं, अतितापात् तीव्रनिदाघात्, क्षितिं पृथिवीं (रक्षति) तथा (त्वं) अक्षरतः अक्षरेभ्य इति अक्षरतः पञ्चम्यास्तसिल् अक्षरसमूहात्, दूरः दूरवर्ती वचनागोचर इत्यर्थः न अक्षरतः अक्षेषु इन्द्रियेषु रत इति अक्षरतः इन्द्रियविषयासक्तो न भवति, अक्षरतः अक्ष्णोति जानाति इत्यक्ष आत्मा तस्मिन् रतः अक्षरः न क्षरतीति अक्षरः अविनाशी, मां रक्ष रक्ष त्रायस्व त्रायस्व। 'क्षरो मेघे क्षरं नीरे' इति विश्वलोचनः। 'अक्षरं न द्वयोर्मोक्षे ब्रह्मणि व्योमवर्णयोः' इति, 'अक्षं स्यादिन्द्रिये क्लीबं' इति च विश्वलोचनः ॥६१॥

अर्थ- जिस प्रकार मेघ से झरता हुआ पानी तीव्र तपन से पृथिवी की रक्षा करता है उसी प्रकार अक्षरतो दूर—अक्षरों से दूर रहने वाले— वचनागोचर, दक्ष — समर्थ अथवा चतुर, न अक्षरतः इन्द्रियों में अनासक्त, अक्षरत—आत्मरत और अक्षर—अविनाशी आप मेरी रक्षा करें, रक्षा करें ॥६१॥

[६२]

मोहोरगरसायनं मुक्तेर्यद् दर्शितमुरसाऽयनम् ।

यजेऽलं च रसायनं निरञ्जनं नं स्वरसाय नम् ॥

मुक्तेः अयनं यद्दर्शितं मोहोरगरसायनं निरञ्जनं नं नं स्वरसाय उरसा यजे (किन्तु) रसाय अलम् ।

मोहोरगेति- मुक्तेः मोक्षस्य अयनं वर्त्म 'अयनं वर्त्ममार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः' इत्यमरः। यद्दर्शितं येन दर्शितं येन प्रकटितमित्यर्थः, मोहोरगरसायनं मोह एव उरगः सर्पस्तस्य रसायनो गरुडस्तं 'गरुडेऽपि रसायनः' इति विश्वलोचनः। निरञ्जनं निष्कलङ्कं, नं पूज्यं, नं जिनं, स्वरसाय आत्मप्रीत्यै, उरसा हृदयेन, यजे पूजयामि, (किन्तु) रसाय इन्द्रियविषयाय रागाय वा, अलं पर्याप्तम् । 'रसः स्वादेऽपि तिक्तादौ शृङ्गारादौ द्रवे विषे। पारदे धातुवीर्याम्बुरागे गन्धरसे तनौ' इति विश्वलोचनः ॥६२॥

अर्थ- मुक्ति का मार्ग जिसने दिखाया है जो मोहरूपी सर्प को रसायन—गरुड़ हैं, कर्मकालिमा से रहित हैं और पूज्य हैं ऐसे जिनेन्द्र की मैं आत्मप्रीति के लिये—स्वान्तःसुखाय हृदय से पूजा करता हूँ। रस—इन्द्रियसुख मेरे लिये अपेक्षित नहीं है ॥६२॥

[६३]

स्वीयं मनो जहार गुणमणिमयं पुनर्मनोऽज ! हारम् ।

गतोऽस्ति मनोजहाऽरं न नक्षति मेऽमनोऽज ! हारम् ॥

हे मनोजहा! अमनः मनो! अज! अज! (भवान्) स्वीयं मनः जहार पुनः गुणमणिमयं हारं गतः अस्ति (इति हेतोः) मे रं अरं किं न नक्षयति ? हा।

स्वीयमिति- हे मनोजहा! कामहा! कामविघातकेत्यर्थः, अमनः न विद्यते मनो यस्य सः अमनाः तत्सम्बुद्धौ हे मनोव्यापाररहित! मनो! मनुसंज्ञाधारक! अज! न जायते इति अजः तत्सम्बुद्धौ हे अज! जन्मातीत! अज! हे आदिजिनेन्द्र! (भवान्) स्वीयं स्वकीयं, मनो जहार मनो हृतवान् स्वकीयमनोविषयसंकोचं कृतवान्, पुनः समुच्चये, गुणमणिमयं सम्यक्त्वादिगुणमणिनिर्मितं हारं मौक्तिकस्रजं, गतः प्राप्तः अस्ति, (इति हेतोः) मे मम रं दुःखं कामानलं वा, अरं शीघ्रं किं न नक्षयति? नष्टं न भविष्यति, अपि तु भविष्यत्येव। इति हा दुःखम्। 'रस्तु कामानले वह्नौ' इति विश्वलोचनः। 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः। हे भगवन्! भवान् मनोजहा कामविघातकोऽस्ति किन्तु मम मनोजं कामं न नाशयति, इति दुःखं मम मनसि वर्तते इति भावः। प्रथमचरणेऽनुस्वारहीनता यमकभङ्गाय नालम् ॥६३॥

अर्थ- हे मनोजहा! कामविनाशक! हे मनोव्यापार से रहित! हे अज!

(अयं सूरिः) दुरितविषधाराधरः, सज्जनमयूरधाराधरः, कुविधिध्वंसधृतधृतिधाराधरः, योगैः च धाराधरः (अस्ति)।

योगैरति- (अयं सूरिः) दुरितविषधाराधरः दुरितं पापमेव विषं गरलमिति दुरितविषं तस्य धारा प्रवाहः धरतीति धरः न धरः अधरः, दुरितविषधाराया अधर इति दुरितविषधाराधरः। सज्जनमयूरधाराधरः सज्जना एव मयूरास्तेषां धाराधरो मेघः, कुविधिध्वंसधृतधृतिधाराधरः कुविधीनां दुष्टकर्मणां ध्वंसे विनाशने धृतः धृतिधाराधरः धैर्यकृपाणो येन सः, योगैः ध्यानैश्च धाराधरः धाराधर एव धाराधरः पर्वतः (अस्ति) 'भवेद् धाराधरो वारिवाहिनस्त्रिंशयोः पुमान्' इति विश्वलोचनः ॥६८॥

अर्थ- यह आचार्य पापरूपी विष की धारा को धारण करने वाले नहीं हैं, सज्जन रूपी मयूरों के लिये धाराधर—मेघ हैं, दुष्ट कर्मों का विध्वंस करने के लिये जिन्होंने धैर्य रूपी खड्ग को धारण किया है और ध्यान के द्वारा धाराधर—पर्वत हैं अर्थात् ध्यान धारण करने में पर्वत के समान स्थिर हैं ॥६८॥

[६९]

यो ज्येष्ठमासंगतप्रतापिनः प्रताप्यपि मासं गतः।

गतः स्वे वासं गतः स निस्पृहो जयतात् संगतः ॥

ज्येष्ठमासंगतप्रतापिनः अपि प्रतापी भासंगतः स्वे वासं गतः सङ्गतः निस्पृहो यः सः (सूरिः) जयतात्। य इति- ज्येष्ठमासंगतप्रतापिनः अपि ज्येष्ठमासस्य सूर्यादपि, प्रतापी प्रतापयुक्तः, भासंगतः भासं कान्तिं गतः, अथवा भा दीप्तिः तथा संगतः सहितः, स्वे स्वकीयशुद्धात्मनि वासं निवासं गतः प्राप्तः, सङ्गतः परिग्रहतः, निःस्पृहः निरीहः सः (सूरिः) जयतात् उत्कर्षेण वर्तताम् ॥६९॥

अर्थ- जो ज्येष्ठमास के सूर्य से भी अधिक प्रतापी हैं, दीप्तिमान् हैं, स्वकीय आत्मा में निवास को प्राप्त हैं और परिग्रह से निःस्पृह हैं वे आचार्य जयवंत रहें ॥६९॥

[७०]

आचार्यस्य सदा भक्तिं भक्त्या ह्यये करोमि ताम् ।

वै चार्यस्य मुदा शक्तिं युक्त्याऽप्यये गुरोऽमिताम् ॥

अये गुरो! आर्यस्य आचार्यस्य भक्तिं भक्त्या सदा हि करोमि वै युक्त्या मुदा तां अमितां शक्तिं अपि च अये। आचार्यस्येति- अये गुरो! आर्यस्य अभ्यर्हितस्य पूज्यस्येति यावत् 'आर्य-स्त्वभ्यर्हिते त्रिषु' इति विश्वलोचनः। आचार्यस्य सूरैः, भक्तिं आराधनां, भक्त्या, अनुरागातिशयेन, सदा सर्वदा, हि निश्चयेन करोमि, वै निश्चयतः, युक्त्या योजनेन तत्संपर्कवर्धनेनेत्यर्थः 'युक्तिर्नियोजने न्याये पृथक्संयुक्तयोर्मतम्' इति विश्वलोचनः। मुदा

[६६]

स्वयमनुसमयञ्चरति परान् चारयति च न परे विचरति ।
मुञ्चत्यरतिञ्चरतिमस्तु मम तत्पादयोश्च रतिः ॥

यः सूरिः स्वयं अनुसमयं चरति, परान् चारयति च परे न विचरति, अरतिं रतिं च मुञ्चति, तत्पादयोः मम रतिः च अस्तु।

स्वयमिति- यः सूरिः, स्वयं अनुसमयं यथाशास्त्रं चरति, अपरान् इतरान् चारयति च। परे परद्रव्ये न विचरति न विहरति, अरतिं अप्रीतिं, रतिं प्रीतिं च मुञ्चति, तत्पादयोः तच्चरणयोः मम रतिः प्रीतिः, अस्तु भवतु ॥६६॥

अर्थ— जो आचार्य स्वयं शास्त्रानुसार आचरण करते हैं, दूसरों को आचरण कराते हैं, परद्रव्य में विचरण नहीं करते हैं और अप्रीति तथा प्रीति को छोड़ते हैं उनके चरणों में मेरी प्रीति हो ॥६६॥

[६७]

रजोगतमिव लोचकं लोचकः संगत मुनिपालो च कम् ।
मत्वात्र मालोचकं सुविदा रक्ष कृपालो चकम् ॥

उ! मुनिपाल! कं संगत कृपालो! मां लोचकं च कं मत्वा सुविदा रक्ष, अत्र रजोगतं लोचकं लोचक इव।

रजोगतमिवेति- मुनिपालो मुनिपाल+उ इतिच्छेदः। उ सम्बुद्धौ, मुनिपाल! मुनिरक्षक! कं सुखम् आत्मानं च 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु। कं सुखे वारि शीर्षे च' इति विश्वलोचनः। संगत! प्राप्त! कृपालो! दयालो! मां लोचकं निर्बुद्धिनरं, कम् आत्मानं मत्वा, सुविदा सम्यग्ज्ञानेन, रक्ष त्रायस्व, अत्र जगति, रजोगतं प्राप्त-धूलिकं, लोचकं नेत्रतारकं, लोचक इव कज्जल इव। 'लोचको नेत्रतारके । मांसपिण्डे च पिण्डे च योषिद्भालविभूषणे। कज्जले नीलचोले च मौर्व्यां भ्रूश्लथचर्मणि। कदल्यां कर्णपूरे च निर्बुद्धिनृषु लोचकः।' इति विश्वलोचनः ॥६७॥

अर्थ- हे मुनिपाल! मुनियों के रक्षक! क— सुख अथवा आत्मा को प्राप्त! दयालो आचार्य! मुझ निर्बुद्धि को आत्मा मान कर सम्यग्ज्ञान से मेरी उस प्रकार रक्षा करो, जिस प्रकार धूलि से युक्त नेत्र की कज्जल रक्षा करता है ॥६७॥

[६८]

योगैश्च धाराधरः सुविधिध्वंसधृतधृतिधाराधरः ।
दुरितविषधाराधरः सज्जनमयूरधाराधरः ॥

(अयं सूरिः) दुरितविषधाराधरः, सज्जनमयूरधाराधरः कुविधिध्वंसधृतधृतिधाराधरः, योगैः च धाराधरः (अस्ति)।

योगैरति- (अयं सूरिः) दुरितविषधाराधरः दुरितं पापमेव विषं गरलमिति दुरितविषं तस्य धारा प्रवाहः धरतीति धरः न धरः अधरः, दुरितविषधाराया अधर इति दुरितविषधाराधरः। सज्जनमयूरधाराधरः सज्जना एव मयूरास्तेषां धाराधरो मेघः, कुविधिध्वंसधृतधृतिधाराधरः कुविधीनां दुष्टकर्मणां ध्वंसे विनाशने धृतः धृतिधाराधरः धैर्यकृपापो येन सः, योगैः ध्यानैश्च धाराधरः धराधर एव धाराधरः पर्वतः (अस्ति) 'भवेद् धाराधरो वारिवाहिनस्त्रिंशयोः पुमान्' इति विश्वलोचनः ॥६८॥

अर्थ- यह आचार्य पापरूपी विष की धारा को धारण करने वाले नहीं हैं, सज्जन रूपी मयूरों के लिये धाराधर—मेघ हैं, दुष्ट कर्मों का विध्वंस करने के लिये जिन्होंने धैर्य रूपी खड्ग को धारण किया है और ध्यान के द्वारा धाराधर—पर्वत हैं अर्थात् ध्यान धारण करने में पर्वत के समान स्थिर हैं ॥६८॥

[६९]

यो ज्येष्ठमासंगतप्रतापिनः प्रताप्य पि मासं गतः।

गतः स्वे वासं गतः स निस्पृहो जयतात् संगतः ॥

ज्येष्ठमासंगतप्रतापिनः अपि प्रतापी भासंगतः स्वे वासं गतः सङ्गतः निस्पृहो यः सः (सूरिः) जयतात्।

य इति- ज्येष्ठमासंगतप्रतापिनः अपि ज्येष्ठमासस्य सूर्यादपि, प्रतापी प्रतापयुक्तः, भासंगतः भासं कान्तिं गतः, अथवा भा दीप्तिः तथा संगतः सहितः, स्वे स्वकीयशुद्धात्मनि वासं निवासं गतः प्राप्तः, सङ्गतः परिग्रहतः, निस्पृहः निरीहः सः (सूरिः) जयतात् उत्कर्षेण वर्तताम् ॥६९॥

अर्थ- जो ज्येष्ठमास के सूर्य से भी अधिक प्रतापी हैं, दीप्तिमान् हैं, स्वकीय आत्मा में निवास को प्राप्त हैं और परिग्रह से निःस्पृह हैं वे आचार्य जयवंत रहें ॥६९॥

[७०]

आचार्यस्य सदा भक्तिं भक्त्या ह्यये करोमि ताम् ।

वै चार्यस्य मुदा शक्तिं युक्त्याऽप्यये गुरोऽमिताम् ॥

अये गुरो! आर्यस्य आचार्यस्य भक्तिं भक्त्या सदा हि करोमि वै युक्त्या मुदा तां अमितां शक्तिं अपि च अये।

आचार्यस्येति- अये गुरो! आर्यस्य अभ्यर्हितस्य पूज्यस्येति यावत् 'आर्य-स्त्वभ्यर्हिते त्रिषु' इति विश्वलोचनः। आचार्यस्य सूरैः, भक्तिं आराधनां, भक्त्या, अनुरागातिशयेन, सदा सर्वदा, हि निश्चयेन करोमि, वै निश्चयतः, युक्त्या योजनेन तत्संपर्कवर्धनेनेत्यर्थः 'युक्तिर्नियोजने न्याये पृथक्संयुक्तयोर्मतम्' इति विश्वलोचनः। मुदा

हर्षेण, तां दुर्लभां, अमितां अपरिमितां, शक्तिं वीर्यं, अपि च, अये प्राप्नोमि, आचार्यभक्तितोऽनन्तवीर्ययुतं मोक्षं प्राप्नोमीत्यर्थः ॥७०॥

अर्थ- हे गुरो! मैं पूज्य आचार्य की भक्ति सदा उत्कट अनुराग से करता हूँ। निश्चित ही उनके संपर्क से मैं हर्षपूर्वक उस अपरिमित शक्ति को प्राप्त हो रहा हूँ ॥७०॥

[७१]

विदामिहाहं रमतिः कदाप्येति न मदमिति मुधा रमतिम् ।

स्वस्मिन् स्मरति विरमति स्मरतु तं तु ते ह्युदारमतिः ॥

इह भुवि अहं विदां रमतिः इति कदापि मुधा मदं न एति। (स उपाध्यायपरमेष्ठी) रमतिं न स्मरति स्वस्मिन् विरमति ते उदारमतिः तं हि स्मरतु तु पादपूर्तौ।

विदामिति- इह भुवि, अहं विदां, ज्ञानानां, रमतिः नायकः स्वामीत्यर्थः, इति हेतोः, कदापि मुधा व्यर्थं, मदं गर्वं, न एति न प्राप्नोति, (स उपाध्यायपरमेष्ठी) रमतिं स्वर्गं न स्मरति न ध्यायति। 'रमतिर्नायके स्वर्गं' इति विश्वलोचनः। स्वस्मिन् स्वशुद्धात्मनि, विरमति विश्रान्तो भवति, ते उदारमतिः उत्कृष्टबुद्धिः (सती) तं पालकं 'पालने पालके तः स्यात्' इति विश्वलोचनः। तम् उपाध्यायपरमेष्ठिनम्, हि निश्चयेन, स्मरतु ध्यायतु, तु पादपूर्तौ ॥७१॥

अर्थ- 'इस पृथिवी पर मैं ज्ञानों का स्वामी हूँ' इस प्रकार के व्यर्थ मद को जो कभी नहीं प्राप्त होते, जो स्वर्ग का स्मरण नहीं करते तथा अपने आप में विश्राम करते हैं उन उपाध्याय परमेष्ठी का तेरी उदार बुद्धि निश्चय से स्मरण करे ॥७१॥

[७२]

कृतमदममतापचितिर्यस्मादाप्तनिजानुभवोपचितिः ।

तस्य ह्यपपाप ! चिति स्थितये क्रियते मयाऽपचितिः ॥

यः (उपाध्यायपरमेष्ठी) कृतमदममतापचितिः यस्माद् आप्त - निजानुभवोपचितिः तस्य हि हे अपपाप! चिति स्थितये मया अपचितिः क्रियते।

कृतमदेति- यः (उपाध्यायपरमेष्ठी) कृतमदममतापचितिः कृता मदममतयोः मानममत्वभावयोः अपचितिर्हानिर्येन सः । यस्मात् कारणात्, आप्तनिजानुभवोपचितिः आप्ता निजानुभवस्य आत्मानुभवस्य उपचितिर्वृद्धिर्येन सः। तस्य हि उपाध्यायपरमेष्ठिनः, हे अपपाप! अपगतं पापं यस्य तत्सम्बुद्धौ, चिति आत्मनि, स्थितये अवस्थानाय, मया अपचितिः पूजा, क्रियते विधीयते। 'स्त्रियामपचितिः पूजानिष्कृतिक्षयहानिषु' इति विश्वलोचनः। 'पूजानमस्यापचितिः' इति चामरः ॥७२॥

अर्थ- जो मद और ममता की हानि करने वाले हैं तथा जिन्होंने आत्मानुभव की वृद्धि को प्राप्त किया है, हे निरवद्य साधो! आत्मा में स्थिरता प्राप्त करने के लिये मेरे द्वारा उन उपाध्याय परमेष्ठी की पूजा की जाती है ॥७२॥

[७३]

सकलङ्कःस मितितयाऽभयाञ्चित एणाङ्को भसमितितया ।

अकलङ्कःसमितितयाऽहेतो वरः सुरसमिति- तया ॥

स एणाङ्कः भयाञ्चितः मितितया भया अञ्चितः, भसमितितया (अञ्चितः) (अतः) सकलङ्कः (अयं उपाध्यायपरमेष्ठी) अकलङ्कः तया समितितया (अञ्चितः) अभयाञ्चितः (तथा) सुरसमितितया अञ्चितः (अतः) वरः इति सुरसं इतः (जिनः आह)।

सकलङ्क इति- सः एणाङ्कः चन्द्रः, भयाञ्चितः भययुक्तः, मितितया मितेर्भावो मितिता तया मानत्वेन, भया कान्त्या, अञ्चितः परिमितक्षेत्रे कान्तिसहित इत्यर्थः। 'मितिमनिऽष्यवच्छेदे' इति विश्वलोचनः, भसमितितया—भानि नक्षत्राणि तेषां समितिः सभा समूहो वा तस्याः भावस्तत्ता भसमितिता तया भसमितितया (अञ्चितः) (अतः) सकलङ्कःकलङ्कसहितः (अयम् उपाध्यायपरमेष्ठी) अकलङ्कःकलङ्करहितः, तया प्रसिद्धया, समितितया समितीनामीर्याभाषादीनां भावः कर्म वा समितिता तया, अथवा, समितेः साम्यस्य भावः समितिता तया, (अञ्चितः) शोभितः, अभयाञ्चितः न भयेन भीत्या अञ्चितः सहितः (तथा) सुरसमितितया सुराणां देवानां समितिः सभा सङ्गमो वा, तस्याः भावः समितिता तया, अञ्चितः शोभितः 'समितिः सङ्गरे साम्ये सभायां सङ्गमेऽपि च' इति विश्वलोचनः (अतः) वरः श्रेष्ठः, इति इत्थम्, सुरसं स्वभावम्, इतः प्राप्तः, जिनः आह — जिनेन्द्र कथयामास ॥७३॥

अर्थ- वह चन्द्रमा भय से अञ्चित — सहित है तथा सीमित भा — कान्ति से अञ्चित है, नक्षत्रों के समूह से अञ्चित है अतः सकलङ्क है, परन्तु यह उपाध्याय परमेष्ठी निर्भय हैं, असीमित आत्मज्ञानरूपी दीप्ति से सहित हैं, निष्कलंक हैं और देव-समूह से अञ्चित — पूजित हैं, अतः श्रेष्ठ हैं, ऐसा सुरस को प्राप्त जिनदेव ने कहा है ॥७३॥

[७४]

परपरिणतेरवनितः स्वात्मानं स्वागमं योऽवन्नितः ।

तेनाप्यते ह्यवनित- द्रव्यमुरसि निजमृषिभिर्वनित ॥

हे ऋषिभिः उरसि वनित! यः परंपरिणतेः अवनितः स्वात्मानं अवन स्वगमं इतः तेन निजं अवनितद्रव्यं आप्यते।

परपरिणतेरिति- हे ऋषिभिः तपस्विभिः, उरसि स्वकीयहृदये वनित! संशोधित! ऋषयो यस्य शुद्धं रूपं स्वहृदये दधतीत्यर्थः। यः परपरिणतेः परेषु स्वेतरवस्तुषु या परिणतिः ममत्वभावना कषायपरिणतिरित्यर्थः, तस्याः अवनितः भूमितः, अवनितशब्दात् तसिल् प्रत्ययः, स्वात्मानम् अवन् रक्षन्, स्वागमं सुष्ठु आगमः स्वागमः, स्वस्य आत्मनो वा आगमः स्वागमः तम्, इतः प्राप्तः, तेन जनेन, निजं स्वकीयम्, अवनितद्रव्यं अवनितम् अयाचितं स्वतः सिद्धम्, आत्मद्रव्यम्, आप्यते प्राप्यते, 'वनितं याचिते क्लीबं शोधिते वनितं त्रिषु' इति विश्वलोचनः ॥७४॥

अर्थ- ऋषि समूह जिसे हृदय में धारण करते हैं ऐसे हे प्रभो! जो परपरिणति की भूमिस्वरूप कषायभाव से स्वकीय आत्मा की रक्षा करते हुये उत्तम आगम को प्राप्त हुए हैं उन उपाध्याय के द्वारा स्वतः सिद्ध आत्मद्रव्य प्राप्त किया जाता है ॥७४॥

[७५]

निशापतिर्नालीकं तोषयति नायं गवा नालीकम् ।

निष्पक्षोऽनालीकं कोऽमुं न मनुतेऽनालीकम् ॥

निशापतिः न नालीकं तोषयति अयं तु (उपाध्यायः) निष्पक्षः नालीकं अनालीकं गवा (तोषयति) (ईदृक्कार्ये) कः अनालीकं अमुं न मनुते ?

निशापतिरिति- निशापतिः चन्द्रः, न नालीकं कमलसमूहं तोषयति संतुष्टं करोति, अयं तु (उपाध्यायः) निष्पक्षः पक्षातिक्रान्तः सन् नालीकम् अज्ञं मूर्खम्, अनालीकं विज्ञं, गवा वाण्या, (तोषयति) ईदृक्कार्ये कः अनालीकं अलीकः अप्रियः, अलीक एव आलीकः, न आलीकः अनालीकः तं प्रियं कः न मनुते? सर्वोऽपि मनुते इत्यर्थः। 'नालीकः पिण्डजेऽप्यज्ञे नालीकः शरशल्ययोः। नालीकं पद्मखण्डेऽपि' इति विश्वलोचनः। 'गौः पुमान् वृषभे स्वर्गे खण्डब्रजहिमांशुषु। स्त्री गवि भूमिदिग्नेत्रवाग्बाणसलिले स्त्रियः' इति च विश्वलोचनः ॥७५॥

अर्थ- चन्द्रमा गो-किरणों से नालीक कमल को संतुष्ट नहीं करता परन्तु यह उपाध्याय निष्पक्ष हो नालीक - अज्ञ और अनालीक - विज्ञ को अपनी गो वाणी से संतुष्ट करते हैं। इस प्रकार के कार्य में उन्हें कौन प्रिय नहीं मानता? ॥७५॥

[७६]

वैद्यो रोगविनाशीव ह्ययं कामविदारकः ।

वन्द्योऽतोऽङ्ग! जनानां वः स्वयं कामप्रदायकः ॥

हे अङ्ग! रोगविनाशी वैद्यः इव हि अयं (उपाध्यायपरमेष्ठी) कामविदारकः स्वयं कामप्रदायकः अतः वः जनानां वन्द्यः (अस्ति)।

वैद्य इति- 'अङ्ग' इति सम्बुद्धिवाचकम्, हे भव्यजना! इति यावत्, रोगविनाशी रुग्णहारी, वैद्य इव भिषगिव, हि निश्चयेन, अयम् उपाध्यायपरमेष्ठी, कामविदारकः स्मरविनाशकः, स्वयं कामप्रदायकः इच्छितवस्तुदायकः अस्तीति शेषः । अतः अस्मात्कारणात्, वो युष्माकं जनानां बन्धो वन्दनीयः (अस्ति) 'कामः स्मरेच्छयोः काम्ये' इति विश्वलोचनः ॥७६॥

अर्थ- अङ्ग! हे भव्यजनो! रोग को नष्ट करने वाले वैद्य के समान यह उपाध्याय परमेष्ठी, काम- मदन अथवा क- आत्मा के अ-रोगों के विदीर्ण करने वाले और काम-मनोरथों के देने वाले हैं अतः आप सब के वन्दनीय हैं ॥७६॥

[७७]

तं जयताज्जिनागमः श्रय श्रेयसो न येन विना गमः ।

न हि कलयति मनागगस्त्वां मदो यद् भवेऽनागमः ॥

येन विना श्रेयसः गमः न (सः) जिनागमः जयतात्, तं (जिनागमं) (त्वं) श्रय, यत् त्वां मदः अगः मनाक् न हि कलयति (तदा स्वयं) भवे अनागमः (स्यात्) ।

तमिति - येन विना यमन्तरेण, श्रेयसो मोक्षस्य कल्याणस्य वा, गमः प्राप्तिः, न, भवतीति शेषः । (सः) जिनागमः जिनसिद्धान्तः, जयतात् । तं (जिनागमं) (त्वं) श्रय सेवस्व । यत् यस्मात् कारणात्, त्वां, मदो गर्वः, अगो भुजङ्गः, मनाग् ईषदपि, न हि कलयति न हि प्राप्नोति, (तदा स्वयं) भवे संसारे, अनागमः आगमनम् आगमः न विद्यते आगमो यस्य स अनागमः (स्यात्) निर्गर्वतया जिनागमाभ्यासेन संसारे पुनरागमनं न भवतीत्यर्थः । 'अगः स्यान्न गवद्वृक्षे शैले भानुभुजङ्गयोः' इति विश्वलोचनः ॥७७॥

अर्थ- जिसके बिना श्रेय-मोक्ष अथवा कल्याण का मार्ग नहीं मिलता वह जिनागम जयवंत रहे। तू उस जिनागम का आश्रय ले जिससे तुझे अल्प भी अहंकार प्राप्त न हो और यह सब होने पर तेरा संसार में आगमन नहीं हो ॥७७॥

[७८]

अन्येनालं मधुना वनं विविधतरुलतान्वितं मधुना ।

मुदमेति यथा मधुना ममात्मानेन चायममधुना ॥

विविधतरुलतान्वितं वनं यथा मधुना मुदं एति (तथा) मम अयं आत्मा अधुना मधुना (अनेन) (जिनागमेन) मुदं एति च (अतः) अन्येन (विषयवासनाप्रवर्धककामादिशास्त्रेण) मधुना अलं (अस्तु) ।

अन्येनेति- विविधतरुलतान्वितं नानावृक्षवल्लीसहितं, वनं काननं, यथा मधुना

वसन्तर्तुना, मुदं हर्षम्, एति प्राप्नोति, (तथा) मम अयम् आत्मा, अधुना इदानीम्, मधुना (अनेन जिनागमेन) जिनागमरूपक्षीरेण, मुदम् एति च (अतः) अन्येन (विषयवासनाप्रवर्धककामादिशास्त्रेण) मधुना मद्येन, अलं पर्याप्तं, अस्तु। कदागमोपासना व्यर्थेत्यर्थः। 'मधुः पुष्परसे क्षौद्रे मद्यक्षीराप्यु न द्वयोः। मधुर्मधूके सुरभौ चैत्रे दैत्यान्तरे पुमान्' इति विश्वलोचनः ॥७८॥

अर्थ- अनेक प्रकार के वृक्ष और लताओं से युक्त वन जिस प्रकार मधु—वसन्त से हर्ष को प्राप्त होता है उसी प्रकार मेरा यह आत्मा इस समय जिनागम रूप मधु—दूध से हर्ष को प्राप्त हो रहा है। इसलिये अन्य विषयवासना को बढ़ाने वाले कामादिशास्त्र रूप मधु-मद्य की मुझे आवश्यकता नहीं है ॥७८॥

[७९]

श्रयति श्रमणः समयं सममनसा समयति स समं समयम् ।
समेति निजवासमयं विस्मयोऽस्त्वह नो चिरसमयम् ॥

यः श्रमणः सममनसा समं समयं श्रयति स समयं समयति, निजवासं समेति, स इह (भवे) चिरसमयं नो अस्तु (अस्मिन् कार्ये) अयं विस्मयोऽपि नो अस्तु ।

श्रयतीति- यः श्रमणः साधुः सममनसा एकान्तदुराग्रहरहितचेतसा, समं सह, समयं सिद्धान्तं जिनागममिति यावत्, श्रयति सेवते, स समयं शुद्धात्मानं सम्यग्ज्ञानं वा समयति सम्यक्प्रकारेण प्राप्नोति। निजवासं स्वस्मिन् निवासं स्वरूपरमणमिति भावः। समेति प्राप्नोति। स इह (भवे) चिरसमयं चिरकालं (यावत्) नो अस्तु नो भवतु शीघ्रं परीतसंसारपारावारो भवतु। (अस्मिन् कार्ये) अयं विस्मयोऽपि आश्चर्यमपि नो अस्तु न स्यात्। 'समयः पुंसि सिद्धान्तशय्याचारसंविदि' इति विश्वलोचनः। 'साकं सत्रा समं सह' इत्यमरः ॥७९॥

अर्थ- जो मुनि मध्यस्थ—दुराग्रहरहित मन के साथ समय—आगम का आश्रय लेता है वह समय—आत्मा को प्राप्त होता है और वह इस संसार में चिरसमय—दीर्घकाल तक नहीं रहे, यह आश्चर्य नहीं है ॥७९॥

[८०]

मुक्तास्ते प्रभावतः संभवन्ति जिना जनाश्च भावतः ।
रागादेर्विभावतस्त्वयि रतोऽकलये विभावतः ॥

(हे जिनागम!) ते प्रभावतः जनाः जिनाः संभवन्ति। भावतः मुक्ताः संभवन्ति, रागादेः विभावतः च (मुक्ताः संभवन्ति) अतः अकलये विभौ त्वयि (अहं) रतः (भवामि)।

मुक्ता इति- (हे जिनागम!) ते प्रभावतः माहात्म्यात्, जनाः जिनाः तीर्थकराः संभवन्ति सम्यक् प्रकारेण जायन्ते । भावतः भवः संसारः भव एव भावः तस्मात् संसारात् मुक्ताः संभवन्ति । रागादेः विभावतश्च रागद्वेषादिरूपविभावपरिणतेश्च (मुक्ताः संभवन्ति) अतः अस्मात् कारणात्, अकलये अकस्य दुःखस्य पापस्य वा लयो नाशो यस्मिन् स तस्मिन्, विभौ लोकोत्तरसामर्थ्यसहिते, त्वयि (अहं) रतः अनुरक्तः लीनो वा भवामि । 'अकं दुःखाघयोः' इति विश्वलोचनः ॥८०॥

अर्थ- हे जिनागम ! तेरे प्रभाव से सामान्य मनुष्य जिन हो जाते हैं, भव से मुक्त हो जाते हैं और रागादिक विभाव से छूट जाते हैं; अतः अकलय - दुःख का विनाश करने वाले तुझमें रत लीन होता हूँ ॥८०॥

[८१]

दुःखमनुभवन्नवसु ह्यनधिगतागमोऽयं निधिषु नवसु ।

प्राप्तवान् सुखं नवसुभानतो विमलज्ञानवसु ॥८१॥

अयं अनधिगतागमः असुमान् हि नवसु निधिषु अवसु दुःखं अनुभवन् विमलज्ञानवसु सुखं अतः नो प्राप्तवान् ।

दुःखमिति- अयम् एषः, अनधिगतागमः अनधिगतः अप्राप्तः आगमो येन सः आगमज्ञानरहितः, असुमान् प्राणी, हि निश्चयेन, नवसु निधिषु कालमहाकालादिषु नवस्वपि निधिषु (प्राप्तेषु) अवसु दुःखं न विद्यते वसु धनं यत्र तत् दुःखं दारिद्र्यकष्टम्, अनुभवन्, 'वसुतोये धने मणौ' इति विश्वः। नवसु निधिष्वपि असंतुष्टः सन् विमलज्ञानवसु विमलज्ञानमेव वसु धनं यत्र तत्, सुखम्, अतः कारणात् नो प्राप्तवान् नालभत ॥८१॥

अर्थ- जिनागम को नहीं जानने वाला प्राणी निश्चय से नौ निधियों के रहने पर भी अवसुदुःख-निर्धनता के दुःख का अनुभव करता हुआ निर्मल ज्ञानरूपी धन के सुख को इसी कारण प्राप्त नहीं कर सका है ॥८१॥

[८२]

जिनागमं सदा श्रित्वा सादरं समतां ब्रजेत् ।

यन्ना समं विदा मुक्त्वा वादरं स नतां भजेत् ॥

ना जिनागमं श्रित्वा सादरं समतां ब्रजेत् (चेत्) यत् स दरं मुक्त्वा विदा समं नतां भजेत् (वा निश्चये) ।

जिनागममिति- ना नरः जिनागमं सादरं सविनयं यथा स्यात्तथा जिनसिद्धान्तं

समधीत्य, सदा सर्वदा, समतां मोहक्षोभरहिततां पक्षातीततां वा, ब्रजेत् प्राप्नुयात् (चेत्) यत् कारणात् स दरं भयं मुक्त्वा निःशङ्को भूत्वेत्यर्थः, विदा ज्ञानेन, समं सार्धं, नतां नस्य भावो नता तां जिनत्वं तीर्थकरत्वमिति यावत्, भजेत् प्राप्नुयात्, (वा निश्चये) 'नकारो जिनपूज्ययोः' इति विश्वलोचनः। प्रवचनभक्तिप्रभावेण जनस्तीर्थकरो भवतीति भावः ॥८२॥

अर्थ- यदि मनुष्य, आदर से जिनागम का आश्रय ले साम्यभाव को प्राप्त हो तो वह दर-भय छोड़कर ज्ञान के साथ नता - पूज्यता अथवा जिनेन्द्र-तीर्थङ्कर-पद को प्राप्त हो सकता है, यह निश्चय है ॥८२॥

[८३]

निर्दोषो भुवि सुरभिः सज्जनकण्ठमेति गुणेन सुरभिः ।

तथेह समता सुरभिर्न च सुरभीति नाम्ना सुरभिः ॥

यथा इह भुवि निर्दोषः सुरभिः, गुणेन सुरभिः सुरभीति नाम्ना सुरभिः सज्जनकण्ठं एति, तथा च समता (सज्जनकण्ठं एति) न सुरभिः (सज्जनकण्ठं एति)

निर्दोषइति- यथा इह भुवि, निर्दोषः मलरहितः सुरभिः कनकं सुवर्णं सज्जनकण्ठं समेति। सुरभिः चम्पकपुष्पं, गुणेन सूत्रेण, सज्जनकण्ठे शोभते इति। सुरभीति नाम्ना सुरभिः मातृभेदः गौः 'गोमाता' इति सज्जनकण्ठम् एति। तथा च समता माध्यस्थ्यवृत्तिः सज्जनकण्ठमेति सत्सु प्रशंसां प्राप्नोति इति यावत्। किन्तु न सुरभिः मद्यं मदिरां सज्जनकण्ठं समेति तामसराजसप्रवृत्तिः सज्जनैः न समाद्रियते चेति भावः। 'सुरभिश्चम्पके चैत्रे वसन्ते गन्धके कवौ। स्वर्णे जातीफले चाब्जे त्रिषु मद्यसुगन्धयोः' इति विश्वलोचनः ॥८३॥

अर्थ- जिस प्रकार इस पृथिवी पर निर्दोष सुरभि-स्वर्ण अपने गुण से हार बनकर सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होता है, सुरभि- चम्पा गुण- सूत्र में गुम्फित हो सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होता है और 'सुरभि' इस नाम से प्रसिद्ध सुरभि-कामधेनु मतोरथों को पूर्ण करने वाले गुणों से सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होती है उसी प्रकार समता-साम्य परिणति सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होती है, सुरभि-मदिरा नहीं ॥८३॥

[८४]

असमयवर्षास्तमितं धान्यं वसुधातलममनस्तमितम् ।

फलति न कमपि स्तमितं ह्यकालिकीनुतिरकास्त! मितम् ॥

हे अकास्त! अमनः! असमयवर्षास्तमितं तं वसुधातलम् इतं धान्यं यथा न फलति (तथा) हि अकालिकी नुतिः स्तमितं मितं कं अपि न (फलति)।

हे अकास्त ! अकं पापं यस्मिन् अस्तं नष्टं इति स अकास्तः तत्सम्बुद्धौ हे अकास्त ! हे पापरहित ! हे अमनः ! हे मनोरहितसंज्ञयसंज्ञिव्यपदेशरहितेत्यर्थः । असमयवर्षास्तमितं अकालवृष्ट्यार्द्राभूतम् तं प्रसिद्धं, वसुधातलं पृथिवीपृष्ठम् इतं प्राप्तं, धान्यं सस्यं यथा न फलति (तथा) हि निश्चयेन, अकालिकी अकाले कृता, नुतिः स्तुतिः, स्तमितं चञ्चलतारहितं स्थिरमिति यावत् । मितं परिमितम् अल्पमपीत्यर्थः कं सुखं न (फलति) 'स्तमितं वीतचाञ्चल्येऽप्यार्द्राभूतेऽपि वाच्यवत्' इति विश्वलोचनः ॥८४॥

अर्थ- हे अकास्त ! हे निष्पाप ! हे अमनः ! मनो व्यापार से रहित ! जिस प्रकार असमय की वर्षा से भीगे पृथिवीतल को प्राप्त हुआ धान्य फलता नहीं है; उसी प्रकार निश्चय से अकाल — असमय में की हुई स्तुति किञ्चित् भी स्थायी सुख को नहीं फलती है ॥८४॥

[८५]

अशने सदंशनेन रस इनेन जयो वै सदंशनेन ।

प्राप्यतेऽदंशनेन तथा कमगेनाऽदंशनेन ॥

हे अदंश ! न ! इन ! यथा अशने सदंशनेन रसः प्राप्यते सदंशनेन इनेन वै जयः (प्राप्यते) तथा अदंशनेन अगेन कं (प्राप्यते) ।

अशन इति- हे अदंश ! न विद्यते दंशो दोषो यस्य सः अदंशस्तत्सम्बुद्धौ हे निर्दोष ! 'दंशः सन्नाह्वनमक्षिकयोर्भुजगक्षते । दोषेऽपि खण्डेन दंशो दंशो मर्मीणि च स्मृतः' इति विश्वलोचनः । हे न ! हे पूज्य ! हे इन ! हे स्वामिन् ! 'भर्तेन्द्र इन ईशिता' इति धनञ्जयः । यथा अशने भोजने, सदंशनेन सदन्तेन जनेन 'दंशनः शिशिरे पुंसि दंशनं कवचे रदे' इति विश्वः, रसः स्वादः (प्राप्यते) अथवा अशने यथा दंशनेन दन्तेन स प्रसिद्धः रसः स्वादः प्राप्यते सदंशनेन कवचसहितेन, इनेन राज्ञा, वै निश्चयेन, जयः (प्राप्यते) तथा अदंशनेन खण्डरहितेन अखण्डेनेत्यर्थः, अगेन अस्य भगवतः गं गीतं तेन भगवत्स्तुत्येत्यर्थः 'गं गीते शास्त्रगातरि' इति विश्वलोचनः । कं सुखं (प्राप्यते) ॥८५॥

अर्थ- हे अदंश ! हे निर्दोष ! हे पूज्य ! स्वामिन् ! जिस प्रकार भोजन में दन्तसहित मनुष्य के द्वारा रस — स्वाद प्राप्त किया जाता है और कवच सहित राजा के द्वारा निश्चयतः विजय प्राप्त की जाती है उसी प्रकार अखण्ड स्तवन से सुख प्राप्त किया जाता है ॥८५॥

[८६]

अवनितल इव पावनप्रसंगाद् भवति शीतलः पावनः ।

अघहननात् स्वपावनप्रदायिन्नुपयोगः पावनः ॥

(१८७)

हे स्वप! अवनप्रदायिन्! इह अवनितले, पावनप्रसंगात् पावनः शीतल इव श्रुतिमननात् उपयोगः पावनः भवति।

अवनितलेति- हे स्वप! स्वम् आत्मानम् आत्मीयान् वा पाति रक्षतीति स्वपः तत्सम्बुद्धौ हे आत्मरक्षक! हे अवनप्रदायिन्! अवनं रक्षणं प्रददातीत्येवं शीलस्तत्सम्बुद्धौ हे रक्षादानशील! अथवा अवनं आनन्दं सुखं प्रददाति इति अवनप्रदायी तत्सम्बुद्धौ हे सुखप्रदायक! 'अवनं रक्षणे मुदि' इति विश्वलोचनः। इह अवनितले भूतले, पावनप्रसंगात् पावनस्य जलस्य प्रसंगस्तस्मात्, 'पावनं तु जले कुच्छे' इति विश्वलोचनः, जलसंसर्गात्, पावनः पवन एव पावनः स्वार्थेऽणप्रत्ययः वायुः, शीतलः शिशिर इव, अघहननान् भाविपापत्यजनान् प्रत्याख्यानमित्यर्थः। उपयोगः पावनः पवित्रः भवति। 'पावनं पावयितरि त्रिषु पूतेऽपि पावनम्' इति विश्वलोचनः ॥८६॥

अर्थ- हे स्वप! हे आत्मरक्षक! हे संरक्षण देने वाले! भगवन्! इस पृथिवीतल पर पावन — जल की संगति से जिस प्रकार पावन—वायु शीतल हो जाती है उसी प्रकार शास्त्र के मनन से उपयोग पावन—पवित्र हो जाता है ॥८६॥

[८७]

सा श्रेयसः कषायात् प्रियाऽलसाशोषायां सकषाया ।

लसतु तामसकषायान्न कतपनममानसकषायाः ॥

हे अमानसकषायाः! सा अलसा प्रिया श्रेयसः कषायात् लसतु, उषायां सा आशा (प्राक्) सकषायां (लसतु) (किन्तु) कतपनं तामसकषायात् न (लसतु)।

सेति- हे अमानसकषायाः! न विद्यन्ते मानसे हृदये कषायाः क्रोधादयो येषां ते तत्सम्बुद्धौ हे निष्कषायहृदयाः! मुनिजनः! सा प्रसिद्धा, अलसा आलस्यवती, प्रिया वल्लभा, श्रेयसः श्रेष्ठात्, कषायात् अङ्गरागात् 'अस्त्री कषायो निर्यासो रसे रक्ते विलेपने। अङ्गरागे सुगन्धे तु त्रिषु स्याल्लोहितेऽपि च' इति विश्वलोचनः। लसतु शोभताम्। उषायां प्रभाते, सा प्रसिद्धा, आशा दिशा प्राचीत्यर्थः, सकषाया सलोहिता रक्तवर्णोपेतिति यावत् (लसतु) किन्तु कतपनं के सूर्ये अग्निसमीपे च तपनं तपश्चरणं 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु' इति विश्वलोचनः। पञ्चाग्नि तपश्चरणमातापनयोगश्चेत्यर्थः, तामसकषायात् तमोगुणप्रधानकषायात् न (लसतु) रागानुरञ्जितः कायक्लेशस्तपो न शोभत इति भावः ॥८७॥

अर्थ- हे अमानसकषायाः! जिनके मन में कषाय नहीं है ऐसे हे मुनीजनो! वह अलसायी स्त्री श्रेष्ठ कषाय—अङ्गराग से सुशोभित हो, और प्रभातकाल में वह प्रसिद्ध पूर्व दिशा सकषाया—लालिमा से सहित होती हुई सुशोभित हो, परन्तु तमोगुण प्रधान कषायभाव से कतपन—पञ्चाग्नि तप सुशोभित न हो (वह कुतप — बालतप है) ॥८७॥

[८८]

दुर्वेदनात्मनो यातु लयतां त्वयि सा स्वतः ।

संवेदनाऽमुनो जा तु जायतां त्वय्यसावतः ॥

उ ! अयि!(मित्र) त्वयि असौ स्वतः जा संवेदना अमुना (प्रतिक्रमणेन) जायतां (अतः) (अमुना) आत्मनः सा दुर्वेदना तु लयतां यातुः(तु पादपूर्तौ) ।

दुर्वेदनेति- उ! अयि! सम्बुद्धिवाचकौ, अयि (मित्र) इत्यर्थः। त्वयि भवति, असौ एषा, स्वतः स्वस्मात्, जा समुद्भूता 'जः स्याज्जीवेति जोद्भूतौ' इति विश्वलोचनः। संवेदना स्वानुभूतिः, अमुना (प्रतिक्रमणेन) जायताम् समुत्पद्यताम् प्रतिक्रमणावश्यककरणेन त्वयि स्वानुभूतिः समुत्पद्यतामिति भावः । (अतः) (अमुना) आत्मनः सा गर्हिता, दुर्वेदना दुष्टा वेदना दुर्वेदना दुरनुभूतिः, तु किन्तु, लयतां लयस्य भावो लयता तां नाशं, यातु गच्छतु, तु पादपूर्तौ 'तु हि च स्म ह वै पादपूरणे पूजने स्वति' इत्यमरः ॥८८॥

अर्थ- अयि मित्र! आप में जो यह स्वानुभूति स्वतः समुद्भूत हुई है वह इस प्रतिक्रमण - आवश्यक से उत्पन्न हो और इसी से आत्मा की वह दुःखद वेदना विनाश को प्राप्त हो ॥८८॥

[८९]

भवता निजानुभवतः प्रभोः प्रभावना क्रियतां हि भवतः ।

मनोऽवन् मनोभवतः क्षणविनाशविभावविभवतः ॥

भवतः क्षणविनाशविभावविभवतः मनोभवतः मनः अवन् निजानुभवतः हि भवता प्रभोः प्रभावना क्रियताम् ।

भवतेति- भवतः संसारतः, क्षणविनाशविभावविभवतः क्षणे विनाशो यस्य स क्षणविनाशः, विभावस्य विकारस्य विभवो विभावविभवः, क्षणविनाशो विभावविभवो विकारसामर्थ्यं यस्य तथाभूतस्तस्मात्, मनोभवतः कामात् तसिलन्तप्रयोगः, मनः चित्तम्, अवन् रक्षन् दूरीकुर्वन्नित्यर्थः, निजानुभवतः स्वानुभूतेः हि निश्चयेन, भवता त्वया, प्रभोः जिनेन्द्रस्य, प्रभावना महत्वप्रसारः क्रियताम् विधीयताम् ॥८९॥

अर्थ- संसार से, क्षणभङ्गरविभाव रूप विभव से तथा मनोभव-काम से मन की रक्षा करते हुए आपके द्वारा निजानुभव से प्रभु-जिनेन्द्र की प्रभावना की जावे ॥८९॥

[९०]

सागारकोऽप्यंसारं क्षुत्तृङ्खार्तेषु वितरति सारम् ।

मत्वा किल संसारं ह्यवतरति तत् कार्ये साऽरम् ॥

(यदा) सागारकः अपि किल संसारं (सारं च) असारं मत्वा क्षुत्तृङ्गरुजार्तेषु सारं वितरति (तदा) तत्कार्ये (प्रभोः प्रभावना) सा अरं हि अवतरति ॥

सागारकोऽपीति- (यदा) सागारकोऽपि गृहस्थोऽपि किल, संसारं जगत्, असारं सारहीनं, मत्वा क्षुत्तृङ्गरुजार्तेषु क्षुत्पिपासारोगपीडितेषु, सारं वित्तं धनमिति यावत्, 'सारं न्याय्ये जले वित्ते' इति विश्वलोचनः। नितरति ददाति (तदा) तत्कार्ये सा (प्रभोः प्रभावना) धर्मप्रभावना, हि निश्चयेन, अवतरति समुत्पद्यते। क्षुधादिपीडितेष्वन्नादि वितरणेन गृहस्थजनकृता धर्मप्रभावना भवतीति भावः ॥१०॥

अर्थ- जो गृहस्थ भी संसार को असार मान कर भूख, प्यास तथा रोग से पीड़ित मनुष्यों पर धन वितरण करता है तब उस कार्य में वह प्रभावना — शीघ्र अवतीर्ण होती है। दीन दुःखी जीवों पर दयादृष्टि से दान देना भी जिन धर्म की प्रभावना होती है ॥१०॥

[११]

शिष्याः स्युस्तके तव शशिशितवृषयशः प्रसारकेतवः ।

दृग्विद्चरितकेतवः कुमतवनाय धूमकेतवः ॥

हे! (जिन!) तव तके शिष्याः शशिशितवृषयशः प्रसारकेतवः कुमतवनाय धूमकेतवः दृग्विद्चरितकेतवः च स्युः ।

शिष्या इति- हे!(जिन!) तव भवतः, तके ते एव तके अकञ्चित्ययान्तप्रयोगः, शिष्याः, शशिशितवृषयशःप्रसारकेतवः शशिशितं चन्द्रवच्छुक्लं यत् वृषयशः धर्मकीर्तिः तस्य प्रसारे प्रसारणे केतवः ध्वजाः, कुमतवनाय मिथ्यामतकाननाय, धूमकेतवः अग्नयः, दृग्विद्चरितकेतवः दृक् च विच्च चरितं चेति दृग्विच्चरितानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि तान्येव केतवश्चिह्नानि लक्ष्माणि वा येषां तथाभूताः च स्युः भवेयुः। हे भगवन्! त्वदीयाः शिष्याः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयुक्ता भूत्वा सर्वथैकान्तमतनिराकरणं कृत्वा त्वदीयोज्ज्वलधर्मयशः - प्रसारका भवन्त्विति भावः। 'केतुर्ग्रहान्तरोत्पातद्युति-लक्ष्मध्वजादिषु' इति विश्वलोचनः। 'अग्न्युत्पातौ धूमकेतू' इत्यमरः। 'शितः कृष्णे सिते भूर्जे' इति विश्वलोचनः ॥११॥

अर्थ- हे जिन! आपके वे शिष्य, चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश का प्रसार करने के लिये केतु-पताका, मिथ्यामतरूप वन के लिये धूमकेतु-अग्नि और दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप केतु - चिन्हों से सहित हों ॥११॥

[१२]

भायाच्च तमां केन सरो रमाभालं कुङ्कुमाङ्केन ।
नानया समां केन श्रमणता गतेन मां के न ! ।।

हे न ! रमाभालं कुङ्कुमाङ्केन, सरः केन, के केन समां मां गतेन श्रमणता, ना अनया (धर्मप्रभावनाया) च भायात् तमाम् ।

भायाच्चेति: हे न! हे जिन! रमाभालं ललनाललाटं, कुङ्कुमाङ्केन केशरचिह्नेन, 'अङ्को रेखायां चिह्नलक्ष्मणोः' इति विश्वः, सरः कासारः, केन जलेन, के आत्मनि केन आत्मना, समां समतां मां लक्ष्मीं गतेन समतालक्ष्मीपतिना इत्यर्थः, श्रमणता साधुता, तमां भायात् शोभताम् । ना पुमान्, अनया (धर्मप्रभावनाया) च भायात् तमां अतिशयेन शोभताम् । 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्निनयमात्मद्योतबर्हिषु । कं सुखे वारि शीर्षे च' । 'स्त्रियां स्यान्मा रमायां च' इति च विश्वलोचनः ॥१२॥

अर्थ- हे न! हे जिन! ललना का ललाट कुङ्कुम के चिह्न से, सरोवर जल से, श्रमणता - साधुता आत्मा में साम्यभाव रूपी लक्ष्मी को प्राप्त आत्मा से और मनुष्य इस धर्मप्रभावना से अत्यन्त सुशोभित हो ॥१२॥

[१३]

गङ्गा गौश्च वामृतं ददाति गङ्ग्यालमपि गवाऽमृतम् ।
अस्या मानवामृतं मिलति वरं चिदनुभवामृतम् ।।

हे मानव! गङ्गा गौश्च अमृतं ददाति (ततः) गङ्ग्या गवा अपि अलं (किन्तु) अस्याः (धर्मप्रभावनायाः) अमृतं अमृतं वरं चिदनुभवामृतं च मिलति ।

गङ्गेति- हे मानव! गङ्गा भागीरथी, गौः धेनुश्च, अमृतं जलं दुग्धं च ददाति, गङ्गा जलं गौर्दुग्धं चेत्यर्थः । (ततः) गङ्ग्या गवा अपि अलं पर्याप्तं, ताभ्यां प्रयोजनं नास्तीति भावः । (किन्तु) अस्याः (धर्मप्रभावनायाः) अमृतं न मृतं अमृतं अविनश्वरं अथवा अयाचितं याचनाया रहितं, अमृतं मोक्षः, वरं श्रेष्ठं, चिदनुभवामृतं च चिदनुभव एवामृतं आत्मानुभूतिपीयूषं, मिलति प्राप्यते 'अमृतं मोक्षपीयूषसलिले हृद्यवस्तुनि । अयाचिते यज्ञशेषे घृते दुग्धेऽतिसुन्दरे' इति विश्वलोचनः ॥१३॥

अर्थ- हे मानव! गङ्गा और गौ अमृत देती हैं - गङ्गा जल देती है और गौ दूध देती है, परन्तु गङ्गा और गौ वाज आवें, उनकी आवश्यकता नहीं है। इस धर्मप्रभावना से अमृत - अविनश्वर अमृत - मोक्ष और आत्मानुभवरूप अमृत प्राप्त होता है ॥१३॥

[१४]

संसारागाधपाठीनाकरमज्जितदेहिनाम् ।

दासानगारपालानां सारराजिः सदेह ना ॥

हे अनगारपालानां दास ! (इयं धर्मप्रभावना) संसारागाधपाठीनाकरमज्जितदेहिनां सदा इह सारराजिः ना (अस्ति)।

संसारेति- हे अनगारपालानां दास ! मुनिरक्षकाणां दास ! स्वं प्रति सम्बोधनम् । (इयं धर्मप्रभावना) संसारागाधपाठीनाकरमज्जितदेहिनाम् संसार एवागाधो गभीरः पाठीनाकरो मकराकरः समुद्र इति यावत् तस्मिन् मज्जिता ब्रुडिता ये देहिनः प्राणिनस्तेषाम् । सदा सर्वदा, इह लोके, सारराजिः श्रेष्ठरेखाङ्किता ना नौका (अस्ति) 'राजिः स्त्री पङ्क्तिरेखयोः' इति, 'नास्तु नेतरि नावि स्त्री' इति च विश्वलोचनः ॥१४॥

अर्थ- हे मुनिरक्षकों के दास ! यह धर्मप्रभावना, संसाररूपी गहरे समुद्र में निमग्न प्राणियों के लिये सदा इस संसार में श्रेष्ठ रेखाओं से अंकित नौका है ॥१४॥

[१५]

सद्धर्मिणि धृतसम ! यः वात्सल्यं वत्स इव गौः कृतसमय !।

करोत्याप्यते समयः श्रियस्तेन सदयेन समयः ॥

हे धृतसम ! कृतसमय ! यः वत्से गौः इव सद्धर्मिणि वात्सल्यं करोति, तेन सदयेन समयः आप्यते, श्रियः समयः च (आप्यते)।

सद्धर्मिणीति- हे धृतसम ! धृता रक्षिताः समाः सधर्माणो येन तत्सम्बुद्धौ, हे कृतसमय ! कृतः समयः सिद्धान्त आचारो वा येन तत्सम्बुद्धौ, यो जनः, वत्से गौः इव सद्धर्मिणि समीचीन-धर्मसहिते सधर्मिणि जने, वात्सल्यं स्नेहं करोति, तेन सदयेन दयासहितेन, समयः शुद्धात्मा, आप्यते प्राप्यते, श्रियः लक्ष्म्याः अनन्तचतुष्टयरूपायाः, समयः समयनं समयः सङ्गमश्च (आप्यते) मोक्षलक्ष्मीस्तेन इति भावः ॥

अर्थ- हे धृतसम ! सहधर्मा जनो की रक्षा करने वाले ! हे कृतसमय - आगम अथवा आचार को करने वाले ! बछड़े पर गाय के समान जो समीचीन धर्म के धारक जनो पर वात्सल्य - स्नेह करता है उस दयालु मानव के द्वारा समय-शुद्धात्मा और मोक्ष लक्ष्मी का समय - समागम प्राप्त किया जाता है ॥१५॥

[१६]

अस्मिन् धृतभाव सति प्रभोऽस्तु हिंसात्मकवृत्तेर्वसतिः ।

लसति विहायसि वसति प्रभाकरे किं वसति वसतिः ॥

हे धृतभाव! प्रभो! अस्मिन् (वात्सल्ये) सति हिंसात्मकवृत्तेः किं वसतिः अस्तु? विहायसि वसति लसति प्रभाकरे किं वसतिः? (नेत्यर्थः)।

अस्मिन्निति- हे धृतभाव! धृतो भावः स्वभावो येन तत्सम्बुद्धौ 'भावः स्वभावचेष्टाभिप्रायसत्त्वात्मजन्मनि' इति विश्वलोचनः । प्रभो! भगवन्! अस्मिन् (वात्सल्ये) सति विद्यमाने, हिंसात्मकवृत्ते क्रूरपरिणतेः, किं वसतिः स्थितिः अस्तु? अपि तु न। लसति शोभमाने, विहायसि गगने, प्रभाकरे सूर्ये कृतनिवासे सति, किं वसतिः निशा, वसति? निवासं करोति? अपि तु न । 'वसतिः स्यान्निशा वेश्मावस्थानेष्वर्हदाश्रमे' इति विश्वलोचनः। अवस्थानं स्थितिरित्यर्थः ॥१९६॥

अर्थ- हे धृतभाव! हे स्वभाव के धारक प्रभो! इस वात्सल्यभाव के रहते हुये हिंसात्मक-क्रूरवृत्ति की क्या स्थिति हो? अर्थात् नहीं है। आकाश में देदीप्यमान सूर्य के रहते क्या रात्रि रह सकती है? अर्थात् नहीं ॥१९६॥

[१७]

अनलयोगात् कलङ्कस्तथात्मनोऽस्माल्लयमेति कलङ्कः।

सकलं गतः कलं कः कलयति कलमेशोऽकलङ्कः।।

(यथा) अनलयोगात् कलङ्कः लयं (एति) तथा आत्मनः कलङ्कः अस्मात् (वात्सल्यात्) लयं एति (इति) सकलं गतः कलं (गतः च) कलमेशः अकलङ्कः कः कलयति ।

अनलेति- (यथा) अनलयोगात् अग्निसंयोगात्, कलङ्कः कालायसदोषः 'कलङ्कोऽङ्के कालायसमले दोषापवादयोः' इति विश्वलोचनः, लयं विनाशं (एति) तथा आत्मनः कलङ्को दोषः, अस्मात् वात्सल्यात्, लयं विनाशं एति (इति) इत्थं सकलं कलाभिः सहितं, कलं शरीरं गतः प्राप्तः परमौदारिकशरीरयुक्त इत्यर्थः, कलमेशः कलस्य शरीरस्य मा लक्ष्मीः शोभा वा तस्या ईशः स्वामी, अकलङ्कः रागादिदोषरहितः, अथवा सकलं पदार्थसमूहं गतः विश्वंगतः दिव्यज्ञानेन सकलं जानाति इति सकलं गतः कलं वीर्यं अनन्तवीर्यं गतः प्राप्तः अमितबलशालीत्यर्थः। यः सर्वं जानाति स नियमरूपेण अनन्तबलं धारयति, वीर्यान्तरायकर्मभावादिति भावः। को ब्रह्मा अर्हत्परमेष्ठीत्यर्थः, कलयति जानाति निरूपयति च ॥१९७॥

अर्थ- जिस प्रकार अग्नि के संयोग से कलंक नाश को प्राप्त होता है उसी प्रकार वात्सल्यभाव से आत्मा का कलंक-द्वेष नाश को प्राप्त होता है ऐसा सकल - कलाओं से सहित कल - परमौदारिक शरीर को प्राप्त, लक्ष्मीपति, कलंकरहित जिनेन्द्र कहते हैं ॥१९७॥

[९८]

भवति स्म भो! भावतो भवति भवभवकृतशुभतो भावतः ।

निन्दं विभो! विभावतो वियुतो भवोभवो भावतः ॥

भो! विभो! भावतः भावतः भवति नु इदं (वात्सल्यं) भवभवकृतशुभतः भवति स्म अतः भावतः विभावतः वियुतः अभवः भवः (अस्ति) ।

भवति स्मेति- भो! विभो! हे भगवन्! भावतः सहजरूपेणैव निसर्गतः प्रयासेन विना, भावतः जन्मतः, भवति भगवति, इदं (वात्सल्यं) भवभवकृतशुभतः जन्मजन्मविहितपुण्ययोगात् भवति स्म अभूत्, 'स्म' - योगाद्भूतकालबोधः। अतः अस्मात् भावतः संसारतः, विभावतः रागादिकवैभाविकपरिणतेः, वियुतः विमुक्तः रहितः, अभवः जन्मरहितः, भवः श्रेयः कल्याणरूप इति यावत् अस्तीति शेषः। 'भवः श्रीकण्ठसंसारश्रेयःसत्ताप्तिजन्मसु' इति विश्वलोचनः ॥९८॥

अर्थ- भो विभो! हे भगवन्! सहज रूप से, जन्म से ही आप में यह वात्सल्य अनेक भवों में किये पुण्य योग से प्रकट हुआ था। अतः संसार एवं विभावपरिणति से रहित अभव-जन्मातीत भव-सिद्धपर्याय प्राप्त होती है ॥९८॥

[९९]

भ्रुनु रविरिव पयोऽङ्ग तं पयोजचयं प्रति पयः पयोगतम् ।

भ्रूतमपापयोग तन्मनोस्त्वकं मे कृपया गतम् ॥

उ ! अङ्ग! अपापयोग! तं पयोजचयं प्रति रविः पयोगतं पयः प्रति पयः इव अकं गतं भूतं (प्रति) मे तत् मनः कृपया (सह) अस्तु ।

ननु रविरिवेति- उ! अङ्ग! इति सम्बुद्धिवाचकौ, अपापयोग! हे अशुभयोगरहित! तं प्रसिद्धं, पयोजचयं प्रति कमलसमूहं प्रति, रविः सूर्यः इव, पयोगतं दुग्धगतं, पयः जलं प्रति, पय इव दुग्धमिव 'दुग्धे नीरे वटादीनां क्षीरेऽपि क्षीरपत्ययः' इति विश्वः। अकं दुःखं प्राप्तं भूतं प्राणिनं (प्रति) मे मम तद् वात्सल्यभावभावितं मनः, कृपया करुणया (सह) ननु निश्चयेन अस्तु ॥९९॥

अर्थ- हे अशुभयोग से रहित! प्रसिद्ध कमलसमूह के प्रति सूर्य के समान तथा दूध में मिले पानी के प्रति दूध के समान दुःखी प्राणी के प्रति मेरा वह मन करुणा से युक्त हो ॥९९॥

[१००]

मनोहरं मदोन्मत्तं मनो हरं हरिं नय ।

एनोहरं न्वदो वित्तं रं नो ह्यरं ह्यदिं श्रय ॥

उ ! (त्वं) मदोन्मत्तं मनः मनोहरं हरिं हरं एनोहरं (प्रथमं) नय नु अदः (वात्सल्यं) वित्तं अरं श्रय नो हिरं अरिं (श्रय) हि (पादपूर्ती) ।

मनोहरमिति- उ सम्बुद्धौ, (त्वं) हे आत्मन्! इत्यर्थः मदोन्मत्तं मनश्चित्तं मनोहरं चेतोहारिणं, हरिं गजारिं शार्दूलं हरं हरनामधेयं, एनोहरं पापापहारकं सिंहपक्षे मृगापहारकं जिनं (प्रथमं) सर्वतः प्रागित्यर्थः, नय प्रापय, नु वित्तकें अदः एतत् (वात्सल्यं) वित्तं धनं, अरं शीघ्रं, श्रय, ब्रज प्राप्नुहि, हि निश्चयेन रं कामानलं, अरिं शत्रुम्, नां श्रय नो सेवस्व, हि पादपूर्ती ॥१००॥

अर्थ- हे आत्मन्! तू यह वात्सल्यभाव सब से पहले मदोन्मत्त मन को, मन को हरण करने वाले सिंह को और पाप को हरने वाले हर को प्राप्त कराओ । इस वात्सल्य रूप धन का तू शीघ्र ही आश्रय ले, कामाग्नि रूप शत्रु का आश्रय मत ले ॥१००॥

गुरुस्मरणम्

श्रीज्ञानसागरकृपापरिपाक एव,

यद् 'भावनाशतककाव्य' - मघारिहन्तु ।

अध्यास्य सुश्रयमतोऽस्य सुशस्यकस्य,

विद्यादिसागरतनुर्लघु ना भवामि ॥१०१॥

(अयम्) श्रीज्ञानसागरकृपापरिपाकः एव यत् अघारिहन्तु भावनाशतककाव्यम् (मया रचितम्) अतः सुशस्यकस्य अस्य सुश्रयम् अध्यास्य ना अहम् लघु विद्यासागरतनुः भवामि ।

श्रीति - अयं श्री ज्ञानसागरस्य मदीक्षागुरोः कृपायाः करुणायाः परिपाकः परिणामः फलमिति यावत् । यत् अघारिहन्तु पापशत्रुविनाशकम् भावनाशतककाव्यम् एतन्नामधेयकाव्यं जातं मया रचितमितिभावः । अतोऽस्मात् कारणात् सुशस्यकस्य अतिशयेन शस्यः प्रशंसनीयः क आत्म यस्य तस्य । अस्य ज्ञानसागरगुरोः सुश्रयं सम्यगाश्रयम् अध्यास्य अधिष्ठाय समवलम्ब्येत्यर्थः ना साधारणमनुष्योऽहं लघु शीघ्रं विद्यासागरतनु विद्यासागररूपी भवामि ॥१०१॥

अर्थ - यह श्री ज्ञानसागर महाराज की कृपा का फल है कि मेरे द्वारा पापरूप शत्रुओं को नष्ट करने वाला 'भावनाशतक' नाम का काव्य बन सका । अतः अतिशय प्रशंसनीय आत्मावाले इन गुरु का आश्रय प्राप्त कर मैं एक साधारण मनुष्य शीघ्र ही विद्यासागर हो रहा हूँ ।

मङ्गलकामना

विद्याचारित्रसम्यक्त्वैः संसारपापपुण्यविद् ।

द्यामनिच्छन् यतेर्भाव ऐहि ह्यलमविद्या ॥१॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के द्वारा संसार और इसके कारण-भूत पुण्य-पाप को जानने वाला तथा स्वर्ग की इच्छा न करने वाला यति का जो भाव है वह मुझे प्राप्त हो, अविद्या अज्ञान दूर हो ॥१॥

सात्त्विकवृत्तिरादर्शाऽभूषाऽस्माकं नु चेद्धि सा ।

गुमिष्यामो यथा धाम श्रेयसः श्रेष्ठ ! सर्वगु ! ॥२॥

हे श्रेष्ठ! हे सर्वज्ञ! यदि हम लोगों की आदर्श भूत वह सात्त्विक वृत्ति हो जाये तो हम कल्याण के स्थान—मोक्ष को प्राप्त हो जावें ॥२॥

रतिरागविरक्तोऽसि सद्गुरो ! ज्ञानसागर ! ।

रत्नाकराय दोषेशो दर्शनं देहि शङ्कर ! ॥३॥

हे समीचीनगुरो ज्ञानसागरजी! आप रति तथा राग से विरक्त हो, रत्नाकर—रत्नत्रयरूप सागर की वृद्धिगत्त करने के लिये चन्द्रमा हो तथा शान्ति को उत्पन्न करने वाले हो, मुझे दर्शन दीजिये ॥३॥

चित्ति स्थितेन काव्यं न मया शब्दैः कृतं शुचि ।

तन्तुभिश्च पटो जातो सतेति किं न सम्मतम् ॥४॥

आत्मा में स्थित आपके द्वारा ही यह निर्मल काव्य रचा गया है मेरे द्वारा नहीं। तन्तुओं से पट बनता है यह क्या सत्पुरुषों के द्वारा नहीं माना गया है ॥४॥

भारतः सर्वदेशेषु भातु भेषु शशिप्रभा ।

वनेऽप्यत्र सन्तः सन्ति मृगेन्द्रा विभया इव ॥५॥

भारतवर्ष सब देशों में उस तरह सुशोभित हो जिस तरह नक्षत्रों में चन्द्रमा की प्रभा। जिस प्रकार वन में सिंह निर्भय रहते हैं उसी प्रकार इस देश में सत्पुरुष वन में भी निर्भय रहते हैं ॥५॥

नानास्वापत्तिषु श्रेयोमार्गी मुक्त्वा धृतिं न ना ।

शमी दमी यमीभूत्वाऽयते वृषं ह्यकर्कशः ॥६॥

मोक्षमार्गी मनुष्य विविध-विपत्तियों में भी धैर्य को नहीं छोड़ता है वह शान्त, जितेन्द्रिय तथा मृदुपरिणामी साधु होकर धर्म को प्राप्त होता है ॥६॥

तुले क्षितेर्जनाः सर्वे सुखिनः सन्तु सौगत ।

कं भजन्तु सदैवैते यान्तु कदापि नो ह्यकम् ॥७॥

हे भगवन्! पृथ्वीतल पर सब मनुष्य सुखी हों, ये सदा ही सुख को प्राप्त हों, कभी भी दुःख को प्राप्त न हों यह मेरी भावना है ॥७॥

क्षायोपशमिकज्ञानात् स्वलेनमत्र भावतः ।

विज्ञैरतः समाशोध्य पठितव्यं सुखप्रदम् ॥८॥

क्षायोपशमिक ज्ञान होने से इस ग्रन्थ में अशुद्धियां हुई हैं अतः ज्ञानीजनों को भाव की अपेक्षा संशोधन कर इस सुखदायक ग्रन्थ को पढ़ना चाहिये ॥८॥

ख्याते क्षेत्रे 'महावीरे सर्वैर्जनैः समादृते ।

गंभीरनदकूलस्थे संसार - कूल - दर्शिनि ॥९॥

समुपयोग - योगाभ्रमोक्षे विक्रमवत्सरे ।

वैशाखीममामित्वेतीमामितिमितिं गतम् ॥१०॥

सब लोगों के द्वारा आदृत जो कि गभीरा नदी के तट पर स्थित है और संसार का किनारा दिखलाने वाले महावीरजी अतिशय क्षेत्र में वैशाख वदी अमावास्या विक्रम सम्वत् 2022 को संस्कृत 'भावना शतक' की रचना पूर्णता को प्राप्त हुई ॥९-१०॥

शोभे प्रभो परम पावन पा पदों को,
योगी करें नमनये जिनके मदों को ।
सौभाग्य मान उनको उर में बिठा लूँ,
साफल्यपूर्ण निज-जीवन को बना लूँ ॥१॥

ध्यानाग्नि से मदन को तुमने जलाया,
पीयूष स्वानुभव का निज को पिलाया ।
धारा सुरत्नत्रयहार, अतः कृपालो !
पूजूँ तुम्हें मम गुरो ! मद मेट डालो ॥२॥

अन्धा विमोहतम में भटका फिरा हूँ,
कैसे प्रकाश बिन संवर भाव पाऊँ ।
हे शारदे ! विनय से द्वय हाथ जोड़ूँ,
आलोक दे विषय को विष मान छोड़ूँ ॥३॥

सम्मान में समय का करता कराता,
हूँ 'भावनाशतक' काव्य अहो ! बनाता ।
मेरा प्रयोजन प्रभो ! कुछ और ना है,
जीतूँ विभाव भव को बस भावना है ॥४॥

आदर्श सादृश सुदर्शन शुद्धि प्यारी,
पाके जिसे जिन बने स्व-परोपकारी ।
ऐसा जिनेश मत है मत भूल रे ! तू,
साक्षात् भवाम्बुनिधि के यह भव्य सेतु ॥५॥

होता विनष्ट जब दर्शनमोह स्वामी,
जाती तथा वह अनन्त कषाय नामी ।
पाते इसे जन तभी जिन ! जैन जो हैं,
सद्भारती कह रही जनमीत जो हैं ॥६॥

जो अङ्ग अङ्ग करुणारस से भरा है,
शोभायमान दृग से वह हो रहा है ।
औचित्य है समझ में यत बात आती,
अत्युज्ज्वला शशिकला निशि में सुहाती ॥७॥

हो प्राप्त, स्वर्ग तक पुण्यविधान से भी,
होता न प्राप्त दृग शस्त निदान से भी ।
सत् साधना सहज साध्य सदा दिलाती,
लक्ष्मी अहो मृदुल हाथ तभी मिलती ॥८॥

दुर्जेय मोहरिपु को जिनने दबाया,
शुद्धोपयोग मणिहार गले सजाया ।
वे साधु बोध बिन भी दृग शुद्धि पाते,
जो बाह्य में निरत हैं दुख ही उठाते ॥९॥

आलोक दे सुजन को रवि से जगाती,
है भव्य कंज दल को सहसा खिलाती ।
है पापरूप तम को क्षण में मिटाती,
ऐसी सुदर्शन विशुद्धि किसे न भाती? ॥१०॥

ना पाप को, विनय को शिर मैं नमाता,
हे वीर! क्योंकि मुझको निज सौख्य भाता ।
जो भी गया तपन तापतया-सताया,
क्या चाहता अनल को, तज नीर छाया? ॥११॥

सेना विहीन नृप ज्यों जय को न पाता,
त्यो हीन जो विनय से शिव को न पाता ।
सत् साधना यदि करे दुख भी टलेगा,
संसार में सहज से सुख भी मिलेगा ॥१२॥

निर्भिक हो विनय आयुध को सुधारा,
हे वीर! मान रिपु को पुनि शीघ्र मारा ।
पाया स्वकीय निधि को जिसने यदा है,
क्या माँगता वह कभी जड़ संपदा है ॥१३॥

वे व्यर्थ का नहिं घमण्ड कभी दिखाते,
सन्मार्ग को विनय से विनयी दिखाते ।
पापी कुधी तक तभी भवतीर पाते,
विद्वान भी हृदय में जिनको बिठाते ॥१४॥

संसार में विनय के बिन तू चलेगा,
आनन्द भो अमित औ मित क्यों मिलेगा ।
योगी सुधी तक सदा इसका सहारा,
लेते अतः नमन हो इसको हमारा ॥१५॥

विद्वेष जो विनय से करते कराते,
निभ्रान्त वे नहीं भवोदधि तैर पाते ।
जाना उन्हें भव-भवान्तर क्यों न होगा,
ना मोक्ष का विभव संभव भव्य होगा ॥१६॥

कामाग्नि से जल रहा त्रयलोक सारा,
देखे जहाँ दुख भरा कुछ ना सहारा ।
ऐसे जिनेश कहते, जग के विधाता,
जो काम मान मद त्याग बने प्रमाता ॥१७॥

पूजा गया मुनिगणों यति योगियों से,
त्योँ शील, नीलमणि ज्यों जगभोगियों से ।
सत् शील में सतत लीन अतः रहूँ मैं,
लो! मोक्ष को निकट ही फलतः लखूँ मैं ॥१८॥

गङ्गाम्बु को न हिम को शशि को न चाहूँ,
चाहूँ न चन्दन कभी मन में न लाऊँ ।
जो शीलझील मन की गरमी मिटाती,
डूबूँ वहाँ सहज शीतलता सुहाती ॥१९॥

मैं भूत भावि सब साम्प्रत पाप छोडूँ,
चारित्र संग झट चञ्चल चित्त जोडूँ ।
सौभाग्य मान जिसको मुनि साधु त्यागी,
हैं पूजते नमन भी करते विरागी ॥२०॥

जैसे सती जगत में गजचाल हो तो,
शोभे उषा पवन मन्द सुगन्ध हो तो ।
संसार शोभित रहे गतिचार होवें,
सर्वज्ञ सिद्ध सब वे गतिचार खोवें ।

वैसा सुशीलव्रत संयमयोग से रे !
होते सुशोभित सुधी, न हि भोग से रे!!
सिद्धान्तपारग सभी गुरु यों बताते,
सद्ध्यान में सतत जीवन हैं बिताते ॥२१॥

निर्भीक मैं बढ़ रहा शिव ओर स्वामी,
आरूढ़ शीलरथ पै अतिशीघ्रगामी ।
लो ! काल व्याल-विकराल-कुचाल वाला,
है भीति से पड़ गया वह पूर्ण काला ॥२२॥

होता विनिर्विष रसायन से धतूरा,
है अग्नि से पिघलता झट मोम पूरा ।
ज्यों काम देख शिव को दश प्राण खोता,
विज्ञान को निरख त्यों मद नष्ट होता ॥२३॥

संयोग पा मदन मञ्जुल कान्त का वे,
जैसा नितान्त ललनाजन मोद पावे ।
किंवा सुखी कुमुद वारिधि चन्द्र से हो,
वैसा मदीय मन मोदित ज्ञान से हो ॥२४॥

ज्ञानोपयोग बन तू मम मित्र प्यारा,
ज्यों अग्नि का पवन मित्र बना उदारा ।
पीड़ा मिटे, सुख मिले, भव-जेल छूटे,
धारा अपूर्व सुख की न कदापि दूटे ॥२५॥

स्वामी! भले ही शिर पै शशि भा रहा हो,
विज्ञान से विकल शंकर ही रहा हो ।
श्रीकृष्ण पाकर इसे कुछ ही दिनों में,
होंगे सुपूज्य यतियों मुनि सज्जनों में ॥२६॥

ज्ञानोपयोग वर संवर साधता है,
चाञ्चन्यचित्त झट से यह रोकता है ।
भाई निजानुभवियों यति नायकों ने,
ऐसा कहा सुन! जिनेन्द्र उपासकों ने ॥२७॥

जाञ्चल्यमान न कदापि चलायमान,
हो ज्ञानदीप कर में यदि विद्यमान ।
रूपी दिखे, पर पदार्थ सभी अरूपी
है स्पष्टरूप दिखते जिन चित्स्वरूपी ॥२८॥

माला सुमेरूमणि से जिस भाँति भाती,
वाणी गणेश मुख से जिनकी सुहाती ।
संवेग से मनुज भी उस भाँति भाता,
जो है सदैव जिनका गुणगीत गाता ॥२९॥

बोले विहंगम, उषा मन को लुभाती,
शोभावती वह निशा शशि से दिखाती ।
हो पूर्ण शान्तरस से कविता कहाती,
शुद्धात्म में मुनि रहे मुनिता सुहाती ॥३०॥

ज्यों मारता सहज अर्जुन कौरवों को,
संवेग त्यों दुरति कर्म अरातियों को ।
दावा यथा सघन कानन को जलाता,
संसाररूप वन को यह भी मिटाता ॥
ज्यों नाग नाम सुन मेंढक भाग जाता,
त्यों ही कषाय इसके नहीं पास आता ।
ऐसी विशेष महिमा इसकी सुनी रे,
संवेगरूप धन पा बन जा धनी रे ॥३१॥

संवेग है परम सौख्यमयी उषा का,
धाता, परन्तु शशि है दुखदा निशा का ।
निर्दोष है यह सदा शशि दोष धाम,
संवेग श्रेष्ठ शशि से लसता ललाम ॥३२॥

सम्यक्त्वज्योति बल से रवि को हराता,
हे तेज वाडव भवाम्बुधि को सुखाता ।
चाञ्चल्यचित्तमृग को यह व्याघ्र खाता,
संवेग आत्मिक महासुख का विधाता ॥३३॥

संसार से स्वतन से जड़ भोग से वे,
होते निरीह बुध हैं इनको न सेवें ।
पीड़ा अतीव इनसे दिन रैन होती,
शीघ्रातिशीघ्र बुझती निजबोध ज्योति ॥३४॥

कामाग्नि से जल रहा यदि पूर्ण रागी,
धाता नहीं वह न शंकर है न त्यागी ।
तो विश्व का अमित दुःख त्रिशूलधारी,
कैसे मिटाकर, बने स्वपरोपकारी ? ॥३५॥

ले क्षीर स्वाद रसना अति मोद पाती,
पा फूल फूल—सम नासिक फूल जाती ।
संतुष्ट ओ तृषित शीतल नीर से हो,
मेरा सुतृप्त मन तो अघत्याग से हो ॥३६॥

संतुष्ट बाल जननीस्तनपान से हो,
फूले लता ललित लो ! जलस्नान से हो ।
हो तुष्ट आम्रकलिका लख कोकिला वे,
मेरा कषाय तज के मन मोद पावे ॥३७॥

शास्त्रानुसार यदि त्याग नहीं बना है,
लो ! दुःख ही न मिटता उससे अहो है ।
जो अन्न-सार रस से अति ही भरा है,
भाई कभी न मिटती उससे क्षुधा है ॥३८॥

क्या साधु से सुबुध से ऋषि से यमी से,
भाई ! प्रशंसित रही समता सभी से ।
सौभाग्य है मम घड़ी शुभ आ गई है,
सवर्गि में सुसमता सुसमा गई है ॥३९॥

मैं वीतराग बन के मन रोकता हूँ,
तो सत्य तथ्य निजरूप विलोकता हूँ ।
आलोक हो अरुण ओ जब जन्म लेता,
अज्ञात को नयन भी झट देख लेता ॥४०॥

शुद्धात्म में स्थिति सही तप ही वही हो,
तो नश्यमान तन में रुचि भी नहीं हो ।
ऐसा न हो सुख नहीं दुःख ही अतीव,
हैं वीतराग गुरु यों कहते सदीव ॥४१॥

आतापनादि तप से तन को तपाया,
योगी बना, बिन दया निज को न पाया ।
पाया नहीं सुख कभी बहु दुःख पाया,
होता अहिंसक सुखीजिनदेव गाया ॥४२॥

दीखे परीषहजयी वह देखने में,
है लीन यद्यपि महाव्रत पालने में ।
लक्ष्मी उसे तदपि है वरती न स्वामी,
जो मूढ़ है विषय लम्पट भूरिकामी ॥४३॥

लोहा सुवेष्ठित रहे यदि वस्त्र से जो,
होगा नहीं कनक पारस संग से ओ ।
तो संग के सहित जो तप भी करेंगे,
ना आत्म को परम पूत बना सकेंगे ॥४४॥

दावा यथा वनज हो वन को जलाता,
भाई तथा तप सही तन को जलाता ।
सम्यक्त्व पूर्ण तप की महिमा यही है,
देवाधिदेव जिन ने जग को कही है ॥४५॥

आशा निवास जिसमें करती नहीं है,
सम्यक्त्वबोध युत जो तप ही सही है ।
ऐसा सदैव कहती प्रभु सन्त वाणी,
तृष्णा मिटे, झटिति पी अति शीत पानी ॥४६॥

साधू समाधि करना भव मुक्त होना,
पा कीर्ति पूजन गुणी बन दुःख खोना ।
ऐसा जिनेश कहते शिवमार्गनेता,
वेत्ता बने जगत के मन अक्ष जेता ॥४७॥

ये आधि व्याधि समुपाधि सभी अनादि,
से आ रही, पर मिली न निजी समाधि ।
चाहूं समाधि, तर्हि नाक नहीं किसी को,
चाहें सभी चतुर चेतन भी इसी को ॥४८॥

मानी नहीं मुनि समाधि करा सकेगा,
तो वीरदेव निज को बह क्या? लखेगा ।
सम्मान मैं न उसका मुनि हो करूँगा,
शुद्धात्म को नित नितान्त अहो स्मरूँगा ॥४९॥

वैराग्य का प्रथम पाठ अहो पढ़ाता,
पश्चात् प्रभो प्रथम देव बने प्रमाता ।
मैं भी समाधि सधने बनता विरागी,
ऐसी मदीय मन में बर ज्योति जागी ॥५०॥

लाली लगे करलता अति शोभती है,
शोभे जिनेन्द्रनुति से मम भारती है ।
होता परागवश वात सुगन्धवाही,
शोभा तभी मुनि करे मुनि की समाधि ॥५१॥

है भव्यकौमुद शशी जगमें समाधि,
है कामधेनु सुर पादप से अनादि ।
कैसे मुझे यह मिले कब तो मिलेगी ?
हे वीर देव! कब ज्ञानकली खिलेगी? ॥५२॥

राजा प्रजाहित करे पर स्वार्थ त्यागे,
देता प्रकाश रवि है कुछ भी न मांगे ।
कर्तव्य मानकर तू कर साधु सेवा,
पाले पुनः परम पावन बोधमेवा ॥५३॥

जो साधु सेवक नहीं उन मानियों को,
चाहूं न मैं, नित भजूं मुनि सज्जनों को ।
क्या चाहता कृपण को परिवार प्यारा,
क्या प्यार से कुमुद ने रवि को निहारा ॥५४॥

जो पूर्ण पूरित दयामय भाव से है,
औ दूर भी विमलमानस मान से है ।
सेवा सुसाधु जन की करता यहाँ है,
होता सुखी वह अवश्य जहाँ तहाँ है ॥५५॥

ये साधु सेवक कहीं मिलते यहाँ हैं,
जो जातरूप धरते जग में अहा है ।
प्रत्येक नाग, मणि से कब शोभता है?
प्रत्येक नाग कब मौक्तिक धारता है? ॥५६॥

जैसा सरोज अलि से सबको सुहाता,
उद्योग से जगत में यश देश पाता ।
वैसा विराग मुनि से यह साधु सेवा,
होती सुशोभित अतीव विभो सदैवा ॥५७॥

मैं काय से वचन से मन से सदैवा,
सौभाग्य मान करता बुध साधु सेवा ।
होऊँ अबन्ध भवबन्धन शीघ्र छूटे,
विज्ञान की किरण मानस मध्य फूटे ॥५८॥

बाधा बिना सहज से जिनसे निहारे,
जाते अनागत गतागत भाव सारे ।
शुद्धात्म में निरत जो जिनदेव ज्ञानी,
वे विश्व पूज्य जयवन्त रहेंअमानी ॥५९॥

हो पूर्ण इन्द्रियजयी जितकाम आप,
पाके अनन्त सुख को तज पापताप ।
क्रीड़ा सदैव करते शिवनारि साथ,
जोड़ूँ तुम्हेंसतत हाथ, अनाथ-नाथ ॥६०॥

पीयूष पावन पवित्र पयोद धारा,
ज्यों तृप्त भूमि तल को करती सुचारा ।
त्योँ शान्ति दो दुखित हूँ भवताप से जो,
है प्रार्थना मम विभो! बस आप से योँ ॥६१॥

हो मोह सर्प, तुम हो गरुड़न्द्रनामी,
हो मुक्तिपन्थ-अधिनायक, हो अमानी ।
त्वामी, निरञ्जन, न अञ्जन की निशानी,
पूजूं तुम्हें बन सकूँ द्रुत दिव्यज्ञानी ॥६२॥

है आदि में स्वमन को फिर मार मारा,
हे आदिनाथ! तुमने तज भोग सारा ।
कामारि हो इसलिये जग में कहाते,
स्वामी! सुशीघ्र मम क्यों न व्यथा मिटाते ॥६३॥

वे शान्त, सन्त, अरहन्त अनन्त ज्ञाता,
वन्दूँ उन्हें निरभिमान स्वभाव धाता ।
होऊँ प्रवीण फलतः पल में प्रमाता,
गाता सुगीत 'जिनका' वह सौख्यपाता ॥६४॥

इच्छा नहीं भवन की रखते कदापि,
आचार्य ये न वन से टरते प्रतापी ।
होते विलीन निज में विधि पङ्क धोते,
पूजो इन्हें समय क्यों तुम व्यर्थ खोते ॥६५॥

शास्त्रानुसार चलते सबको चलाते,
पाते स्वकीय सुखको पर में न जाते,
ये रागरोष तजते सबकी उपेक्षा,
मैं तो अभी कुछ रखूँ उनकी अपेक्षा ॥६६॥

आचार्यदेव मुझको कुछ बोध देवो,
रक्षा करो शरण में शिशु शीघ्र लेवो ।
क्या दिव्य अञ्जन प्रकाश नहीं दिलाता,
क्या शीघ्र नेत्रगत धूलि नहीं मिटाता ? ॥६७॥

• ये योग में अचल मेरु बने हुए हैं,
ले खड्ग कर्मरिपु को दुख दे रहे हैं ।
आचार्य तो अमृतपान करा रहे हैं,
ये मेघ हैं, हम मयूर सुखी हुए हैं ॥६८॥

हो ज्येष्ठ में नित नहीं रवि ओ प्रतापी,
संतप्त पूर्ण करता जग को कुपापी ।
आचार्य कोटि शत भास्कर तेज वाले,
देते सदा सुख हमें सप्तदृष्टि वाले ॥६९॥

आचार्य को विनय से उर में बिठालूँ,
मैं पूज्यपाद रज को शिरपै चढ़ा लूँ ।
हे मित्र! मोक्ष मुझको फलतः मिलेगा,
विश्वास है यह नियोग नहीं टलेगा ॥७०॥

ज्ञाता बने समय के निज-गीत, गाते,
तो भी कदापि मद को मन में न लाते ।
वे ही अवश्य उवझाय बशी कहाते,
भाई उन्हें स्मरण में तुम क्यों न लाते ॥७१॥

कालुष्यभाव रतिराग मिटा दिया है,
आत्मावलोकन तथा जिनने किया है ।
पूजूँ भजूँ नित उन्हें दुख को तजूँगा,
विज्ञान से सहज ही निज को सजूँगा, ॥७२॥

तारा समूह नभ में जब दीख जाता,
दोषी शशी न दिन में निशि में सुहाता ।
पै दोष मुक्त उवझाय सदा सुहाते,
ये श्रेष्ठ दृष्ट शशि से जिन यों बताते ॥७३॥

स्वाध्याय से चपलता मन की घटा दी,
काषायिकी परिणती जिनने मिटा दी ।
पावें सुशीघ्र उवझाय स्वसंपदा वे,
आवें न लौट भव में गुरु यों बतावें ॥७४॥

साथी बना कुमुद का शशि पक्षपाती,
भाई सरोज दल का बह है अराती ।
पै साम्यधार उवझाय सुखी बनाते,
हैं विश्व को, इसलिये सबको सुहाते ॥७५॥

वे वैद्य लौकिक शरीर इलाज जाने,
ये वैद्यराज भवनाशक हैं सयाने ।
हैं वन्द्य, पूज्य, शिवपन्थ हमें बताते,
निःस्वार्थपूर्ण निज जीवन को बिताते ॥७६॥

था, है जिनागम, रहे जयवन्त आगे,
पूजो इसे तुम सभी उरबोध जागे ।
पावो कदापि फिर ना भवदुःख नाना,
हो मोक्षलाभ, भव में फिर हो न आना ॥७७॥

आता वसन्त वन में यन फूल जाता,
नाना प्रकार रस पी दुख भूल जाता ।
पीऊँ जिनागम सुधा चिरकाल जीऊँ,
देवादि शास्त्र मदिरा उसको न पीऊँ ॥७८॥

निष्पक्ष हो श्रमण आगम देखता है,
शुद्धात्म को सहज से वह जानता है ।
जाके निवास करना निज धाम में ओ,
संदेह विस्मय नहीं इस काम में हो ॥७९॥

आधारं ले अयि! जिनागम पूर्ण तेरा,
हैं भव्य जीव करते शिव में बसेरा ।
में भी तुझे इसलिये दिन रैन ध्याऊँ,
धारूँ तुझे हृदय में सुख चैन पाऊँ ॥८०॥

जाता नहीं समय का दुख ही उठाता,
औ ना कभी विमल केवलज्ञान पाता ।
राजा भले वह बने, निधि क्यों न पाले,
भाई न खोल सकता वह मोक्ष ताले ॥८१॥

श्रद्धासमेत जिन आगम को निहारें,
जो भी प्रभो! हृदय में समता सुधारे ।
वे ही जिनेन्द्र पद का द्रुत लाभ लेते,
संसार का भ्रमण त्याग विराम लेते ॥८२॥

हो सूत्र में कुसुम सज्जन कण्ठ जाता,
निर्दोष ही कनक आदर नित्य पाता ।
जैसी समादरित गाय सुधी जनों से,
वैसी सदैव समता मुनि सज्जनों से ॥८३॥

वर्षा हुई कृषक तो हल जोत लेगा,
बोया असामयिक बीज नहीं फलेगा ।
तू देव वन्दन अकाल अरे! करेगा,
होगा न, मोक्ष तुझको भव में फिरेगा ॥८४॥

राजा सशस्त्र रण से जय लूट लाता,
हो दाँत, भोजन करो अति स्वाद आता ।
सम्यक् जिनेन्द्रनुति भी सुख को दिलाती,
भाई निजानुभव पेय पिला जिलाती ॥८५॥

ज्यों बात जो सरित ऊपर हो चलेगा,
हो शीत, शीघ्र सब के मन को हरेगा ।
आख्यान अन्त प्रति के बल पा, विधाता,
आत्मा अवश्य बनता सुख पूर्ण पाता ॥८६॥

प्राची प्रभात जब रागमयी सुहाती,
तो अंगराग लगता वनिता सुहाती ।
पै राग से समनुरंजित कायक्लेश,
होता सुशोभित नहीं सुख हो न लेश ॥८७॥

दुर्वेदना हृदय की क्षण भाग जाती,
संवेदना स्वयम की झट जाग जाती ।
ऐसी प्रतिक्रमण की महिमा निराली,
तू धार शीघ्र इसको वन भाग्यशाली ॥८८॥

भाई सुनो मदन से मन को बचाओ,
संसार के विषय में रुचि भी न लाओ ।
पाओ निजानुभव को निज को जगाओ,
सद्धर्म की फिर अपूर्व प्रभावना हो ॥८९॥

संसार के विभव वित्त असार सारे,
सागार भी सतत यों मन में विचारे ।
रोगी दुखी क्षुधित पीड़ित जो विचारें,
दे, अन्नपान उनके दुख को निवारें ॥९०॥

हे वीर देव! तब सेवक धर्म सेवें,
होवें ध्वजा विमल धर्म प्रसार में वे ।
सम्यक्त्व बोध व्रत से निजको सजावें
ज्वाला बनें कुमल कानन को जलावें ॥९१॥

अच्छा लगे तिलक से ललना ललाट,
है साम्य से श्रमणता लगती विराट ।
होता सुशोभित सरोवर कंज होते,
सद्भावना वश मनुष्य प्रशस्य होते ॥९२॥

गङ्गा प्रदान करती बस शीत पानी
तो गाय दूध दुहती जग में सयानी ।
चाहूं इन्हें न, इनसे न प्रयोजना है,
देती निजामृत जिनेन्द्र प्रभावना है ॥९३॥

संसार सागर असार अपार खारा,
कोई न धर्म बिन है तुमको सहारा ।
नौका यही तरणतारण मोक्षदात्री,
ये जा रहे, कुछ गये उस पार यात्री ॥९४॥

गो वत्स में परम हार्दिक प्रेम जैसा,
साधर्मि में तुम करो यदि प्रेम वैसा ।
शुद्धात्म को सहज से द्रुत पा सकोगे,
औ मोक्ष में अमित काल बिता सकोगे ॥९५॥

वात्सल्य हो उदित ओ उर में जभी से,
हैं क्रूरभाव मिटते सहसा तभी से ।
भानू उगे गगन भू उजले दिखाते,
क्या आप तामस निशा तब देख पाते ? ॥९६॥

निर्दोष हो अनल से झट लोह पिण्ड,
वात्सल्य से विमल आतम ही अखण्ड ।
आलोक से सकललोक अलोक देखा,
यों वीर ने सदुपदेश दिया सुरेखा ॥९७॥

वात्सल्य तो जनम से तुम में भरा था,
सौभाग्य था सुकृत का झरना झरा था ।
त्रैलोक्य पूज्य जिनदेव तभी हुए हो,
शुद्धात्मा में प्रभव वैभव पा लिया हो ॥९८॥

बन्धुत्व को लज के प्रति भानु धारा,
मैत्री रखे सुजल में वह दुग्ध धारा ।
'स्वामी ! परन्तु जग के सब प्राणियों में,
वात्सल्य हो, न मम केवल मानवों में ॥९९॥

उन्मत्त होकर कभी मन का न दास,
हो जा उदास सबसे बन वीर दास ।
वात्सल्यरूप सर में डुबकी लगा ले,
ले ले सुनाम 'जिनका' प्रभु गीत गा ले ॥१००॥

गुरु-स्मृति

आशीष लाभ यदि मैं तुमसे न पाता,
तो भावनाशतक काव्य लिखा न जाता ।
हे ज्ञानसागर गुरो! मुझको संभालो,
विद्यादिसागर बना तुममें मिला लो ॥१॥

मंगल कामना

विभो! अर्ज मंजूर हो सुखी रहें सब जीव ।
ध्यावेँ निज के विषय को तज के विषय सदीव ॥१॥

साधु बनो, न स्वादु बनो साध्यसिद्ध हो जाय ।
गुमनागमन तभी मिटे पाप पुण्य खो जाय ॥२॥

रुत्नत्रय में रत रहो रहो राग से दूर ।
विद्यासागर तुम बनो सुख पावो भरपूर ॥३॥

रहो स्वपरोपकार में रत निश्चय उरधार ।
चिर अपरिचित चित्त में चिर पुनि करो विहार ॥४॥

तुन मिला तुम तप करो करो कर्म का नाश ।
शशि रवि से भी अधिक है तुममें दिव्य प्रकाश ॥५॥

तुरणि ज्ञानसागर गुरो! तारो मुझे ऋषीश ।
कुरुणाकर करुणा करो कर से दो आशीष ॥६॥

ज्ञानाराधन नित करूं मुझ में कुछ नहिं ज्ञान ।
दोष यहाँ यदि कुछ मिलें शोध पढ़ें धीमान ॥७॥

बाहुबली के चरण में वर्षायोग सहर्ष ।
सुहाग नगरी में अहो स्थापित कर इस वर्ष ॥८॥

द्वय त्रय शून्य द्वय वर्ष की श्रावण की शित चौथ ।
जैन नगर में लिख दिया निजानन्द का स्रोत ॥९॥

परीषद्द्वय शतक

[१]

शिवसुखं प्रमुखं सुसमागमः, स्मृतिरियं तव चास्तु समागमः ।

कुमतये कुदृशा तु समागमः, स्वपरतेरुपयातु स मा गमः ॥

शिवेति - हे भगवन्! प्रमुखं श्रेष्ठं शिवसुखं मोक्षसुखं, सुसमागमः सत्संगतिः, तव भवतः, इयं स्मृतिराध्यानम् समागमः समीचीनशास्त्रं च अस्तु भवतु । एषां प्राप्तिः सदा भवत्वित्यर्थः । तु किन्तु कुमतये कुबुद्धये, कुदृशा कुत्सिता दृग्यस्य स तेन मिथ्यादृष्टिना समागमः संगतिः स्वपरतेस्तीव्रविद्वेषस्य, स प्रसिद्धः, गमो मार्गः 'गमो द्यूतान्तरे मार्गे' इति विश्वलोचनः । मा उपयातु नो प्राप्नोतु ॥ १ ॥

अर्थ - हे भगवन्! श्रेष्ठ मोक्षसुख, सत्समागम, आपका ध्यान और समीचीन शास्त्र प्राप्त हों किन्तु कुबुद्धि के लिये मिथ्यादृष्टि के साथ समागम और तीव्र विद्वेष का प्रसिद्ध मार्ग प्राप्त न हो ॥ १ ॥

[२]

वियति को वियतिर्वियुतोऽयतः, गतियतिं ह्यगतो यतितोयतः ।

शकलतो विकलं कलशंकरं, किल यजे सकलं ह्यनिशं करम् ॥

वियतीति - यो वियति कः सूर्यः सूर्य इवाभातीति यावत् । वियतिः विशिष्टो यतिर्वियतिर्यतिनामक इति यावत् । अयतः कर्मोदयात् वियुतो रहितः । गतियतिं गतिर्ज्ञानं तस्य यतिः विश्रान्तिस्तां हि निश्चयेन अगतोऽप्राप्तः अनन्तज्ञानसम्पन्न इति यावत् । यतितोयतः यमनं यतिर्विषयनिवृत्तिः स एव तोयं जलं तस्मात् सहित इति शेषः । शकलतः खण्डतो विकलं रहितं सम्पूर्णलोकालोकं जानातीति शेषः पूर्वोक्तगुण विशिष्टं तं सकलं कलेन शरीरेण कलाभिः वैदग्धीभिर्वा सहितं करं कं सुखं राति ददातीति करस्तं सुखदायकम् । कलशंकरं सुखशान्तिकरं जिनेन्द्रम् अनिशं निरन्तरं यजे पूजयामि । किलेति वाक्यालङ्कारे । 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु । कं सुखे वारि शीर्षे च' इति विश्वलोचनः ॥ २ ॥

अर्थ - जो आकाश में सूर्य के समान गतिशील हैं, यतियों में श्रेष्ठ हैं, जो कर्मोदय से रहित हैं अथवा अय-शुभावह विधि से वियुत-विशेषरूप से सहित हैं,

गतियति-ज्ञान की विश्रान्ति से रहित हैं अर्थात् अनन्तज्ञान से संपन्न हैं, यतितोयतः - इन्द्रियदमनरूप जल से सहित हैं और अखण्ड-समस्त विश्व को जानने वाले हैं उन सकल- परमौदारिक शरीर से सहित कर-सुखदायक, शान्तिविधायक जिनेन्द्र की मैं पूजा करता हूँ ॥२॥

[३]

शुचिचिते श्रमणोऽत्र समानतः, सुखशुभाशुभदुःखसमानतः।
सयम-संयमभावविभावतः, श्रयमयेऽन्वितिरस्तु विभावतः ॥

शुचििति - अत्र जगति यः श्रमणः साधुः शुचिचिते शुद्धचैतन्यस्वभावाय समानतः सम्यक्प्रकारेण विनतोऽस्ति शुद्धचैतन्यं प्राप्तुं सदा तत्परोऽस्तीति भावः। सुखदुःखयोः शुभाशुभयोश्च समानतो माध्यस्थ्यात् सहितोऽस्ति। अतोऽस्मात्कारणात् सयमसंयमभावविभावतः यमेन यावज्जीवननियमेन सहितो यः संयमभावः चारित्र-परिणामस्तस्य विभावतः प्रभावतः। श्रयमये समालम्बरूपे विभौ भगवति मे अन्वितिः अनुगतिः अस्तु भवतु ॥३॥

अर्थ - इस जगत् में श्रमण-साधु निर्मल चैतन्यस्वभाव के लिये समानत-नम्रीभूत है अर्थात् उसके लिये निरन्तर उद्यमशील है। सुख, दुःख, शुभ और अशुभ अवस्था में समानता से सहित है; अतः जीवनपर्यन्त के लिये धारण किये हुए संयमभाव के प्रभाव से आश्रय देने वाले उन विभु में मेरी अन्विति-अनुगति-भक्ति हो ॥३॥

[४]

समवलम्ब्य सतीं शुचिशारदां, विषयमार्दववल्लितुषारदाम् ।

यदिति पारिषहं शतकं वदे, बुधमुदेऽघभिदे शितसंविदे ॥

समवेति - विषयमार्दववल्लितुषारदां विषया एव पञ्चेन्द्रियभोगा एव मार्दववल्लयः कोमललतास्ताभ्यः तुषारं हिमं ददातीति तथाभूतां विषयेभ्यो निवृत्तिकारिणीम्। सतीं प्रशस्तां शुचिशारदां निरवद्ययजिनभारती समवलम्ब्य समाश्रित्य, इति वक्ष्यमाणं यत् पारिषहं परिषहाणामिदं पारिषहं परिषहसम्बन्धिः शतकं शतं प्रमाणं यस्य तत् शतकं शतश्लोकप्रमाणप्रकरणं वदे बुवे तद् बुधमुदे विज्ञजनप्रमोदाय, अघभिदे पापपरिहाराय, शितसंविदे समुज्ज्वलज्ञानाय भवत्विति शेषः। 'वदे' इत्यात्मनेपदप्रयोग आर्षः ॥४॥

अर्थ - विषयरूपी कोमललताओं को तुषार देने वाली प्रशस्त जिनवाणी का

आश्रय ले, मैं जिस परिषहशतक को कह रहा हूँ वह विज्ञानों के हर्ष के लिये, पापों के विनाश के लिये और उज्ज्वल ज्ञान के लिये होवे ॥४॥

[५]

समुदितेऽसति वै सति मे विधौ, क्षुदनुभूतिरियं प्रथमे विधौ ।
विधि - फलं ह्युदितं समयेऽयति, समतया सह यत्सहते यतिः ॥

समुदित इति - वै निश्चयेन मे मम यतेः असति अप्रशस्ते विधौ कर्मणि समुदिते समुदयं प्राप्ते सति। प्रथमे विधौ प्रथमभूमिकायां। इयमनुभूयमाना क्षुदनुभूतिः क्षुधोऽनुभूतिः क्षुदनुभूतिः क्षुत्पीडानुभवो भवति। यत् कर्म यतिः श्रमणः समतया मध्यस्थभावेन सहते तद् उदितमुदयागतं विधिफलं कर्मफलं समये स्वकाले फलदानानन्तरं। अयति गच्छति। उदयागतं कर्मफलमवश्यमेव नश्यतीति संचिन्त्य क्षुत्परिषहः साधुना सोढव्यः इति भावः ॥५॥

अर्थ - मेरे अशुभकर्म का उदय रहते हुए प्रारम्भिक भूमिका में यह क्षुधा की अनुभूति हो रही है उदयागत कर्म का फल समय आने पर चला जाता है - नष्ट हो जाता है ऐसा विचार कर साधु समताभाव से क्षुधापरिषह का सहन करते हैं ॥५॥

[६]

भवतु सा तु सतां वरभूतये, सुगतये विधिसंवरभूतये ।

कुगतये कुधियां किल कारणं, विषयतोऽसुखि चैतदकारणम् ॥

भवत्विति - सा प्रसिद्धा क्षुधा सतां साधूनां वरभूतये श्रेष्ठसम्पदे, सुगतये देवादिगतिप्राप्तये, विधिसंवरभूतये विधीनां कर्मणां संवर एव भूतिः सम्पत्तिः तस्यै भवतु। तु किन्तु कुधियां कुगतये नरकादिगतिप्राप्तये कारणं निमित्तं भवति। किलेति वाक्यालंकारे। एतद् जगत् विषयतः पञ्चेन्द्रियविषयेभ्यः अकारणं निर्निमित्तम् असुखि दुःखि वर्तते' इति शेषः ॥६॥

अर्थ - वह क्षुधापरिषह साधुओं को उत्कृष्ट संपत्ति के लिये, देवादिगति की प्राप्ति के लिये तथा कर्मों के संवररूप विभूति के लिये होता है परन्तु अज्ञानीजनों को दुर्गति के लिये होता है। यह जगत् विषयों से अकारण ही दुःखी हो रहा है ॥६॥

[७]

कनकतां दृशदोऽनलयोगतः, शुचिमिता अनया मुनयो गतः ।

अभिनुता जितचित्तभुवा क्षुधा, शिवपथीत्युदिता निजवाक्षु धा ॥

कनकतामिति - यथा अनलयोगतो वह्निसंयोगात् दृशदः स्वर्णपाषाणः कनकतां सुवर्णतां प्राप्नुवन्ति तथा अनया क्षुधागतः युक्ता मुनयः शुचिं निर्मलताम्। इताः प्राप्ताः। शिवपथि मोक्षमार्गे क्षुधापरिषहः। जितचित्तभुवा जितः पराभूतः चित्तभूः कामो येन तेन कामविजयिना मुनिना अभिनुता संस्तुता। इतीत्थं धा ब्रह्मणा जिनेनेति यावत् निजवाक्षु स्वकीयभारतीषु उदिता कथिता प्रकटितेति यावत्। 'धास्तु धातरि' इति विश्वलोचनः॥७॥

अर्थ - जिस प्रकार अग्नि के संयोग से स्वर्णपाषाण स्वर्णता को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार इस क्षुधापरीषह के योग से मुनि शुचिता—निर्मलता को प्राप्त हुए हैं। कामविजेता मुनियों ने मोक्षमार्ग में इस क्षुधापरीषह की संस्तुति की है। ऐसा ब्रह्मा—जिनेन्द्रदेव ने अपनी वाणी में कहा है ॥७॥

[८]

ननु कृतानशनेन तु साधुना, ह्यसमयेऽप्यशनं न हि साधु ना।
स्वसमये वचसा शुचिसाधुना, निगदितं शृणु तन्मनसाऽधुना।।

नन्विति - ननु निश्चयेन कृतानशनेन कृतमनशनं येन तेन कृतोपवासेन साधुना यतिना असमये अकाले साधु निरवद्यमपि अशनं, ना न गृह्यते। इत्थं शुचिसाधुना वीतरागजिनेन्द्रेण स्वसमये स्वकीयागमे वचसा वाण्या निगदितं कथितं तत् अधुना साम्प्रतं त्वं मनसा चेतसा चित्तं स्थिरीकृत्येति यावत्। शृणु समाकर्णय।।८॥

अर्थ—निश्चय से उपवास करने वाले साधु को असमय में— चर्या के प्रतिकूल समय में निरवद्य भी आहार नहीं लेना चाहिये, ऐसा वीतराग साधु—जिनेन्द्रदेव ने अपने आगम में वचन द्वारा कहा है। उसे तुम इस समय मन लगाकर सुनो।।८॥

[९]

अनघतां लघुनैति सुसंगतां, सुभगतां भगतां गतसंगताम्।
जितपरीषहकः सह को विदा, विदुरिहाप्यघकासह! कोविदाः।।

अनघतामिति - हे अघकासह! अघानि पापान्येव अघकानि तेषां असहस्तत्सम्बुद्धौ हे पापासहनशील! जितपरीषहकः जिताः परीषहा येन तथाभूतः परीषहाणां विजेतेत्यर्थः। क आत्मा। लघुना शीघ्रेण 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः। अनघतां पापरहितताम्, सुसंगतां सुष्ठु संगो यस्य सुसंगस्तस्य भावस्तां सुसंगतिमित्यर्थः। सुभगतां सौभाग्यशालिताम्। भगतां ऐश्वर्ययुक्तताम्। 'भगं तु ज्ञानयोनीच्छा—यशोमाहात्म्यमुक्तिषु' इति विश्वलोचनः। गतसंगतां गतः संगः परिग्रहो यस्य स गत—

संज्ञस्तस्य भावस्तां निर्ग्रन्थताम्। विदा ज्ञानेन सह सार्धम्। एति प्राप्नोति। इतीत्थम्।
इहापि लोकेऽपि कोविदा विद्वान्सः 'विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन्सुधीः कोविदो बुधः'
इत्यमरः। विदुः विदन्ति ॥९॥

अर्थ - हे पाप को न सहन करने वाले मुनिराज! परीषहों को जीतने वाला जीव,
इसी लोक में शीघ्र ही निष्पापता, सत्संगति, सौभाग्यशालिता, ऐश्वर्यसंपन्नता, और
निर्ग्रन्थता को, सम्यग्ज्ञान को प्राप्त होता है, ऐसा विद्वान् जानते हैं - कहते हैं ॥९॥

[१०]

निजतनोर्ममता वमता मता, मतिमता समता नमता मता।

विमलबोधसुधां पिबताञ्जसा, व्यथति तं न तृषा सुगताज ! सा ॥

निजेति - हे सुगताज! सुगतः सुज्ञातः अजो ब्रह्मा येन तत्सम्बुद्धौ। या तृषा
निजतनोः स्वशरीरस्य ममतां ममत्वबुद्धिं वमता वान्तां कुर्वता मता स्वीकृता। या,
मतिमता बुद्धिमता, समता नमता नमस्कुर्वता मता अनुमता। या च अञ्जसा परमार्थेन
विमलबोधसुधां निर्मलज्ञानामृतं पिबता जनेन मता अङ्गीकृता। सा तृषा तं
निजतनुममतां वमन्तं मतिमन्तं समतां नमन्तं निर्मलज्ञानामृतं च पिबन्तं जनं न व्यथति
न पीडयति ॥१०॥

अर्थ - हे आत्मज्ञ ! शरीर की ममता को छोड़ने वाले, भेदविज्ञान से सहित,
समता के प्रति नग्रीभूत और यथार्थरूप से निर्मलज्ञानामृत का पान करने वाले मुनि ने
जिसे स्वीकृत किया है वह तृषा तथोक्त कार्य करने वाले मुनि को पीड़ित नहीं करती।

भावार्थ - जिसे शरीर के प्रति ममताभाव है, जिसने शरीर और आत्मा का
भेदज्ञान प्राप्त नहीं किया है, जिसने समता भाव को आदर नहीं दिया है तथा जिसने
ज्ञानामृत का पान नहीं किया है उसे ही तृषा दुःख देती है ॥१०॥

[११]

शमवतोऽत्र यतेर्भवतो यतः, सभयतां गुणिनश्च सतो यतः ।

लसति मा पुरतो मुदिता सती, तदसहेति तृषा कुपिताऽसती ॥

शमवत इति - अत्र जगति यतो यस्मात् कारणात् । शमवतः प्रशमगुणोपेतस्य,
भवतः संसारात् सभयतां भीरुतां यतः एतीति यन् तस्य गच्छतः, गुणिनो गुणवतः, सतः
श्रेष्ठस्य यतेः श्रमणस्य पुरतोऽग्रे मा मुक्तिलक्ष्मीः मुदिता प्रहृष्टा सती लसति शोभते
ततस्तस्मात् कारणात् तदसहा तस्या मुक्तिलक्ष्म्या असहा तां सोढुमसमर्था तृषा पिपासा
कुपिता क्रुद्धा जाता। इति हेतोः असती अविद्यमानाऽभवत्। यतेः पुरस्ताद् विलसन्ती

मुक्तिलक्ष्मीं दृष्ट्वा स्त्रीस्वभावात् मात्सर्येण कुपिता तृषा यतिं नाङ्गीकुरुत
इत्युत्प्रेक्षा ॥११॥

अर्थ - यतश्च इस जगत् में प्रशमगुण से सहित, संसार से भयभीत एवं अनेक
गुणों से युक्त मुनि के आगे मुक्तिलक्ष्मी प्रसन्न होती हुई विलसती है। अतः उसे सहन न
करने वाली तृषारूपी स्त्री कुपित होकर मुनि के पास नहीं रहती। ईर्ष्यावश मुनि के पास
नहीं आती ॥११॥

[१२]

नहि करोति तृषा किल कोपिनः, शुचिमुनीनितरो भुवि कोऽपि न।

विचलितो न गजो गजभावतः, श्वगणकेन सहापि विभावतः।।

नहीति - भुवि पृथिव्याम्। तृषा पिपासा। शुचिमुनीन् निरवद्यचर्योपेतयतीन्
कोपिनः क्रोधयुक्तान् न हि करोति नैव विदधाति। इतरस्तृषाभिन्नः कोऽपि कश्चिदपि तान्
कोपिनो न करोति। किलेति वाक्यालंकारे। गजोऽपि मतङ्गजोऽपि श्वगणकेन शुनां गण
एव श्वगणक - स्तेनकुक्कुरसमूहेन सह विभावतः क्रोधादिविकारपरिणामात् गजभावतः
गजस्वभावाद् विचलितो न भवति। कुक्करगणैर्भष्यमाणो गजो यथा स्वगाम्भीर्यं न
त्यजति तथा पिपासादिपीडितः श्रमणः स्वपदाद् विचलितो न भवतीति भावः ॥१२॥

अर्थ - पृथिवी पर निर्दोषचर्या करने वाले मुनियों को पिपासा तथा अन्य कोई
भी पदार्थ कुपित नहीं करता। जैसे हाथी कुक्कुरसमूह के द्वारा तंग किये जाने पर भी
क्रोधवश अपने गजस्वभाव-गम्भीर भाव से विचलित नहीं होता ॥१२॥

[१३]

शमनिधौ निजचिद्विमलक्षिते - व्ययभवध्रुवलक्षणलक्षिते।

यदि यमी तृषितः सहसा गरेऽ - वतरतीव शशी किल सागरे।।

शमेति - यदि चेद् यमी यमः संयमो विद्यते यस्य सः साधुः जातुचित् गरे गले
रलयोरभेदात् 'यमकादौ अवेदैक्यं डलोर्वबोरलोस्तथा' इति वचनात् तृषितः तृषा
संजाता यस्य तथाभूतः पिपासायुक्तो भवेत्तर्हि सः सहसा झटिति सागरे समुद्रे शशीव चन्द्र
इव व्ययभवध्रुवलक्षणलक्षिते व्ययोत्पादध्रौव्यलक्षणसहिते निजचिद् - विमलक्षितेः
स्वकीयचैतन्यनिर्मलवसुधाया अन्तर्विद्यमाने शमनिधौ प्रशमकोषे अवतरति वगाहते

निजशान्तस्वरूपं ध्यायतीत्यर्थः। क्षुत्तृड्व्यथातीतो मम शुद्धस्वभावोऽस्त्येवं चिन्तयन् साधुस्तृषापरीषहं सरलतया सहते। किलेति वाक्यालंकारे ॥१३॥

अर्थ - यदि कदाचित् मुनि कण्ठ में तृषा से युक्त होता है अर्थात् प्यास से उसका गला सूखता है तो वह अपने चैतन्यरूप निर्मल वसुधा के भीतर विद्यमान एवं व्यय, उत्पाद और ध्रौव्य लक्षण से सहित प्रशमरस के भण्डार में उस प्रकार शीघ्र अवगाहन करता है जिस प्रकार कि चन्द्रमा समुद्र में ॥१३॥

[१४]

व्यथितनारकिणोऽपि पिपासैव, कलितकण्ठगतापकृपासवः ।

इति विचार्य मुनिस्तदपेक्षया, मयि विपन्नयुतोऽयमुपेक्षया ॥

व्यथितेति - कलिता धृताः कण्ठगता निःसरणोन्मुखा अपकृपा निर्दया असवः प्राणा यैस्तथाभूताः। पिपासवः पातुमिच्छवः पिपासातुराः व्यथितनारकिणोऽपि व्यथिताश्च ते नारकिणश्चेति तथाभूताः पीडितनारका अपि सन्ति। तदपेक्षया नारकिणामपेक्षया मयि विपत् विपत्तिः न विद्यते इतीत्थं विचार्य। अयं मुनिः एष श्रमणः उपेक्षया तृषानिराकरणविषयिण्या युतः सहितो विद्यते। ये नारकास्त्रयस्त्रिंशत्सागरावधिपर्यन्तं सलिलसीकरं न प्राप्नुवन्ति तदपेक्षया मम कियत् कष्टमिति विचार्य मुनिस्तृषानिवारणं प्रति मन्दादरो भवतीति भावः ॥१४॥

अर्थ—जिनके निर्दय प्राणकण्ठगत हो रहे हैं ऐसे प्यास से युक्त पीडित नारकी भी तो हैं उनकी अपेक्षा मेरी विपत्ति कोई विपत्ति नहीं है, ऐसा विचार कर मुनि प्यास के प्रति उपेक्षा से सहित है अर्थात् प्यास दूर करने का कोई प्रयत्न नहीं करते ॥१४॥

[१५]

चलतु शीततमोऽपि सदागति— रमृतभावमुपैतु सदागतिः।

जगति कम्पवती रसदा गतिः, स्वलति नो वृषतोऽपि सदागतिः ॥

चलत्विति - शीततमोऽपि अतिशयेन शीतः शीततमः तथाभूतोऽपि सदागतिर्वायुश्चलतु प्रवहतु। सदागतिरग्निः अमृतभावं सुधात्वं शैत्यनिवारकत्वादिति यावत्। उपैतु प्राप्नोतु। जगति भुवने कम्पवती कम्पनकारिणी रसदा रसं शरीरं ह्यति खण्डयतीति रसदा शरीरविदारिणी गतिः सा च भवतु तथापि सदागति मुनिः। वृषतो मुनिधर्मतः नो स्वलति भ्रष्टो न भवति। 'सदागतिर्गन्धवाहे निर्वाणेऽपि सदीश्वरे' इति। 'रसः स्वादेऽपि तिक्तादौ शृङ्गारादौ द्रवे विषे। पारदे धातुवीर्याम्बुरागे गन्धरसे तनौ' इति च विश्वलोचनः ॥१५॥

अर्थ— अत्यन्त शीत वायु चले, अग्नि अमृतभाव को प्राप्त हो और जगत् में जीवों की दशा कम्पन से युक्त तथा शरीर को विदीर्ण करने वाली भले ही हो तो भी मुनि धर्म से विचलित नहीं होता ॥१५॥

[१६]

तरुणतोऽरुणतः किरणावली, प्रशमिता सविता सगुणाऽवली ।

गुरुनिशा लघुतां दिवसं गतं, मुनिरितः स्ववशं ननु संगतम् ॥ ।

तरुणत इति - तरुणतो मध्याह्नसम्बन्धिनः अरुणतः सूर्यात् निःसरन्ती किरणावली रश्मिसंततिः प्रशमिता शान्ता जाता। सविता सूर्योऽपि सगुणावली गुणसमूहसहितः प्रशमितः शान्तिं प्राप्तः। गुरुनिशा दीर्घरात्रिर्जाता। दिवसं दिनमपि लघुतां ह्रस्वतां गतं प्राप्तं। शीतसमये नैव प्रभाकरप्रचण्डरश्मयो मन्दा जाताः इत्यर्थः। सगुणावली गुणसमूहसहितः सूर्यः प्रशमं प्राप्तः। गुरुनिशा रात्रिर्गुह्यं प्राप्ता दिवसश्च लघुतां प्राप्तः तथापि मुनिः स्ववशं स्वाधीनं संगतं ननु निश्चयेन इतः प्राप्तः पावकादिवशतां नो प्राप्त इत्यर्थः ॥१६॥

अर्थ - शीत की अधिकता के कारण ही मानों मध्याह्न के सूर्य की किरणावली शान्त हो गई। स्वकीय गुणावली से सहित सूर्य शान्त हो गया, रात बड़ी और दिन छोटा हो गया, तो भी मुनि निश्चय से स्वाधीन संगति को ही प्राप्त रहे अर्थात् शीत निवारक परपदार्थों के अधीन नहीं हुए ॥१६॥

[१७]

विमलचेतसि पूज्ययतेः सति, महसि सत्तपसि ज्वलिते सति ।

किमु तदा हि बहिर्हिमपाततः, सुखितजीवनमस्य मपाः ततः ॥ ।

विमलेति - पूज्ययतेरर्चनीयमुनेः सति प्रशस्ते विमलचेतसि निर्मलहृदये सत्तपसि समीचीनतपो रूपे महसि तेजसि प्रज्वलिते प्रदीप्ते सति जाते। हि निश्चयेन तदा तस्मिन् काले बहिः बाह्यं शरीरोपरीति यावत् हिमपाततः तुषारपतनात् किमु का चिन्ता? अस्य सत्तपोऽनलविभ्राजितस्य साधोः सुखितजीवनं सुखसम्पन्नजीवनं भवतीति शेषः। ततस्तस्मात् कारणात् हे साधो! त्वं मपाः मं ब्रह्माणमात्मानं पाति रक्षतीति मपाः शरीररक्षां विहाय शुद्धात्मरक्षणतत्परः स्यादिति शेषः।

अर्थ - पूज्य मुनिराज के प्रशस्त निर्मल चित्त में जब समीचीन तपरूपी तेज देदीप्यमान हो रहा है तब बाह्य में बर्फ के पड़ने से उसे क्या चिन्ता है? इसका जीवन तो उस समय भी सुखी रहता है इस कारण हे साधो! तुम ब्रह्मरूप आत्मा के रक्षक होओ।

भावार्थ - बर्फ के पड़ने से यदि शरीर का नाश होता हो तो हम अपने
जाता-द्रष्टा स्वभाव वाले आत्मा की रक्षा करें ॥ १७ ॥

[१८]

नभसि कृष्णतमा अभयानकाः, सतडितः सजलाश्च भयानकाः ।

अशनिपाततयाप्यचलाश्चलाः, स्थिरमटेच्च मुनिं ह्यचला चलाः ॥

नभसीति - नभसि गगने कृष्णतमाः अतिशयमलाः सतडितः विद्युत्सहिताः,
सजलाः जलयुक्ताः, भयानकाः भीतिप्रदाः आनकाः गर्जन्मेघाः, 'आनकः पटहेभेर्या
मृदंगेध्वनदम्बुदे' इति विश्वलोचनः । सन्तुतरामिति शेषः । अशनिपाततया
वज्रपातत्वेन अचलाः पर्वता अपि चलाः चंचला भवेयुरिति शेषः ।
'अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः' इत्यमरः । अचला पृथिवी च चला चंचला
स्यादिति शेषः । 'अचलः पर्वते कीले निश्चलेऽप्यचला भुवि' इति विश्वलोचनः ।
तथापि हे अभय ! हे निर्भय ! मुनि स्थिरं शीतपरिषहन्तोऽविचलितम् । अटेत्
प्राप्नुयात् । मुनिः सदा स्थिरः परिषहविजयीभवतीति भावः ॥ १८ ॥

अर्थ - आकाश में कौदती हुई बिजली से सहित जलयुक्त, भयोत्पादक,
काले-काले गर्जते हुए मेघ भले ही छाये रहें, वज्रपात से पर्वत भी चंचल हो उठें
और अचला--पृथिवी भी चला हो जावे -- कांप उठे तो भी हे अभय ! मुनि को
स्थिर ही पाने हैं । तथोक्त उपसर्गों के कारण मुनि कभी भी विचलित नहीं होते ॥
१८ ॥

[१९]

तपनता तपनस्य निदाधिका, व्रतवते स्ववते न निदाऽधिका ।

समुचितं सवितुः प्रकराः कराः, सलिलजाय सदा प्रखराः कराः ॥

तपनतेति - तपनस्य सूर्यस्य निदाधिका श्रीष्मर्तुसम्बन्धिनी तपनता उष्णता
स्ववते आत्मवते जितेन्द्रियायेति यावत् । व्रतवते मुनये निदाधिका दुःखदायिनी न
भवतीति शेषः । इति समुचितं योग्यमस्तीति शेषः । तदंबोदाहियते - सवितुः सूर्यस्य
प्रकराः प्रकृष्टरूपाः प्रखराः अतिशयेन तीक्ष्णा 'तिगंतं तीक्ष्णं खरं तद्भत्' इत्यमरः ।
कराः किरणाः 'वन्निहस्नांशवः कराः' इत्यमरः । सलिलजाय कमलाय कराः सदा
कं सुखं रान्ति ददतीति कराः सुखकराः सन्ति । 'पापेऽर्तो व्यसने चाद्य' इति
विश्वलोचनः ॥ १९ ॥

अर्थ - सूर्य की शीघ्र कालीन तपनता आत्मविजयी मुनि के लिये दुःखप्रद नहीं
होती यह उचित ही है क्योंकि सूर्य की अत्यन्त तीक्ष्ण किरणें कमल के लिये सदा
सुखदायक होती हैं ॥ १९ ॥

[२०]

सरसि जन्तुसभा न कतापतः, सरसिजं तु कुतोऽम्बु वितापतः।

इयति घर्मणि शान्तिसुधारक— स्तदवरोधनभावविदारकः।।

सरसीति - कतापतः कस्य सूर्यस्य तापस्तस्मात् 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु' इति विश्वलोचनः। सूर्यसंतापात् सरसि कासारे जन्तुसभा जन्तूनां मीनादिजलचराणां सभा समितिः सम्मेलनं न वर्तते। वितापतः विशिष्टस्तापो वितापस्तस्मात् अम्बु जलं कुतः? सरसिजं सरोवरोत्पन्नं कमलं कुतः? तापातिरेकात् जलं शुष्कं जलाभावे सरसिजं शुष्कम्। इयति एतावत्प्रमाणे घर्मणि प्रचण्डातपे सति शान्तिसुधारकः शान्तिसम्पन्नो मुनिः तदवरोधनभावविदारकः तस्य घर्मातिरेकस्य अवरोधनं निवारणं तस्य भावोऽभिप्रायस्तस्य विदारको विदारणकर्ता भवतीति शेषः। मунिरुष्णपरिषहजन्यवाधानिवारणं न चिन्तयतीति भावः।।२०।।

अर्थ - सूर्य के संताप से सरोवर में जलचरों का समूह नहीं रहा। ताप की अधिकता से जल सूख गया फिर कमल कैसे रह सकता है? ऐसी गर्मी में शान्ति के धारक मुनि, उस गर्मी के रोकने वाले भाव को भी दूर करते हैं अर्थात् गर्मी को दूर करने का भाव भी नहीं करते हैं।।२०।।

[२१]

त्रिपथगाम्बु सुचन्दनवासितं, शशिकलां सुमणिं ह्यथवा सितम्।

प्रकलयन्ति न घर्मसुशान्तये, भुवि मता मुनयो जिनशान्त! ये।।

त्रिपथगेति - हे जिनशान्त! हे शान्तिनाथ! भुवि पृथिव्यां ये मुनयो निर्ग्रन्थश्रमणाः मताः प्रसिद्धाः मुनित्वेन स्वीकृताः ते घर्मसुशान्तये निदाद्यपरिषहनिराकरणाय सुचन्दनवासितं सुचन्दनेन शोभनमलयज्ञेन वासितं सुगन्धितं त्रिपथगाम्बु त्रिपथगाया गङ्गाया अम्बु सलिलं, शशिकलां चन्द्रकलां अथवा सितं शुक्लं सुमणिं चन्द्रकान्तमणिं न प्रकलयन्ति न सेवन्ते। औष्ण्यपरिषहनिराकरणाय लौकिकमुपचारं नेच्छन्तीति भावः।।२१।।

अर्थ - हे शान्तिजिनेन्द्र! पृथिवी पर जो निर्ग्रन्थ मुनि माने गये हैं वे गर्मी की बाधा शान्त करने के लिये न चन्दनसुवासित गङ्गाजल की, न चन्द्रकला की और न शुक्ल चन्द्रकान्तमणि की इच्छा करते हैं - इनका सेवन करते हैं।।२१।।

[२२]

पतितपत्रकपादपराजितं, प्रतिवनं रविपादपराजितम् ।

मुनिमनो नु ततोऽस्त्वपराजितं, नमति चैष तकं स्वपराजितम् ॥

पतितेति - पतितपत्रकपादपराजितं पतितानि पत्राणि पर्णानि येभ्यस्तथाभूता ये पादपा वृक्षास्तै राजितं शोभितम् । रविपादपराजितं रवेः सूर्यस्य पादैः किरणैः पराजितं पराभूतं प्रतिवनं वनं वनं प्रतीति प्रतिवनं प्रत्येकवनं तथाभूतम् अस्तु तथापि मुनिमनो निर्ग्रन्थश्रमणस्वान्तं ततस्तथाभूताद्वनात् अपराजितं अपराभूतम् अस्तु भवतु । नु वितर्के एषोऽहं स्वपराजितं स्वं आत्मानं पान्ति रक्षन्ति ते स्वपाः आत्मरक्षका ये गुणास्तै राजितं शोभितं तकं तं स्वार्थेऽकच् प्रत्ययः नमति नमस्करोति ॥२२॥

अर्थ - जब प्रत्येक वन पत्ररहित वृक्षों से युक्त तथा सूर्य की किरणों से पराभूत होता है तब मुनि का मन उससे अपराजित रहता है। उस शुष्क वन से भयभीत नहीं होता, किन्तु स्वप-राजित—आत्म रक्षक गुणों से सुशोभित रहता है। उन मुनि को यह स्तोता नमन करता है ॥२२॥

[२३]

परिषहं कलयन् सह भावतः, स हतदेहरुचिर्निजभावतः ।

परमतत्त्वविदा कलितो यतिः, जयतु मे तु मनः फलतोऽयति ॥

परिषहमिति - निजभावतः निजे स्वकीयशुद्धस्वरूपे भावः सद्भावस्तस्मात् हतदेहरुचिः हता नष्टा देहे शरीरे रुचिः प्रीतिर्यस्य सः । भावतः सह अभिप्रायेण सह सार्वविभक्तिकस्तसिल् । मनोयोग पूर्वकमित्यर्थः परिषहं निदाघपरिषहं कलयन् सहमानः । परमतत्त्वविदा श्रेष्ठतत्त्वज्ञानेन कलितो युक्तः । अथवा परमतत्त्वविद्भिः आकलितः श्रद्धावनतः । स प्रसिद्धो यतिर्निर्ग्रन्थश्रमणः जयतु जयवान् भवतु । फलतः फलरूपेण स मुनिः मे मम मनः अयति प्राप्नोति । तं प्रति मम मनसि महानादरो वर्तत इत्यर्थः ॥२३॥

अर्थ - आत्मस्वभाव में विद्यमान होने से जिनकी शरीर सम्बन्धी प्रीति नष्ट हो चुकी है, जो संमीचीन अभिप्राय—ख्यातिलाभादि की भावना से रहित मन से परिषह को सहन कर रहे हैं तथा उत्कृष्ट तत्त्वज्ञान से सहित हैं वे मुनि जयवंत हों। इसके फलस्वरूप वे मुनि मेरे मन को प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् मैं उनका निरन्तर ध्यान करता हूँ ॥२३॥

[२४]

विषधरैर्विषमैर्विषयातिगः, परिवृतो व्रतवानन्दयातिगः ।

नहि ततोऽस्य तु किञ्चन मानसं, कलुषितं किल तच्छुचिमानसम् ॥

विषधरैरिति - विषयातिगः विषयान् पञ्चेन्द्रियविषयानतीत्य गच्छतीति विषयातिगः पञ्चेन्द्रियविजयी। अदयातिगः अदयां निष्कारुण्यमतीत्य गच्छतीति अदयातिगो जीवदयासहितः। व्रतवान् मुनि र्यद्यपि विषमैर्भयङ्करैः विषधरैः सर्पैः परिवृतो वेष्टितो वर्तत इति शेषः। तु किन्तु अस्य व्रतवतो मुनेः तत् प्रसिद्धं शुचिमानसं पवित्रचित्तं मानसं मानससरः विषमविषधरपरिवृतत्वात् किञ्चन किमपि ईषदपीत्यर्थः कलुषितं मलिनं न भवति। किलेति वाक्यालंकारे। विषमविषधरैर्वेष्टितोऽपि न किञ्चिद् विभेति, न तत्प्रतिकारं च करोतीत्यर्थः॥२४॥

अर्थ - पञ्चेन्द्रियों के विषयों से रहित दयालुमुनि, यद्यपि विषम विषधरों - सर्पों से वेष्टित रहते हैं तथापि इनका पवित्र मन रूपी मानसरोवर उनसे कुछ भी कलुषित नहीं होता॥२४॥

[२५]

असुमतः प्रति यो गतवैरतः, शुभदयागुणके सति वै रतः।

व्यथित नो मनसा वचसाङ्गत्तः, सदसि पूज्यपदं विदुषांगतः॥

असुमत इति - यो मुनिः असुमतः प्राणिनः प्रति गतवैरतः गतं नष्टं यद् वैरं तस्मात्। वैररहितत्वात्। सति प्रशस्ते शुभदयागुणके शुभदयारूपगुणे स्वार्थे कः वै निश्चयेन रतो लीनः सन् मनसा वचसा अङ्गत्तः योगत्रयेण नो व्यथित न व्यथामनुभवति स विदुषां सुधियां सदसि सभायां पूज्यपदं पूज्य स्थानं गतः प्राप्तो भवतीति शेषः। 'विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः सन् सुधीः कोविदो बुधः' इति 'पदं व्यवसित त्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इति चामरः॥२५॥

अर्थ - जो मुनि प्राणियों के प्रति वैर रहित होने से निश्चयतः श्रेष्ठ दयागुण में लीन रहते हुए मन, वचन, काय से दुःखी नहीं होते, वे विद्वानों की सभा में पूज्य स्थान को प्राप्त होते हैं॥२५॥

[२६]

रुधिरकं तु पिबन्ति पिबन्तु ते, स्तुतिसुधां सुखिनोऽज पिबन्तु ते।

मम न हानिरिहास्ति हि वस्तुतः, इति तनोः पृथगस्मि भवस्तुतः॥

रुधिरकमिति - हे भवस्तुत! भवेन समस्तसंसारेण स्तुतः स्तुतिविषयीकृतः तत्सम्बुद्धौ। हे अज! हे ब्रह्मन्! यदि ते मत्कुणमशकादयः रुधिरकं किञ्चिद् रुधिरं रक्तं पिबन्ति, पिबन्तु नाम। यदि ते सुखिनः सुखयुक्ता जना स्तुतिसुधां स्तवनपीयूषं पिबन्ति, तर्हि पिबन्तु। दुर्जनाः सुजनाश्च स्वस्वकार्यं कुर्वन्तु नामेत्यर्थः। इहास्मिन् विषये वस्तुतो

यथार्थतः।मम मुनेः हानिः हि निश्चयेन नास्ति। इति विचारेण तनोः शरीरात् अहं पृथग्
अस्मि पृथग्भूतो वर्ते इति भावः॥२६॥

अर्थ - हे भवस्तुत! अज! हे समस्त संसार के द्वारा स्तुत ब्रह्मन्! यदि वे खटमल
तथा मच्छर आदि कुछ रुधिर पीते हैं तो पियेँ और वे सुखीजन यदि स्तुतिरूपी अमृत
पीते हैं तो पियेँ, इस विषय में परमार्थ से मेरी हानि नहीं है; क्योंकि मैं शरीर से पृथग्
हूँ॥२६॥

[२७]

मशकदंशकमत्कुणकादयः, प्रविकलाः क्षुधिता अनकादय !

स्वकममी प्रभजंतु नु कं कदा, त्विति सतामनुचिंतनकं कदा ॥

मशक्रेति - हे अनकादय! अकं पापं च अदया करुणाभावश्चेति अकादये, न
विद्येते अकादये यस्य तत्सम्बुद्धौ हे जिन! मशकदंशकमत्कुणकादयः
मशकदंशकखट्वामल्लादयः क्षुधिताः क्षुधायुक्ताः प्रविकलाः प्रकर्षेण विकला विह्वलाः
सन्ति, अमी एते स्वकं स्वकीयं कं सुखं क्षुधानिवृत्तिजन्यम् कदा कर्हि प्रभजन्तु प्राप्नुवन्तु।
नु इति वितर्के। इति तु सतां साधूनामनुचिन्तनकं भूयोभूयश्चिन्तनकं, स्वार्थे कः कदा
कस्मिन् काले भवत्विति शेषः। अथवा कद+आ इति च्छेदः आ कद! कं सुखं ददातीति
कदस्तत्सम्बुद्धौ आ इति निपातः सम्बुद्धयर्थकः॥२७॥

अर्थ - हे अनकादय! हे पाप और अदया से रहित जिनदेव! जो डांश, मच्छर
तथा खटमल आदि जीव क्षुधा से युक्त हो अत्यन्त विकल दुखी हो रहे हैं ये अपने सुख
को कब प्राप्त हों, साधुओं का ऐसा चिन्तन कब हो॥२७॥

[२८]

स्वपददं च पदं हि दिगम्बरं, निरुपयोग्यघदं तु धिगम्बरम्।

इति विचार्य विमुञ्चितपाटकाः, शिवपथेऽत्र जयन्तु नपाटकाः॥

स्वपददमिति - हि निश्चयेन दिगम्बरं दिश एवाम्बरं वस्त्रं यस्मिन् तद् दिगम्बरं
पदं स्वपददं स्वस्यात्मनः पदं ददातीति स्वपददं मुक्तिप्रदम्। अस्तीति शेषः। निरुपयोगि
अनुपयोगि अघदं पापप्रदं अम्बरं वस्त्रं तु धिक् निन्दार्हमित्यर्थः। इतीत्थं विचार्य
विमुञ्चितपाटकाः परित्यक्तवस्त्राः नपाटकाः दिगम्बरा अत्र शिवपथे म्लेक्षमार्गं जयन्तु
जयवन्तो भवन्तु॥२८॥

अर्थ - निश्चय से दिगम्बर पद ही आत्मपद—मोक्ष को देने वाला है। किन्तु
अनुपयोगी तथा पाप को देने वाले वस्त्र को धिक्कार हो। ऐसा विचार कर जिन्होंने वस्त्र

का परित्याग किया है ऐसे दिग्म्बर साधु मोक्षमार्ग में जयवन्त रहें।।२८।।

[२९]

कृतकृपा निजके च्युतवासना , हृततृपास्तु विसर्जितवासनाः।
समुपयान्तु शिवं ह्यभवं तु ते, धृतपटा मुनयो न भवन्तु ते।।

कृतकृपा इति - निजके निज एव निजकस्तस्मिन् अथवा निजस्य स्वस्य क आत्मा निजकस्तस्मिन्। कृतकृपाः कृता विहिता कृपा दया यैस्ते तथाभूताः 'ममात्मा विषयासक्त्या मलिनो न भवेदिति' विचारसहिता इत्यर्थः। च्युतवासना च्युता त्यक्ता वासना विषयसंस्कारो यैस्ते। हृततृपा लज्जारहिताः। विसर्जितवासनाः वसनानां वस्त्राणां समूहो वासनं विसर्जितं त्यक्तं वासनं यैस्ते तथाभूताः। एवंभूता ये सन्ति ते हि निश्चयेन शिवं श्रेयो मोक्षं वा अभवं जन्मराहित्यं समुपयान्तु। ये तु जनाः श्वेताम्बरादयः धृतपटा वस्त्रधारकाः सन्ति ते मुनयो निर्ग्रन्थश्रमणा न भवन्तु। निर्ग्रन्था एव मुनयो मुक्तिप्राप्त्यर्हाश्च भवन्तिवति भावः।।२९।।

अर्थ - जो निज आत्मा पर दयालु हैं अर्थात् उसे विषय प्रपञ्च से दूर रखते हैं, जिन्होंने विषयों की वासना—संस्कार छोड़ दिये हैं, जो लज्जा से रहित हैं तथा वस्त्र समूह से रहित हैं, वे निश्चय से मोक्ष को तथा जन्माभाव को प्राप्त हों। इनके विपरीत जो वस्त्रधारक हैं वे परमार्थ से मुनि नहीं हैं और मुक्ति एवं जन्माभाव को प्राप्त करने के योग्य नहीं हैं।।२९।।

[३०]

जगदिदं द्विविधं खलु चेतनं, यदितरं स्वयमेव विचेतनम्।

विविधवस्तुनिकायनिकेतनं, शृणु निरावरणं हि निकेतनम्।।

जगदिति - खलु निश्चयेन इदं जगत् द्विविधं चेतनाचेतनभेदेन द्विप्रकारमस्ति। तत्र यच्चेतनं तत् स्वयमेव तथाभूतमस्ति यच्च विचेतनं विगता चेतना यस्य तथाभूतं तत् स्वयमेव तथाभूतं वर्तते। चेतनमचेतनं न भवति, अचेतनं च चेतनं न भवति। एतद् जगद् विविधवस्तुनिकायनिकेतनं विविधानि नानाप्रकाराणि यानि वस्तूनि तेषां निकायस्य समूहस्य निकेतनं स्थानमस्ति। निकेतनं नियतं केतनं लक्षणं यस्य तथाभूतमेतत् जगद् हि निश्चयेन निरावरणमावरणरहितमस्ति। यत्र जगति सकलानि वस्तूनि निरावरणानि सन्ति तत्र मुनिभिरपि निरावरणैर्भूतव्यम्। इति रहस्यं हे भव्य! त्वं शृणु समाकर्णय। 'केतनं लक्षणं गृहे' इति विश्वलोचनः।।३०।।

अर्थ - यह जगत् चेतन अचेतन के भेद से दो प्रकार का है। उनमें जो चेतन

अथवा अचेतन है वह स्वयं तथाभूत है। अर्थात् चेतन अचेतन रूप और अचेतन चेतन रूप नहीं हो सकता। सब अपने अपने नियत लक्षणों से युक्त हैं। समस्त वस्तुसमूह के घर स्वरूप यह जगत् निरावरण है—पर के आवरण से रहित है अतः मुनि को भी निरावरण रहना प्रकृति सिद्ध है। हे भव्य! इस रहस्य को तू सुन, समझ तथा अङ्गीकृत कर॥३०॥

[३१]

अत इतो न घृणां कुरुते मनो, भुवि मुदार्षिरिदं ह्ययते मनो!
कुलहितं तनुजं जननी हते, भवति शोकवती गुणिनी हते ॥

अत इति - हे मनो! हे ब्रह्मन्! अतोऽस्मात् कारणात्। इतो नाग्न्यं प्रति मनो मुनेश्चित्तं घृणां जुगुप्सां न कुरुते न विदधाति। भुवि पृथिव्याम् ऋषिर्मुनिः इदं नाग्न्यं मुदा हर्षेण अयते प्राप्नोति। तदेवोदाह्रियते - यथा गुणिनी गुणवती जननी कुलहितं वंशश्रेयस्करं तनुजं पुत्रम् ईहते वाञ्छति तस्य लालनं पालनं च करोतीत्यर्थः। हते मृते च तस्मिन् तनूजे शोकवती शोकयुक्ता भवति। जननी कुलहितं तनूज मिव मुनिर्नाग्न्यं समीहत इत्यर्थः ॥३१॥

* अर्थ - हे मनो! इसलिये मुनि का मन इस नाग्न्यव्रत की ओर घृणा नहीं करता है। पृथिवी पर मुनि इसे हर्ष से प्राप्त होते हैं—धारण करते हैं। जिस प्रकार गुणवती माता कुल का हित करने वाले पुत्र की इच्छा करती है, उसका लालनं पालन करती है और उसके नष्ट हो जाने पर शोकयुक्त होती है। इसी प्रकार मुनि नाग्न्यव्रत की इच्छा करते हैं - उसका निर्दोष पालन करते हैं और उसमें बाधा आने पर दुखी होते हैं ॥३१॥

[३२]

करणमोदपदार्थरसं प्रति, विरतिभावयुतो भुवि सम्प्रति।
सुविजितोऽरतिनाम परीषहः, करुणयाह कवाक् तु करी सह ॥

करणेति - सम्प्रति निर्ग्रन्थमुद्रावसरे यो मुनिः भुवि पृथिव्याम् करणमोदपदार्थरसं प्रति करणानामिन्द्रियाणां मोदो हर्षो येभ्यस्ते करणमोदाः ते च ते पदार्थाश्च तेषां रसः स्वादस्तं प्रति। विरतिभावयुतो विरक्तिपरिणामेन युतः सहितो वर्तते, तेन अरतिनाम परिषहः सुविजितः सुखेन विजितः। इति, करी करोतीति करी कर्तव्यनिर्देशतत्परा कवाक् कस्य जिनस्य वाग् वाणी करुणया दयया सह सार्धम् आह जगाद ॥३२॥

अर्थ— पृथिवी पर निर्ग्रन्थमुद्रा के समय जो मुनि, इन्द्रियों को हर्षित करने वाले

पदार्थों के रस के प्रति विरक्तिभाव से सहित होता है अर्थात् अनुकूल रस वाले पदार्थों के स्वाद में अनुरक्त नहीं होता है उसके द्वारा अरतिनाम का परिषह सुख से जीता जाता है ऐसा कर्तव्य का निर्देश करने वाली जिनवाणी दयापूर्वक कहती है ॥३२॥

[३३]

विकृत-रूप-शवादिक-दर्शनात्, पितृवने च गजाहित गर्जनात् ।

अरतिभाव - मुपैति न कंचन, समितभावरतोऽञ्चतु कं च न ! ॥

विकृतेति - हे न! हे जिन! 'नकारौ जिनपूज्ययोः' इति विश्वलोचनः। पितृवने श्मशाने, विकृतरूपशवादिक-दर्शनात् विकृत रूप येषां ते विकृतरूपाः ते च ते शवादिकाश्च मृतकदेहाश्च तेषां दर्शनादवलोकनात् । गजाहितगर्जनाच्च गजानां हस्तिनाम् यत् अहितगर्जनं भयावहशब्दस्तस्मात्। यः कंचन कमपि अरतिभावं अप्रीतिपरिणामं नोपैति न प्राप्नोति। समितभावरतः मध्यस्थपरिणामलीनः स मुनिः कं सुखं शुद्धात्मानं च अञ्चतु गच्छतु प्राप्नोत्विति यावत् ॥३३॥

अर्थ - हे जिन! जो मुनि श्मशान में विकृत रूप - सड़े गले मृतक शरीर के देखने और हाथियों की अहितकारी-भयावह गर्जना से कुछ भी अरतिभाव-अप्रीति भाव को प्राप्त नहीं होता है; साम्यभाव में लीन रहने वाला वह मुनि, सुख को प्राप्त हो ॥३३॥

[३४]

विरमति श्रुततो ह्यघकारतः, वचसि ते रमते त्वविकारतः।

स्मृतिपथं नयतीति न भोगकान्, विगतभावितकांश्च विभोऽघकान् ॥

विरमतीति - हे विभो! हे भगवन्! यो मुनिः हि निश्चयेन अघकारतः पापकारकात् श्रुततः शास्त्रात् विरमति विरतो भवति। तु किन्तु अविकारत्वं विकाररहितत्वात् ते तव वचसि रमते रमणं करोति। इति हेतोः स अघकान् पापरूपान् विगनभावितकान् अतीतानागतकान् भोगकान् पञ्चेन्द्रियदिषयान् स्मृतिपथं स्मरणमार्गं न नयति नो प्रापयति। कुशास्त्राद्विरतः सुशास्त्रे च सुरतः साधुः अतीतानागतवर्तमानान् भोगान् नाकाङ्क्षीत्यर्थः ॥३४॥

अर्थ - हे विभो! जो मुनि पापकारक शास्त्र से विरत रहता है तथा विकाररहित आपके वचन में-सुशास्त्र में रमण करता है वह पापकारक अतीत-अनागत भोगों का स्मरण नहीं करता ॥३४॥

[३५]

सुविधिना यदनेन विलीयते, मनसिजा विकृतिः किल लीयते।

बलवती शुचिदृक् प्रविजायते, ध्रुवमतो लघुमायमजायते।।

सुविधिनेति - यद् यस्मात्कारणात् अनेन मुनिना सुविधिना सम्यक्कारेण विलीयते कर्मणि प्रयोगः। स्वस्मिन् विलीनोः निरतो भवतीत्यर्थः। मनसिजा मानसोद्भूता विकृतिः किल निश्चयेन लीयते नश्यति। बलवती सुदृढा शुचिदृक् निर्मलसम्यग्दर्शनं प्रविजायते प्रकर्षेण समुत्पद्यते। अतोऽस्मात् कारणात् यमजा चारित्र्योत्पन्ना मा लक्ष्मीः ध्रुवं निश्चयेन लघु क्षिप्रं अयते प्राप्नोति। 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः ॥३५॥

अर्थ - जिस कारण मुनि विधिपूर्वक आत्मस्वरूप में लीन होता है, मानसिक विकृति को नष्ट करता है और उसके सुदृढ़ निर्मल सम्यग्दर्शन होता है अतः उसे संयम से उत्पन्न होने वाली मा-मोक्षलक्ष्मी शीघ्र ही नियम से प्राप्त होती है।।३५॥

[३६]

मदनमार्दवमानसहारिणी, लसितलोलकलोचनहारिणी।

मुदितमञ्जुमतङ्गविहारिणी, यदि दृशे किमु सा स्वविहारिणी।।

मदननेति - मदनमार्दवमानसहारिणी मदनस्य कामदेवस्य मार्दवेन मृदुत्वेनोपलक्षितं यन्मानसं चित्तं तद् हरतीत्येवंशीला। लसितलोलकलोचनहारिणी लसिते शोभिते लोलके चञ्चले ये लोचने नयने ताभ्यां हारिणी मनोहरा। मुदितमञ्जुमतङ्गविहारिणी मुदितः प्रहृष्टो यो मञ्जुमतङ्गो मनोहरगजस्तद्वद् विहरति भ्रमतीत्येवंशीला, गजगामिनीत्यर्थः स्त्री यदि दृशे दृष्टये प्राप्ता तर्हि निर्ग्रन्थश्रमणो मनसि विचारयति-सा तथोक्ता स्त्री किम् स्वविहारिणी स्वस्मिन् शुद्धात्मस्वरूपे विहरतीत्येवंशीला अस्ति अपि तु नास्ति। उ वितर्के ॥३६॥

अर्थ - कामदेव के कोमल चित्त को हरने वाली, सुन्दर एवं चञ्चल नेत्रों से मनोहर और प्रसन्न मनोहर हाथी के समान चालवाली स्त्री यदि दृष्टि के लिये प्राप्त होती है अर्थात् देखने में आती है तो निर्ग्रन्थ साधु विचार करता है क्या वह स्त्री स्वविहारिणी है? अपने आप में रमण करने वाली है? अर्थात् नहीं ॥३६॥

[३७]

सततमुक्तचरा मदमोहिता, यदिति या प्रमदाप्तयमोदिता।

यदि वने विजने स्मितभाषया, वदति चास्तु यतिर्न विभाषया।।

सततेति - यद् यस्मात् कारणात् इयं सततमुक्तचरा सततं निरन्तरं मुक्तं

स्वच्छन्दं यथास्यात्तथा चरति भ्रमतीति तथा शश्वत्स्वच्छं चारिणी। मदमोहिता मदेन गर्वेण मादकद्रव्यसेवनजनितविभ्रमेण वा मोहिता मोहयुक्ता अस्ति, इति हेतोः या स्त्री प्रमदा प्रकृष्टो मदो यस्याः सा इत्थम् आप्तयमोदिता आप्तस्य जिनेन्द्रस्य यमे संयमे उदिता कथिता। जिनागमे प्रमदा नाम्ना प्रसिद्धेत्यर्थः। सा स्त्री यदि विजने एकांते वने स्मितभाषया मन्दहसितवाण्या वदति स्पष्टं ब्रवीति तर्हि यतिः विभाषया निर्ग्रन्थश्रमणपदविरुद्धभाषया युक्तो नास्तु न भवतु। यतिस्तथोक्ताप्रमदया सह विजने वार्तालापं न विदधात्विति भावः ॥३७॥

अर्थ - यतश्च जो स्त्री निरन्तर स्वच्छन्द भ्रमती है और मद से मोहित होती है उसे जिनेन्द्र के संयम में 'प्रमदा' कहा गया है। ऐसी स्त्री मुसक्याती हुई निर्जन वन में सराग वाणी से यदि कुछ कहती है तो साधु अपने पद से विरुद्ध भाषा से युक्त न हो अर्थात् उससे बात न करे ॥३७॥

[३८]

विमलरोचनभासुररोचना, विलसितोत्पलभासुररोचना।

जनयितुं विकृतिं न हि सा क्षमा, ह्यविचलात्र यतौ सरसा क्षमा ॥

विमलेति - विलसितोत्पलभासुररोचना विलसितं शोभितं यत् उत्पलं नीलकमलं तद्वद् भासुरे रोचने लोचने यस्याः सा रलयोरभेदाद् रोचनशब्दस्य लोचनार्थे प्रयोगः 'यमकादौ भवेदैक्यं डलोर्बोर्लोस्तथा' इत्युक्तेः। विमलरोचनभासुररोचना विमलमवदातं यद् रोचनं रक्तकमलं तद्वद् भा कान्ति र्यस्याः सा, तथाभूता सुररोचना सुरस्य देवस्य रोचना स्त्री देवाङ्गनेत्यर्थः 'रोचनो रक्तकल्लारे कूट शाल्मलिशाखिनि। अपि गोपित्तमङ्गलरचितस्त्रीषु रोचना ॥' इति विश्वलोचनः। सा तथोक्ता देववल्लभापि विकृतिं विकारं जनयितुमुत्पादयितुं हि निश्चयेन न क्षमा नो समर्था। यतो यस्मात् कारणात् क्षमाभूमिः सरसा कासारेण अविचला चलयितुमयोग्या भवतीति शेषः। 'क्षितौ क्षान्तावपि क्षमा। क्षमं युक्ते क्षमः शक्ते' इति विश्वलोचनः ॥३८॥

अर्थ - सुशोभित नीलकमल के समान सुन्दर नेत्रों वाली एवं निर्मल लालकमल के समान कान्ति से युक्त देवाङ्गना भी निर्ग्रन्थ साधु को विकार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं क्योंकि क्षमा—पृथिवी सरोवर से अविचल ही रहती है ॥३८॥

[३९]

श्रमणतां श्रयता श्रमणेन या, त्वरमिता रमिता भुवनेऽनया।

किमु विहाय सुधीरविनश्वरां, त्विह समामभिवाञ्छति नश्वराम् ॥

श्रमणतांमिति - श्रमणतां साधुतां श्रयता धृतवता श्रमणेन साधुना सह तु या समता अरं शीघ्रम् इता प्राप्ता भुवने जगति अनया एतया समतया सह रमिता रमणकर्ता सुधीर्विज्ञो जनः अविनश्वरां स्थायिनीं समतां विहाय त्यक्त्वा इह जगति नश्वराम् विनाशिनीम् समा मया शोभया सहिता समा तां सुन्दरस्त्रीं किमु अभिवाञ्छति? समभिलषति? अपि तु न ॥३९॥

अर्थ - साधुता को धारण करने वाले साधु के द्वारा जो समता शीघ्र प्राप्त की गई इसके साथ रमण करने वाला ज्ञानी पुरुष इस अविनाशिनी समता को छोड़ क्या विनाशिनी सुन्दर स्त्री की इच्छा करता है? अर्थात् नहीं ॥३९॥

[४०]

कठिनसाध्यतपोगुणवृद्धये, मतिमलाहतये गुणवृद्ध! ये।

पदविहारिण आगमनेत्रका, धृतदया विमदाः भुवनेऽत्र काः ॥

कठिनेति - हे गुणवृद्ध! गुणैर्वृद्धस्तत्सम्बुद्धौ, हे गुणातिशयसंपन्न! कठिनसाध्यः क्लेशसाध्यो यस्तपो गुणस्तपोरूपगुणस्तस्य वृद्धये वर्धनाय। मतिमलाहतये बुद्धिदोषनिराकरणाय ये पदविहारिणः पदाभ्यां विहरन्तीत्येवंशीलाः। आगमनेत्रकाः आगम एव नेत्रं येषां ते शास्त्रलोचनाः चरणानुयोगनिर्देशानुसारं प्रवर्तमाना इत्यर्थः धृतदयाः धृता दया यैस्ते दयासंपन्ना विमदाः विगतो मदो येषां ते तथाभूता गर्वरहिताः काः आत्मानः अत्र भुवने लोके सन्तीति शेषः। अस्मिन् लोके खल्वेवंभूताः साधवः सन्ति ये चरणानुयोगनिर्देशमङ्गीकुर्वन्तः पदविहारं कुर्वन्ति जीवत्राणं विदधति, गृहस्थावस्थायां मतङ्गजादिवाहनैः जातं मदं मुञ्चन्ति, बुद्धिवैमल्योपायमन्वेषमाणा विहरन्ति तपोगुणवृद्धिं च वाञ्छन्ति ॥४०॥

अर्थ - हे गुणवृद्ध! इस जगत् में जो आगमरूप नेत्र से युक्त, दयालु और मद से रहित आत्माएं-साधु हैं वे कठिनसाध्य तपरूप गुणों की वृद्धि के लिये एवं बुद्धि सम्बन्धी मल-दोषों को नष्ट करने के लिये पैदल ही विहार करते हैं ॥४०॥

[४१]

अथ निवारितकापदरक्षकाः, श्रममितास्तु निजापदरक्षकाः।

अकुशलाध्वचलत्पदलोहिताः, किमु तदा सुधियोऽन्तरलोहिताः ॥

अथेति - निवारितकापदरक्षकाः निवारितान्येव निवारितकानि, निवारितकानि आ समन्तात् पदरक्षकाणि विविधपादत्राणानि यैस्ते। श्रमम् चर्याजन्यखेदम् इताः प्राप्ताः। निजापदरक्षका निजस्य स्वस्य कण्टकादिजन्या या आपद् आपत्तिस्तस्या अरक्षका

अनिवारकाः। अकुशलाध्वचलत्पदलोहिताः अकुशले अश्रेयसि कण्टकादिकीर्णोऽध्वनि मार्गं चलद्भिः पदैश्चरणैः लोहिता निःसरद्बुधिर क्तवर्णाः सुधियो मुनयो यदा भवन्ति तदा ते किमु अन्तरे हृदयमध्ये लोहिता रक्ता भवन्ति ? अपि तु न। विरक्तान्तःकरणा एव चर्यापरिषहं सोढुं शक्नुवन्तीति भावः ॥४१॥

अर्थ - जिन्होंने सब प्रकार के पादत्राण—जूता-चप्पल आदि छोड़ दिये हैं, जो पैदल चलने से खेद को प्राप्त हैं, आपत्ति से अपनी रक्षा-वचाव नहीं करते हैं तथा अकुशल—कण्टकादि से व्याप्त मार्ग में चलने वाले पैरों से लहलुहान हो रहे हैं, मेमे विवेकी मुनिराज क्या उस समय अपने अन्तःकरण में लोहित—रागी होते हैं ? अथात् नहीं ॥४१॥

[४२]

कमलकोमलकौ ह्यमलौ कलौ, ह्यभवतां सुपदौ सबलौ कलौ।

इति विचार्य तनौ भव मा रतः, स्मर कथां सुपदां सुकुमारतः॥

कमलेति - सुकुमारस्वामिनः कमलकोमलकौ कमलवन् मृदुलौ, अमलौ मलरहितौ, कलौ मनोहरौ सुपदौ शोभनचरणौ कलौ कलिकाले हि निश्चयतः सबलौ बलसम्पन्नौ अभवताम् जातौ। इत्येवं विचार्य हे साधो! तनौ शरीरे रतो लीनः समासक्तः मा भव नो एधि। किन्तु सुकुमारतः सुकुमारस्य सार्वविभक्तिस्तसिन् सुपदां शोभनपदप्रदायिनीं सुन्दरपदावलिं सहितां वा कथां स्मर स्मृतिपथमानय। सुकुमारस्वामिनः कथां स्मृत्वा चर्यापरिषहं समतया सहस्वेति भावः॥४२॥

अर्थ - सुकुमाल स्वामी के कमल के समान कोमल, निर्मल और मनोहर सुन्दरचरण कलिकाल में सबल—शक्तिसंपन्न हुए थे, ऐसा विचार कर हे साधो! शरीर में रत—लीन न होओ, उनकी उन्तमपद—प्रदायिनी अथवा सुन्दरपदावलि से युक्त कथा का स्मरण कर॥४२॥

[४३]

समधिरोहितबोधसुयानका, स्तनुसुखावहविस्मृतयानकाः।

पथि चलत्स्वतनोः किल दर्शकाः, तयिति सन्तु जयन्तु तु दर्शकाः॥

समधीति - समधिरोहितबोधसुयानकाः बोध एव सम्यग्ज्ञानमेव सुयानं सुवाहनं, समधिरोहितं समधिष्ठितं बोधसुयानं यैस्ते। तनुसुखावहविस्मृतयानकाः तनुसुखावहं शरीरसुखदायकं विस्मृतं यानं यैस्तथाभूताः। पथि मार्गं चलत्स्वतनोः चलन्ती या स्वतन्तु तस्याः किल दर्शका दर्शनकर्तारः एवं भवन्ति तेभ्यः केमपि साहाय्यं नाकाङ्क्षाः।

दर्शकाः प्रवीणाः साधव इतीत्यं सन्तु भवन्तु जयन्तु च। 'दर्शकस्तु प्रतीहारे दर्शयितृप्रवीणयोः' इति विश्वलोचनः॥४३॥

अर्थ - जो सम्यग्ज्ञानरूपी सवारी पर अधिरूढ़ हैं, शरीर के सुखदायक वाहनों को भूल चुके हैं तथा मार्ग में चलते हुए अपने शरीर को जो दिखाते हैं अर्थात् देखने वाले लोगों से किसी प्रकार की सहायता की इच्छा नहीं करते, किन्तु यही चाहते हैं कि दर्शक लोग भी इसी तरह पद विहार करने वाले हों। इस प्रकार चर्यापरिषह को सहन करने वाले साधु जयवंत रहें॥४३॥

[४४]

विदचलीकृतचञ्चलमानसः, प्रगतमोहतरङ्गसुमानसः।

बहुदृढासनसंयतकायक, स्तदनुपालितजीवनिकायकः।।

विदिति - मुनयः कथंभूता भवन्तीत्याह- विदचलीकृतचञ्चलमानसः विदा ज्ञानेन अचलीकृतं स्थिरीकृतं चञ्चलमानसं च लचेतो येन तथाभूतः। प्रगतमोहतरङ्गसुमानसः प्रगतः प्रणष्टोः मोहतरङ्गो यस्मात् तथाभूतं सुमानसं यस्य तथाभूतः मोहविकल्परहितहृदयः। बहुदृढासनसंयतकायकः बहुदृढेनातिस्थिरेणासनेन संयतः स्ववशीकृतः कायो देहो येन तथाभूतः स्थिरासन इत्यर्थः। तदनुपालितजीवनिकायकः तेन स्थिरासनेनानुपालितः सुरक्षितो जीवनिकायः प्राणिसमूहो येन तथाभूतः एवंभूता मुनयो निषद्यापरिषहजेतारो भवन्ति ॥४४॥

अर्थ - निषद्यापरिषह सहन करने वाले मुनि कैसे होते हैं? - ज्ञान के द्वारा जिन्होंने चञ्चल मन को स्थिर कर लिया है जिनका हृदय मोहरूप तरङ्गों-मोहजनितविकल्पों से रहित है, अत्यन्त दृढ़ आसन से जिन्होंने शरीर को स्वाधीन कर लिया है और दृढ़ आसन होने से जिन्होंने जीव समूह की रक्षा की है, ऐसे मुनि निषद्यापरिषह को जीतने वाले होते हैं ॥४४॥

[४५]

चरणमोहकबन्धनहानये, रुचिमितश्च सदालसहा नये।

नदतटे च नगे विहितासन, ऋषिगणो जयताच्च्युतवासनः।।

चरणेति - चरणमोहश्चारित्रमोह एव चरणमोहकः स एव बन्धनं तस्य हानये निराकरणाय नये व्यवहारचारित्रमार्गं रुचिमिच्छं श्रद्धां वा इतो गतः। सदालसहा सदा सर्वदा, आलसहा आलसं प्रमादं हन्तीति आलसहा। नदतटे सरितीरे नगे पर्वते च विहितासनः कृतनिषद्यः। च्युतवासनः च्युता वासनः विषयसंस्कारो यस्य तथाभूतः

ऋषिगणो मुनिसमूहो जयतात् सर्वोत्कर्षेण वर्तताम् ॥४५॥

अर्थ - चारित्रमोह रूप बन्धन का निराकरण करने के लिये जो व्यवहारचारित्ररूप नीतिमार्ग में रुचि—इच्छा अथवा श्रद्धा को प्राप्त हैं, सदा आलस को नष्ट करते रहते हैं, नदी, तट अथवा पर्वत पर आसून लगाते हैं तथा जिनकी विषयवासना छूट चुकी है ऐसे मुनियों का समूह जयवन्त रहे ॥४५॥

[४६]

इह पुरागतकेऽस्य च योगता, मुपगताः स्वपदं मुनयो गताः।

इति मतं नुतसाधुबुधार्थ! ते, यदिति सज्जगताप्यवधार्यते।।

इहेति - हे नुतसाधुबुधार्थ! साधुबुधैर्नुतो नुतसाधुबुधः, स चासावार्थश्वेति नुतसाधुबुधार्थस्तत्सम्बुद्धौ हे साधुजनवन्दित! पूज्य! इहात्र लोके। अथवा इह वर्तमानकाले पुरागतके च अतीता नागतकाले च। अस्य निषद्यापरिषहस्य मध्ये योगतां ध्यानतामुपगताः प्राप्ता मुनयः स्वपदमात्मस्थानं मुक्तिधाम गताः प्राप्ताः। इति ते भवतो यत् मतं दर्शनं सिद्धान्तो वा तद् सज्जगतापि सल्लोकेनापि। इतीत्यमेव अवधार्यते निश्चीयते। 'योगः संनाहसंधानसङ्गतिध्यानकर्मणि' इति विश्वलोचनः ॥४६॥

अर्थ - यहां वर्तमान, भूत और भविष्यत् काल में जो मुनि इस निषद्यापरीषह के मध्य ध्यानता को प्राप्त हुए वे स्वपद—आत्मपद—मुक्तिधाम को प्राप्त हुए हैं, ऐसा जो आपका मत था वह अब भी विद्यमान जगत् के द्वारा इसी प्रकार माना जाता है ॥४६॥

[४७]

विमुख! किं बहुना निजभावतः, सभय! हे शृणु चेद् यदि भावतः।

इह युतोऽप्यमुना नतिमागत, ऋषिवरैः श्रय तच्च समा गताः।।

विमुखेति - बहुना किम्? अतिनिरूपणेन को लाभः? निजभावतोः निजस्वभावात् हे विमुख! हे पराङ्मुख! हे सभय! हे संसाराद् भीरो! चेद् त्वं निजभावतो विमुखोऽसि, यदि संसारात् सभयोऽसि च, तर्हि भावतो विशुद्धपरिणामात् शृणु समाकर्ण्य। इह जगति अमुना निषद्यापरिषहजयेन युतः सहितोऽपि मुनिः ऋषिवरैर्मुनिश्रेष्ठैः नतिं नमस्कृतिं आगतः प्राप्तः। अतस्त्वमपि तच्च निषद्यापरिषहजयनं श्रय सेवस्व, निषद्यापरिषहजयं विधेहीत्यर्थः। समा वर्षाः गताः व्यतीताः। आयुषो विपुलः समयो व्यपगत इत्यर्थः 'हायनोऽस्त्री शरत्समा' इत्यमरः ॥४७॥

अर्थ - अधिक कहने से क्या लाभ है? यदि तू निज स्वभाव से विमुख हो रहा है और यदि चतुर्गति रूप संसार से भयभीत है तो शुद्धभाव से सुन! इस जगत् में जो इस

निषद्यापरिषहजय से सहित है वह भी मुनिवरो से नमस्कार को प्राप्त हुआ है। तू भी उस परिषहजय का आश्रय ले, जीवन के अनेक वर्ष निकल गये हैं ॥४७॥

[४८]

श्रममितः श्रमणोऽत्र भुवि श्रुते, तपसि तत्परतः खलु विश्रुते।
इति मतं निशि यः श्रयते यते-रतिशयं तु जिनाशय! तेऽयते ॥

श्रममित इति - अत्र भुवि अस्यां वसुधायां श्रुते श्रुताभ्यासे विश्रुते प्रख्याते तपसि तपश्चरणे च तत्परतः समुद्यतत्वात् श्रमं खेदं इतः प्राप्तः यः श्रमणः साधुः निशि रात्रौ श्रयते सेवते शय्यामिति शेषः। स तु श्रमणः हे अशय! शयनक्रियारहित! हे जिन! यतेः मुनिरूपस्य ते भवतः। अतिशयं प्रभावम् भवत्तुल्यप्रभावं अयते प्राप्नोति। इतीत्थं मतं दर्शनमस्तीति शेषः ॥४८॥

अर्थ - इस वसुधा पर शास्त्राभ्यास और प्रख्यात तप में तत्पर रहने से खेद को प्राप्त हुआ जो सांध्य रात्रि में शय्या का आश्रय लेता है वह हे शयनरहित जिनेन्द्र! यति-मुनिरूप आपके अतिशय को प्राप्त होता है, ऐसा सिद्धान्त है ॥४८॥

[४९]

तृणशिलाफलके च सकारणं, भुवि तुरीयव्रतोन्नतिकारणम्।
न हि दिवा शयनं निशि यामकं, स कुरुते मुनिको विनियामकम् ॥

तृणेति शयनं कुत्र कथं वा करणीयमिति स्पष्टीकरोति। सकारणं स्वाध्यायादिजनितखेद निवारणरूपकारणसहितं तुरीयव्रतोन्नतिकारणं तुरीयश्चतुर्थं यमो ब्रह्मचर्यमहाव्रतं तस्योन्नतेः कारणं निमित्तम्। तथाभूतं शयनं भुवि पृथिव्यां तृणशिलाफलके च तृणाः पलालादयस्तृणनिर्मितकटप्रभृतयश्च शिला पाषाणपट्टः फलकः काष्ठमञ्जिका च एषां समाहारद्वन्द्वः एषु शयनं कर्तव्यम्। दिवा दिवसे शयनं न हि कर्तव्यम्। स मुनिकः षष्ठगुणस्थानवर्ती मुनिः विनियामकं स्वच्छन्दं यामकं अधिकयामपर्यन्तं न हि कुरुते नो विदधाति। रात्रावपि स्वल्पकालपर्यन्तं शयनं करोतीत्यर्थः ॥४९॥

अर्थ - षष्ठगुणस्थानवर्ती मुनि स्वाध्यायादिजनित खेद को दूर करने तथा ब्रह्मचर्य व्रत की उन्नति के लिये पृथिवी, तृण, शिला अथवा काष्ठफलक पर शयन करते हैं। दिन में शयन नहीं करते और रात्रि में भी स्वच्छन्दता पूर्वक अधिक समय तक शयन नहीं करते ॥४९॥

[५०]

स उपसर्ग इहाजगता सुरै, जडजनै गुणिभिर्महताऽसुरैः।

निशि न चैति मुनिस्तु पदान्तरं, ह्यविचलं सत एव सदान्तरम् ॥

स इति - इह भुवि, अजगता अजङ्गमेन अचेतनपदार्थेनेति यावत् 'जगद्वाते पुमान् क्लीबे भुवने जङ्गमे त्रिषु' इति विश्वलोचनः। सुरैर्देवैः जडजनैरज्ञानिमानवैः गुणिभिः मतविद्वेषिभिः पण्डिताभासैः। महता राज्येन 'महद्राज्ये नपुंसकम्' इति विश्वलोचनः। असुरैर्दानवैः। उपसर्गो उपद्रवे कृते सति स मुनिः निशि नक्तं पदान्तरं स्थानान्तरं न चैति न च गच्छति। सत एव तत्रैव निश्चितस्थान एव सतो विद्यमानस्य मुनेः अन्तरं अन्तःकरणं सदा सर्वदा हि निश्चयेन अविचलं स्थिरमेव भवतीति शेषः ॥५०॥

अर्थ - पृथिवी पर अचेतन, देव, अज्ञानिमानव, मन से द्वेष रखने वाले गुणीजन, राज्य अथवा दानवों के द्वारा उपसर्ग किये जाने पर मुनि रात्रि में दूसरे स्थान पर नहीं जाते। उसी स्थान पर रहते हुए उन मुनि का अन्तःकरण अविचल रहता है ॥५०॥

[५१]

विजितनिद्रक एव सदा दरं, त्यजति चेदमरर्द्धिसदादरम्।

यदुपपत्तययिच्छितभोजनं, रसयुतं प्रजहाति च भो! जन ॥

विजितेति - शय्यापरिषहविजयाय श्रमणं समुपदिशत्याचार्यः भो जन! हे निर्ग्रन्थश्रमण! विजितनिद्रक एव विजिता निद्रा येन तथाभूत एव सदा सर्वदा दरं भयं त्यजति। चेद्यदि शय्यापरिषहविजयमिच्छसि तर्हि अमरर्द्धिसदादरम् अमराणामृद्धिषु यः सदादरं समीचीन आदरभावस्तं त्यजति मुञ्चति यदुपपत्तये यस्य शय्यापरिषह जयस्योपपत्तये संपादनाय रसयुतं षड्रससहितं इच्छितभोजनं अभिलषितभोजनं च प्रजहाति त्यजति ॥५१॥

अर्थ - हे साधुजन ! निद्रा को जीतने वाला ही सदा भय को छोड़ता है तथा देव सम्बन्धी वैभव में समीचीन आदरभाव का परित्याग करता है। शय्यापरिषहजय की उपपत्ति-प्राप्ति के लिये रसीले इच्छित भोजन का भी त्याग करता है ॥५१॥

[५२]

ससमयश्च मुनेश्शयनं हितं, शयनमेवमटेच्छयनं हि तत् ।

समुदितेऽप्यरुणे ह्युदयाचलेऽप्युदलो न हि खे सदयाऽचलेत् ॥

ससमयमिति - हे सदय ! दयया सहितः सदयः सकृपस्तत्सम्बुद्धौ। ससमयं समयानुरूपं शयनं स्वापो मुनेः साधोः हितं हितकरं भवति। एवमित्थं शयनं स्वाप एव तत्

प्रसिद्धं शयनं शय्यां निश्चयतः अटेत् प्राप्नुयात् । हि यतः । उदयाचले अरुणे सूर्ये समुदिते सति उडुदलो नक्षत्रसमूहः खे विहायसि न हि आचलेत् आसमन्तात् चलेत् लुप्तो भवेदित्यर्थः ॥

अर्थ - हे सदय! दयायुक्तसाधो! समयानुरूप शयन मुनि के लिये हितकारी है। इस तरह शयन ही शयन (शय्या) को प्राप्त होता है। उचित ही है क्योंकि उदयाचल पर सूर्य के उदित होने पर नक्षत्र- समूह आकाश में सब ओर नहीं चलता किन्तु अस्त हो जाता है ॥५२॥

[५३]

उपगता अदयैरुपहासतां, कलुषितं न मनो भवहाः ! सताम् ।

शमवतां किमु तत् बुधवन्दनं, न हि मुदेऽप्यमुदे जडनिन्दनम् ॥

उपगता इति - हे भवहाः! भवं संसारं जहातीति भवहास्तत्सम्बुद्धौ क्विबन्तः प्रयोगः। सन्तः सत्पुरुषाः अदयैर्यारहितैर्जनैः। उपहासतामनादरतामुपगताः प्राप्ताः तथापि सतां साधूनां मनश्चित्तं कलुषितं मलिनं न भवतीति शेषः। तत् प्रसिद्धं बुधवन्दनं बुधैर्विद्वद्भिः कृतं वन्दनं बुधवन्दनं विद्वज्जननमस्कारः शमवतां साधूनां किमु? किमस्ति न किमपीत्यर्थः। तेषां शमवतां साधूनां जडनिन्दनमज्जनकृतनिन्दनं न हि मुदे हर्षाय न हि अमुदे हर्षाभावाय भवतीति शेषः ॥५३॥

अर्थ - सत्पुरुष, निर्दय मनुष्यों के द्वारा उपहास—अनादर को प्राप्त होते हैं परन्तु उससे उनका मन कलुषित नहीं होता। विद्वानों का नमस्कार साधुओं के लिये क्या है? अर्थात् कुछ भी नहीं है तथा अज्ञानीजनों के द्वारा की हुई निन्दा न उनके हर्ष के लिये होती है और न अहर्ष—अप्रीति के लिये ॥५३॥

[५४]

कटुककर्कशकर्णशुभेतरं, प्रकलयन् स इहासुलभेतरम् ।

वचनकं विबुधस्त्विव विश्रुतिर्बलयुतोऽप्यबलश्च भुवि श्रुतिः ॥

कटुकेति - आक्रोशपरिषहं सहमानो मुनिः कीदृग् भवतीत्याह-सः विबुधो विशिष्टज्ञानी मुनीश्वरः इह जगति असुलभेतरं सुलभं कटुककर्कशकर्णशुभेतरं कटुकं मर्मभेदि, कर्कशं कठोरं कर्णयोः शुभेतरमशुभं वचनकं निन्द्यं वचनं वचनकं विश्रुतिरिव वधिर इव प्रकलयन् गणयन् उपेक्षत इति शेषः। अत एव भुवि पृथिव्यां इति श्रुतिः प्रसिद्धा यदसौ मुनीश्वरः बलयुतोऽपि अबलो बलहीनः प्रतीयत इति ॥५४॥

अर्थ - आक्रोशपरिषह को सहन करने वाले ज्ञानी मुनिराज इस जगत् में सुलभ,
(२४१)

कटुक, कठोर और कानों के लिये अप्रिय निन्द्यवचन की ऐसी उपेक्षा करते हैं मानों उन्होंने सुना भी न हो, बहरे हों। इसीलिये पृथिवी पर ऐसी श्रुति प्रसिद्ध हुई कि वह बलसहित होकर बलरहित थे ॥५४॥

[५५]

गतमलो विरसस्त्विति कारणात्, वचनतः पृथगस्मि च कारणात् ।
मम न हानिरतोऽस्तु सुचिन्तति, प्रलभतेऽत्र मुनेः स्वशुचिं ततिः ॥

गतमल इति - यतश्चाहं गतमलो मलरहितः विरसो रसरहितश्चास्माति कारणात् हेतोः वचनतो दुष्टजनवचनात् कारणाच्च वधाच्च 'कारणं हेतुवधयोः पीडायां करणेऽपि च' इति विश्वलोचनः। पृथगस्मि पृथग्भूतोऽस्मि। अतो वचनाच्छारीरिकवधाच्च मम मुनेः हानिर्नाशो नास्तु, ना भवतु। इति सुचिन्तति सुविचारयति निर्ग्रन्थश्रमणः। उपर्युक्तचिन्तनेन मुनेः साधोः ततिः समूहः। अत्र जगति स्वशुचिमात्मपवित्रतां प्रलभते प्रकर्षेण प्राप्नोति ॥५५॥

अर्थ - मैं मल से रहित हूँ और रस से रहित हूँ, इस कारण दुष्टजन के वचन तथा कारण—वध से मेरी कुछ भी हानि नहीं है, ऐसा चिन्तवन करते हैं। इस प्रकार के चिन्तन से मुनियों का समूह आत्मशुद्धि को अच्छी तरह प्राप्त होता है ॥५५॥

[५६]

कुमतिभिर्दलितोऽपि सखेदितः, सुपथवञ्चित एव सखेऽर्दितः ।
अविरतो विमुखः प्रतिकारतः, जयतु यस्य स वै समकारतः ॥

कुमतिभिरिति - कुमतिभिर्मिथ्यामतिभिः दलितोऽपि पीडितोऽपि सखेदितः खेदखिन्नोऽपि, सुपथवञ्चित एव सुमार्गपरिभ्रष्ट एव सखे कुशसहिते वनक्षेत्रे अर्दितः दुःखीकृतोऽपि योऽविरतः स्वात्मध्यानाद् विरतो न भवति। प्रतिकारतः निराकरणकार्यदि विमुखः पराङ्मुखो भवति। समकारतो माध्यस्थ्यभावात् वै निश्चयेन यस्यैवंभूता परिणतिरस्ति स आक्रोशपरिषहजयी जयतु जयवान् भवतु ॥५६॥

अर्थ - यदि मुनिराज मिथ्यादृष्टियों — मतद्वेषी लोगों के द्वारा खिन्न किये जाते हैं, तथा समीचीन मार्ग भूलकर लुश तथा कंटकाकीर्ण वनक्षेत्र में चलकर खेद पतिते हैं तो भी वे अपने गृहीतमार्ग—संयम की साधना से विरत नहीं होते हैं। आयी विपत्ति का प्रतिकार भी नहीं करते। समताभाव से युक्त रहते हैं ऐसे मुनि जयवन्त रहें ॥५६॥

[५७]

फलमिदं तु पुराकृतशावरे, समुदिते न पराकृतशावरे।

इह परे प्रभवो व्यवहारतः, स मनुते हि निजेऽब्रतहा रतः।।

फलमिति - पुराकृतशावरे पुराकृतं पूर्वजन्मकृतं यत् शावरं पापं तस्मिन् समुदिते सति उदयागते सति इदं फलं उपसर्गरूपं प्राप्तं। पराकृतशावरे परेण आसमन्तात् कृतं विहितं शावरमपराधस्तस्मिन् सति न तु प्राप्तम्। इह जगति परेऽन्यस्मिन् प्रभवः प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणमिति कथनं व्यवहारत उपचाराद् भवति। हि निश्चयेन निजे स्वात्मनि रतो लीनः अब्रतहा अब्रतं हन्तीति अब्रतहा स मुनिः एवं मनुते मन्यते। 'शावरो लोध्वृक्षे स्यात्तथा पापापराधयोः' इति विश्वलोचनः।।५७।।

अर्थ - यह उपसर्गरूप फल पूर्वकृत पाप के उदित होने पर प्राप्त हुआ है न कि अन्यकृत अपराध के होने पर। इस जगत् में परपदार्थ में जो कारण का कथन होता है वह व्यवहार— उपचार से होता है। निजात्मा में लीन साधु ऐसा मानते हैं।।५७।।

[५८]

तनुरुषोऽरुणताऽशुचिसागरा, वधमिता भवदाशु च सागरा ।

मम ततः क्षतिरस्ति न काचन, चरणबोधदृशो ध्रुवकाश्च न !।।

तनुरिति - हे न! जिन! मम मुनेः सा तनुः मूर्तिः शरीरमित्यर्थः। उषोऽरुणता उषसः प्रत्यूषकालस्यारुणता लालिमा प्रातःकालिकलालिमवत्क्षणभङ्गुरास्ति। अशुचिसागरा अशुचैरपवित्रायाः सागरः सिन्धुर्यस्यां तथाभूतास्ति आशु शीघ्रं च भवदा भवं संसारं ददातीति भवदा संसारवर्धिनी अथवा भवं पर्यायं द्यति खण्डयतीति भवदा वर्तमानपर्यायनाशकरी अस्ति। किञ्च आगरा आसमन्तात् गरो विषं गरं रोगो वा यस्यां तथाभूतास्ति। एवंभूता तनुर्यदि वधं विनाशं इता प्राप्ता तर्हि ततस्तनुवधात् मम काचन कापि क्षतिर्हानिर्नास्ति न विद्यते। किञ्च मम चरणबोधदृशः चरणं च बोधश्च दृक् च चरणबोधदृशः चारित्रज्ञानसम्पद्दर्शनानि ध्रुवका नित्याः सन्ति। तनुविनाशोऽपि रत्नत्रयविनाशो न भवतीत्यर्थः।।५८।।

अर्थ - वध का प्रसङ्ग आने पर साधु ऐसा विचार करता है कि हे जिन! मेरा वह शरीर प्रातःकाल की लालिमा है। अशुचिता का सागर उसमें लहरा रहा है, भव को देने वाला है अथवा वर्तमान पर्याय को नष्ट करने वाला है और सब ओर से विषरूप अथवा रोगों से सहित है। ऐसा शरीर यदि वध को प्राप्त हो रहा है तो इससे मेरी कुछ भी हानि नहीं है क्योंकि मेरे दर्शन, ज्ञान और चारित्र ध्रुवरूप हैं - नष्ट नहीं हुए हैं।।५८।।

[५९]

विविधकर्मलयास्रवहेतवः, किल हिताहितका जड हे! तव ।

पथि सतीति मुनेर्मुनिचालकाः, सुकथयन्त्यनघाघविचालकाः ॥

विविधेति - हे जड! हे अज्ञात्मन्! ये विविधकर्मलयास्रवहेतवः विविधानामनेकप्रकाराणां कर्मणां लयास्रवयोः संवरास्रवयो हेतवः कारणभूताः सन्ति त एव किल निश्चयेन सति प्रशस्ते मार्गे मोक्षमार्गे तव मुनेः साधोः हिताहितकाः हिताश्चाहिताश्च हिताहिताः स्वार्थे कः हिताहितकाः सन्ति। इतीत्थं अनघाघविचालकाः पुण्यपापविचारकाः रलयोरभेदात् प्रयोगः। मुनिचालका मुनीनां चालका मुनिसङ्घप्रवर्तका आचार्या इत्यर्थः सुकथयन्ति निरूपयन्ति। वधकर्तृषु शत्रुबुद्धिर्न कार्यति भावः ॥५९॥

अर्थ - वध का प्रसङ्ग आने पर मुनि इस प्रकार आत्मसंबोधन करते हैं- हे अज्ञ आत्मन्! नाना प्रकार के कर्मों के संवर और आस्रव में कारणभूत जो भाव हैं वे ही यथार्थतः कल्याणमार्ग में तेरे मित्र और शत्रु हैं। अर्थात् जो संवर के कारण हैं वे हित रूप हैं और जो आस्रव के कारण हैं वे अहितरूप हैं। इस तरह पुण्य-पाप का विचार करने वाले आचार्य कहते हैं ॥५९॥

[६०]

वसतिकाप्रभृतेर्नहि याचना—मृषिरिहायति दीनतया च ना !

यदनया लयते निजतन्त्रता, न भजिता विदुषा परतन्त्रता ॥

वसतिकेति - इहात्र जगति ऋषिः मुनिपदविभूषितो ना पुरुषः 'ना पुमान् पुरुषो गोधा' इति धनंजयः। दीनतया दैन्येन वसतिकाप्रभृतेः निवासस्थानादेः याचनां याञ्चानायति न प्राप्नोति न करोतीत्यर्थः। यद् यस्मात् कारणात्। अनया याचनया निजतन्त्रता स्वाधीनता लयते विनश्यति विदुषा विपश्चिता परतन्त्रता न भजिता न सेविता ॥६०॥

अर्थ - इस जगत् में ऋषिपदधारी मनुष्य दीनता से वसतिका आदि की याचना नहीं करता क्योंकि इस याचना से स्वाधीनता नष्ट हो जाती है। तथा विद्वान् के द्वारा परतन्त्रता का सेवन नहीं होता ॥६०॥

[६१]

यदनुवृत्ति ऋषिं हि सदोषतां, नयति चैव लयं गतदोषताम् ।

उडुपतिर्ग्रसितो निशि केतुना, त्विति विचिन्त्य वसेन्नजके तु ना ॥

यदनुवृत्तिरिति - यदनुवृत्तिः यस्या याचनाया अनुवृत्तिर्यदनुसरणम् ऋषिं मुनिं

सदोषतां दोषसहिततां नयति प्रापयति, गतदोषतां निर्दोषतां च लयं विनाशं नयति। तदेदोदाह्रियते—निशि नक्तम् उडुपतिश्चन्द्रः केतुना राहुणा ग्रसितः सन् यथा सदोषतां याति तथा याचनया ग्रसितो मुनिः सदोषतां याति। इति विचिन्त्य ना पुरुषः निजके निजात्मनि वसेत् निवासं कुर्यात् । तु पादपूर्त्यर्थः ॥६१॥

अर्थ - याचना का अनुसरण साधु को सदोषता प्राप्त कराता है और निर्दोषता को नष्ट करता है। जिस प्रकार रात्रि में राहु के द्वारा ग्रसित चन्द्रमा सदोषता को प्राप्त होता है उसी प्रकार याचना से ग्रसित साधु सदोषता को प्राप्त होता है। ऐसा विचारकर मनुष्य को निजात्मा में ही निवास करना चाहिये ॥६१॥

[६२]

सुकुफलं मिलतीह नियोगतः, स्वयमयाचितकं विधियोगतः ।

अथ मुने! भव हे त्वमयाचक—श्चलिततत्त्वविधिर्भुवि याचकः ॥

सुकुफलमिति - इह जगति विधियोगतः कर्मयोगतः सुकुफलं प्रशस्ताप्रशस्तफलम् अयाचितकम् अप्रार्थितं नियोगतः नियमेन स्वयं स्वतः मिलति प्राप्यते। अतः हे मुने! त्वम् अयाचको भव याचनकर्ता नो भव। अथ पक्षान्तरे यदि भुवि याचको याचनकर्ता भवसि तर्हि त्वं चलिततत्त्वविधिः वस्तुतत्त्वश्रद्धानरहितो भवे। सुखदुःखप्राप्तिः स्वकर्मोदयाधीना भवतीति निश्चेतव्यम् ॥६२॥

अर्थ.- इस जगत् में कर्मयोग से अच्छा—बुरा फल नियम से स्वयं मिलता है। अतः हे मुने! तुम अयाचक रहो किसी वस्तु की याचना न करो। इसके विपरीत यदि याचक होते हो तो निश्चित ही तुम तत्त्वश्रद्धा से विचलित होगे ॥६२॥

[६३]

व्रजति चैव मुनिर्मृगराजतां, जितपरीषहको मुनिराजताम् ।

इति न चेल्लघुतामुपहासतां, सुगत एव गतोऽशुभहा सताम् ॥

व्रजतीति - जितपरीषहकः जिताः परीषहा येन स तथाभूतो मुनिः मृगराजतां सिंहतां स्वनिर्भरतां स्वतन्त्रतामित्यर्थः मुनिराजतां मुनीनां राजा मुनिराजस्तस्य भावस्तां श्रेष्ठमुनितां चैव नियमेन व्रजति प्राप्नोति। चेत् यदि, इति न स्यात् परिषहजयी न स्यात् तर्हि अशुभहा अशुभं हन्तीति अशुभहा अशुभयोगापहारको मुनिः सुगतः सुज्ञानोऽपि लघुतां हीनतां सतां सत्पुरुषाणां मध्ये उपहासतां हास्यास्पदत्वं च एव नियमेन गतः प्राप्तः। परीषहविजयी साधुषु स्वगौरवं रक्षति श्रेष्ठतां च प्राप्नोति। अन्यथा साधुषु हीनतां हास्यं च गच्छतीत्यर्थः ॥६३॥

अर्थ - परिषहों को जीतने वाला मुनि ही सिंह के समान स्वात्मनिर्भरता और मुनियों के आधिपत्य को प्राप्त होता है। यदि इसके विपरीत है तो अशुभ को नष्ट करने वाला मुनि ज्ञानी होने पर भी लघुता और सत्पुरुषों के बीच उपहास को प्राप्त होता है॥६३॥

[६४]

अनियतं विहरन्नपि स क्षमः, शृणु कृतानशनः खलु सक्षमः ।

अलभमान ऋषिर्ह्यशनं कर ! सुलभमान इवाऽऽवदनंकरः ॥

अनियतमिति - हे कर! कं सुखं राति ददातीति करस्तत्सम्बुद्धौ हे कर! हे सुखद! सक्षमः क्षमया तितिक्षया सहितः स मुनिः । अनियतं नियमरहितं यथा स्यात्तथा जात्वधिकं जातुचिदल्पमित्यर्थः विहरन्नपि विहारं कुर्वन्नपि, कृतानशनोऽपि कृतमनशनं येन कृतोपवासोऽपि खलु निश्चयेन क्षमः समर्थः शक्तिसंपन्नो भवतीति शृणु समाकर्णय । हि यतो निश्चयेन वा अशनमाहारम् अलभमानोऽप्राप्नुवानः ऋषिः साधुः सुलभमान इव सुष्ठुरूपेणाहारं प्राप्नुवान इव आवदनंकरः आसमन्तात् वदनं करोतीति तथाभूतः प्रसन्नवदन इत्यर्थो भवतीति शेषः ॥६४॥

अर्थ - हे कर! हे सुखद! सुनो क्षमाधर्म से विभूषित मुनि अनियत विहार करते हुए तथा उपवास से युक्त होते हुए भी अपनी दिनचर्या में समर्थ रहते हैं। आहार न मिलने पर भी उनका मुख आहार मिलने वाले के मुख के समान अत्यन्त प्रसन्न रहता है॥६४॥

[६५]

रसयुते मिलिते न हि नीरसे, परिगतो विरतिं स मुनीरसे ।

प्रमुदितः क्षुभितो न हि मे विधेः, प्रतिफलं त्विति वै मनुते विधे ! ॥

रसेति - हे विधे! हे विधातः! रसे घृतदुग्धादौ विरतिं विरक्तिं परिगतः प्राप्तः स मुनिर्यतिः रसयुते घृतदुग्धादिरससहिते नीरसे रसेभ्यो निष्क्रान्त इति नीरसस्मिन् रसरहिते आहारे मिलिते प्राप्ते सति प्रमुदितः प्रहृष्टः क्षुभितः प्राप्तक्षोभो न हि भवतीति शेषः । तु किन्तु प्राप्ताहारो मे मम विधेः कर्मणः प्रतिफलं वर्तते। कर्मोदयानुरूपं हि सरसं नीरसं भोजनं प्राप्यते। इतीत्थं वै निश्चयेन मनुते मन्यते - जानातीत्यर्थः ॥६५॥

अर्थ - हे विधातः! घृतदुग्धादिरसों में विरक्ति को प्राप्त हुआ मुनि सरस अथवा नीरस आहार के मिलने पर प्रसन्न अथवा कुपित नहीं होता। किन्तु यह हमारे कर्म का फल है, निश्चय से ऐसा मानता है॥६५॥

[६६]

श्रुतिसुधामशनं समितातपः, स समुपात्ति शमी शमित्तातप!

उपरि दृश्यत एव सदाऽसुखी, कृशतनु ह्यतनौ विमदा सुखी ।।

श्रुतीति— हे शमित्तातप! शमी जितेन्द्रियो यस्तातोऽनुकम्प्यस्तं पाति रक्षतीति शमि-तात-पस्तत्सम्बुद्धौ 'तातोऽनुकम्प्ये' इति विश्वलोचनः। जितेन्द्रिय शिष्यसंरक्षक! इति यावत्। शमी लोकोत्तरशान्तियुक्तः स मुनिः श्रुतिसुधां शास्त्रामृतं समितातपः सम्यक्तपश्च अशनमाहारंसमुपात्ति सम्यक्प्रकारेण भुङ्क्ते। आहारालाभेऽपि स शास्त्रसुधापानं करोति तपश्चरणरूपमशनं च खादतीत्यर्थः। स उपर्येव सदा कृशतनुः कृशकायः असुखी दुःखी च दृश्यते। अतनौ न तनुरतनुस्तस्यामात्मनीति यावत् विमदो मदातीतः सुखी सुखयुक्तश्च भवतीति शेषः।।६६।।

अर्थ - हे शमि-तात-प! हे जितेन्द्रिय-दयापात्र शिष्यों के रक्षक भगवन्! लोकोत्तर शान्ति से युक्त वे मुनिराज शास्त्ररूपी सुधा और सम्यक् तपरूप आहार का अच्छी तरह उपभोग करते हैं। कृश शरीर वाले वे मुनि बाहर से ही सदा दुःखी दिखाई देते हैं। आत्मा में तो मद रहित सुख सम्पन्न ही रहते हैं।।६६।।

[६७]

बुधनुतः स मुनिप्रवरो गतः, सभयतां नितरां भवरोगतः ।

न हि बिभेति सुधीस्तनुरोगतः, स्तुतिरतो जिन! ते गतरोगतः ।।

बुधेति - हे जिन! हे अर्हन्! भवरोगतो भव एव रोगस्तस्मात् जन्मजरामरणरूपसंसाररोगात् नितरामत्यन्तं सभयतां भीरुतां गतः प्राप्तः। बुधनुतो बुधैर्विद्वद्भिर्नुतः स्तुतः सुधीः सुबुद्धिः स मुनिप्रवरो मुनिश्रेष्ठः। तनुरोगतः शरीररोगाद् न हि बिभेति त्रस्यति। गतरोगतो रोगरहितस्य ते तव स्तुतौ स्तवने रतो लीनो भवतीति शेषः।।६७।।

अर्थ - हे जिन! जन्मजरामरणरूपसंसार सम्बन्धी रोग से अत्यन्त भय को प्राप्त, बुधस्तुत श्रेष्ठ मुनि शरीरसम्बन्धी रोग से भयभीत नहीं होता। वह तो रोगरहित होने से आपकी भक्ति में लीन रहता है ।।६७।।

[६८]

विधिदलाः बहुदुःखकरामया, बहव आहुरपीह निरामयाः ।

अशुचिधामनि चैव निसर्गतः, क्षरणमेव विधेरुपसर्गतः ।।

विधीति - निसर्गतः स्वभावादेव अशुचिधामनि अपवित्रास्थाने इह शरीरे बहवो

भूयांसो बहुदुःखकरामयाः प्रचुरदुःखकारिरोगाः विधिदलाः कर्मसमूहाः सन्ति। इति निरामया रोगरहिता जिना आहुः कथयन्ति। अत उपसर्गत् उत्पातात् विधेः कर्मणः क्षरणं निर्जरणमेव भवति ॥६८॥

अर्थ - स्वभाव से ही अपवित्रता के स्थानभूत इस शरीर में अनेक दुःखप्रद रोगों को करने वाले कर्मसमूह विद्यमान हैं, ऐसा रोगरहित जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं। उपसर्ग से तो कर्म की निर्जरा ही होती है ॥६८॥

[६९]

सुरभिचन्दनलेपनरञ्जनात्, विरहितोऽपि सुधीर्मुनिरञ्जनात् ।

अनघभेषजकं तु विधेयकं, भजतु रोगलयाय विधेऽयकम् ॥

सुरभीति - अयकम् एष सुधीः प्रज्ञावान् मुनिः सुरभिचन्दनलेपनरञ्जनात् सुरभिचन्दनस्य सुगन्धिमलयजस्य लेपनेन यद् रञ्जनं रागस्तस्मात्। अञ्जनात् नयनकज्जलाद् विरहितोऽपि रोगलयाय रोगविनाशाय विधेयकं कर्तुयोग्यम् अनघभेषजकं निर्दोषौषधं भजतु सेवताम् हे विधे! इति सम्बोधनम् ॥६९॥

अर्थ - हे विधे! यह विवेकवान् मुनि, सुगन्धित चन्दन के विलेपनरूप अङ्गराग तथा नेत्रों के कज्जल से रहित होने पर रोग का नाश करने के लिये योग्य निर्दोष औषध का सेवन कर सकता है ॥६९॥

[७०]

ध्रुवममुं मुनिना भजतामितं, सुकृतजं निजकं स्ववता मितम् ।

प्रणिहितं बहुना किमु सादरं, विजहतं श्रय तं सहसा दरम् ॥

ध्रुवमिति - ध्रुवं नित्यं निजकं स्वात्मानं स्ववता सुष्ठु प्रकारेण अवता सरक्षता, अमुं रोगपरिषहं भजता प्राप्नुवता ततश्च सकृतजं पुण्योद्भूतं मितं स्वर्गादिजमल्पं पुनश्च अमितं सीमातीतं निजकमात्मसुखं भजता सेवमानेन मुनिना प्रणिहितं धृतं अमुं तं रोगपरिषहं सादरं यथा स्यात्तथा श्रय प्राप्नुहि। तं प्रसिद्धं दरं भयं सहसा झटिति विजहतं त्यजत। बहुना किमु? अधिककथनेन किं प्रयोजनम्? ॥७०॥

अर्थ— ध्रुव—नित्य निज आत्मा की रक्षा करते; इस रोगपरिषह को सहते और उसके फल स्वरूप पुण्य से उत्पन्न स्वर्गादिक के मित—सीमित तथा अमित-अपरिमित आत्मसुख को प्राप्त होने वाले मुनि ने जिसे धारण किया है—सहन किया है उस रोगपरिषह को आदरसहित सहन कर और प्रसिद्ध भय को नष्ट कर। अधिक कहने से क्या प्रयोजन है? ॥७०॥

[७१]

यदि तृणं पदयोश्च निरन्तरं, तुदति लाति गतौ मुनिरन्तरम् ।
तदुदितं व्यसनं सहतेऽञ्जसा—हमपि सच्च सहे मतितेजसा ॥

यदीति - यदि चेत् तृणं कण्टकादिकं पदयोश्चरणयोर्निरन्तरं सततं तुदति पीडयति। गतौ गमनेऽन्तरं व्यवधानं लाति ददाति करोतीत्यर्थः तर्हि मुनिस्तदुदितं तृणादिजन्यं व्यसनं दुःखम् अञ्जसा याथार्थ्येन सहते। अहमपि मतितेजसा ज्ञानप्रतापेन तच्च तृणादिस्पर्शजन्यं व्यसनं सहे संवेद्भिः ॥७१॥

अर्थ - यदि कण्टकादि तृण पैरों में निरन्तर पीड़ा करता है और गति में अन्तर—व्यवधान लाता है तो मुनि उससे उत्पन्न कष्ट को वास्तव में सहन करते हैं। मैं भी भेदज्ञान के प्रताप से उस विद्यमान कष्ट को सहन करता हूँ ॥७१॥

[७२]

विकचपुष्पचया विलसन्ति ते, परिवृता अलिभिस्त्विह सन्ति तैः ।
विषमशूलतृणादिहता विधे ! ह्यविकला न चलाः सुगता विधेः ॥

विकचेति - हे विधे! हे ब्रह्मन्! इह जगति तैः प्रसिद्धैः सुगन्धग्राहिभिः अलिभिर्भ्रमरैः परिवृताः परीताः विकचपुष्पचयाः विकसितपुष्पसमूहाः विलसन्ति शोभन्ते । तु किन्तु ते विषमशूलतृणादिहताः तीक्ष्णकण्टकतृणप्रभृतिविद्धा अपि हि निश्चयेन अविकला अव्यग्राः प्रसन्ना इति यावत् सन्ति विद्यन्ते सुगताः सुष्ठु गतं येषां ते स्वप्रमुदिताः ते विधेः स्वकार्यात् चलाः च्युताः न सन्ति। यदा सुकोमलाः पुष्पसमूहा अपि कण्टकादिविद्धाः सन्तो विहसन्ति तदास्माकं कठिनतनूनां का वार्तेति भावः ॥७२॥

अर्थ - तृणस्पर्श आदि-की वाधा उपस्थित होने पर मुनि विचार करते हैं कि हे ब्रह्मन्! इस जगत् में सुगन्धलोभी भ्रमरों से घिरे जो विकसित पुष्पों के समूह सुशोभित हो रहे हैं वे विषम कण्टक तथा तृण आदि से आहत—विद्ध होकर भी दुःखी नहीं होते हैं और न अपने कार्य से विचलित होते हैं ॥७२॥

[७३]

विचरणे शयनासनयोः सतः, सुखमुदेति सुखात् मृगयो! षतः ।
शमसुखोदधिरेव विरागतः, त्वकवते जगते बहिरागतः ॥

विचरण इति - हे मृगयो! हे ब्रह्मन्! 'मृगयुर्ब्रह्मणि प्रोक्तः' इति विश्वलोचनः। षतो गच्छतः सतः साधोः 'सत् साधौ विद्यमानेऽपि' इति विश्वलोचनः विचरणे विहारे शयनासनयोः शयनं चासनं च तयोः सुखात् सुखमुदेति प्रतिक्षणं

सुखमेवोत्पद्यत इति यावत्। विरागतो वैराग्यभावात् शमसुखोदधिशान्तिसुखसागर एव।
अकवते दुःखिने जगते लोकाय बहिरागतः बहिः प्रकटितः। साधोरन्तरात्मनि
यत्प्रशमसुखसागरो वर्तते स दुःखिजनत् सुखीकर्तुमिव बहिरागच्छतीति भावः ॥७४॥

अर्थ - हे ब्रह्मन्! विहार करने वाले साधु के विहार, शयन और आसन में सुख
से सुख ही उत्पन्न होता रहता है अर्थात् कष्ट होने पर भी उनकी प्रसन्नता स्थिर रहती
है। ऐसा जान पड़ता है मानों उनके भीतर जो शम और सुख का सागर लहरा रहा है
वह विरागता के कारण दुःखी संसार को सुखी करने के लिये ही बाहर आ गया है।
॥७३॥

[७४]

यदि कदाचिदतो हृदि जायते, वपुषि चाकुलता विधिजा यतेः ।

न हि विना यदनेन विसातनं, त्विति विधेः समयेऽन्यदसाधनम् ॥

यदीति - यदि कदाचित् जातुचित् यतेः साधोः हृदि मनसि वपुषि शरीरे च विधिजा
कर्मभवा आकुलता वेदना जायते समुत्पद्यते तदा स एवं चिन्तयति यत् अनेन परिषहेण
विना विधेः कर्मणो विसातनं निर्जरणं न हि भवति। समये शास्त्रे अन्यत् परिषहजयात्
भिन्नम् असाधनमहेतुर्निर्जराया इति यावत्। एवं चिन्तयित्वा स मनसो वपुषश्च पीडां
निवारयति ॥७४॥

अर्थ - यदि कदाचित् मुनि के हृदय और शरीर में कर्मोदय से समुत्पन्न
आकुलता होती है तो वह इस प्रकार चिन्तवन करता है कि परिषह के विना कर्म की
निर्जरा नहीं होती। आगम में इसके अतिरिक्त अन्य को निर्जरा का असाधन कहा
है ॥७४॥

[७५]

परिमलं गुणवन्निजभावि त-दचलवस्तु मया किल भावितम् ।

मलमलं हि ततोऽत्र भवस्तुत! मुनिनुतं शुचिवस्तु तु वस्तुतः ॥

परिमलमिति - यद् गुणवत् नैकगुणसंपन्नं निजभाविस्वभावसहितं मया मुनिना
भावितं भावनाविषयीकृतं चिन्तितमित्यर्थः अचलवस्तु अविनश्वरपदार्थ आत्मेति यावत्
तदेव किल निश्चयेन परिमलं चित्तहारिगन्धविशेषः
'भवेत्परिमलश्चित्तहारिगन्धविमर्दयोः' इति विश्वलोचनः। ततस्तस्मात् कारणात् हे
भवस्तुत ! हे लोकस्तुत! अत्र वपुषि मलं मलीमसत्वम् अलं व्यर्थम् मलचिन्ता न
विधेयेति यावत्। तु किन्तु वस्तुतः परमार्थतः मुनिस्तुतं यतिजनस्तुतम् वस्तु

आत्मवस्त्वेव शुचि निर्मलं पवित्रं वा अस्तीति शेषः ॥७५॥

अर्थ - जो ज्ञानादि गुणों से सहित है, निजभाव से युक्त है और मैं जिसकी निरन्तर भावना करता हूँ वह अविनाशी आत्मवस्तु ही निश्चय से मनोहारी सुगन्ध है। हे भवस्तुत! हे सर्वलोकवन्दित भगवन्! इस शरीर पर जो मल-मैल संलग्न है वह व्यर्थ है- उसकी क्या चिन्ता करना है परमार्थ से मुनियों के द्वारा स्तुत आत्मरूप वस्तु ही शुचि-पवित्र है ॥७५॥

[७६]

पलमलैर्निचिता धिगचेतना, प्रकृतितो दुरभेश्च निकेतना ।

मलजनीस्तनुरीशविभाषिता, तदनुगा तु सतोऽपि विभासिता ॥

पलेति - ईशविभाषिता ईशेन वीतरागसर्वज्ञदेवेन भाषिता कथिता। इयं तनुः शरीरं पलमलैर्मांसमलैः निचिता व्याप्ता। अचेतना चैतन्यरहिता। प्रकृतितो निसर्गात् दुरभेः दुर्गन्धस्य निकेतना वसतिः। मलजनीः मलोत्पादिका अस्तीति शेषः। तथाभूतां तनुं धिगस्तु। तदनुगा शरीरानुगामिनी सतोऽपि साधोरपि विभा दीप्तिः प्रतिष्ठेति यावत् सिता समाप्ता 'सितं श्वेतसमाप्तयोः' इति विश्वलोचनः। शरीराद्विरक्तबुद्धिरेव साधुर्मल परिषहं जेतुं शक्नोतीति भावः ॥७६॥

अर्थ - भगवज्जिनेन्द्र के द्वारा जिसका स्वरूप कहा गया है ऐसा यह शरीर मांस और मैल से व्याप्त है, अचेतन है, स्वभाव से दुर्गन्ध का घर है और मल को उत्पन्न करने वाला है ऐसे शरीर को धिक्कार हो। इस शरीर का अनुगमन करने वाली साधु की विभा-दीप्ति-प्रतिष्ठा भी समाप्त हो जाती है ॥७६॥

[७७]

कतपनाङ्गजरञ्जितदेहकः, सह रजोमलको गतदेहकः ।

मलपरीषहजित् स्वसुधारकः, विरसपादपभावसुधारकः ॥

कतपनोति - हे गतदेहक! गतो नष्टो देहो यस्य तत्सम्बुद्धौ हे गतदेहक! हे सिद्धपरमेष्ठिन्! कतपनाङ्गजरञ्जितदेहकः कः सूर्यस्तस्य तपनेन संतापेन समुत्पन्नो योऽङ्गजः स्वेदस्तेन रञ्जितो देहो यस्य तथाभूतः। सहरजोमलकः रजोमलाभ्यां सह विद्यते सह रजोमलकः। धूलिधूसरितशरीरः। स्वसुधारकः स्व आत्मैव सुधा पीयूषं तां राति गृह्णातीति स्वसुधारः तथाभूतः क आत्मा यस्य सः। अथवा स्वसुधार एव स्वसुधारकः स्वार्थे कः। विरसपादपभावसुधारकः विरसः शुष्को यः पादपो वृक्षः तस्मिन्निव भावस्य परिणामस्य सुधारको धारणकर्ता शरीरं शुष्कवृक्षमिव यो मन्यत इत्यर्थः। एवंभूतः साधुः

मलपरीषहजित् मलपरिषहं जयतीति तथाभूतो भवतीति शेषः ॥७७॥

अर्थ - हे सिद्धभगवन्! जिसका शरीर सूर्य के संताप से उत्पन्न पसीना से युक्त है, जो धूलि और मल से सहित है, आत्मसुधा का पान करने वाला है और जो शरीर को सूखे वृक्ष के समान समझ रहा है ऐसा साधु ही मलपरीषह को जीतने वाला होता है ॥७७॥

[७८]

बलयुतोऽपि मुनिः स्वतनोर्मलं, न हि निवारयति ह्यतनोऽमलं!

चित्ति चिदस्मि सदास्तु मले मलं, वदति तत्कमलं कमलेऽमलम् ॥

बलेति - हे अतनो! नास्ति तनुः शरीरं यस्य तत्सम्बुद्धौ। हे अमल! नास्ति मलं यस्य तत्सम्बुद्धौ। हे शरीररहित! हे मलरहितपरमात्मन्! मुनिः साधुर्बलयुतोऽपि शक्तिसम्पन्नोऽपि स्वतनोः निजशरीरस्य मलं कच्चरं न हि निवारयति निराकरोति। स विचारयति यथाहं चिदस्मि चिद्रूपोऽस्मि चिति ज्ञानदर्शनस्वरूपे स्वात्मनि निवसामि तथा मलमपि सदा मलेऽस्तु तदात्मरूपं भवितुं नार्हति। तद् रहस्यं कमले वसत् अमलं कमलं वदति कथयति। यथा निश्चयतः कमलं कमले कमलात्मनि निवसति व्यवहारतः कमले जले निवसति तथा पौद्गलिकं मलं पौद्गलिके शरीरे वसति चेतनश्च चेतने निवसति व्यवहारतः शरीरे निवसति। अतः मलं पौद्गलिकं विदित्वा तत्र द्वेषबुद्धिर्न कार्येति भावः ॥७८॥

अर्थ - हे अशरीर! निर्मल! परमात्मन्! मुनि, बल सहित होने पर भी शरीर का मैल दूर नहीं करते हैं। वे विचार करते हैं कि मैं चैतन्यरूप हूँ तथा चैतन्य में ही निवास करता हूँ। इसी प्रकार मैल, मैल में रहता है आत्मा में नहीं। यह रहस्य कमल में रहने वाला निर्मल कमल बताता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार परमार्थ से निर्मल कमल कमल में रहता है और व्यवहार से जल में रहता है उसी प्रकार पौद्गलिक मैल पौद्गलिक शरीर में रहता है आत्मा में नहीं; अतः मुनिराज उसे दूर करने का विचार नहीं करते ॥७८॥

[७९]

विनयशंसनपूजनकादरमलभमानमुनिः ह्यनिरादरः ।

अविरतैर्ब्रतिभिर्मदभावत - श्च युतविकारललाटविभावतः ॥

विनयेति - मदभावतो मदस्य गर्वस्य भावो मदभावस्तस्मात् अविरतैरसंयमिभिः ब्रतिभिः संयमिभिश्च विनयशंसनपूजनकादरं विनयश्च शंसनं च स्तवनं च, पूजनकं चार्चनं

च आदरश्च सन्मानश्च, एषां समाहारस्तत् अलभमानमुनिः ३ ३३. नानश्चासौ मुनिश्चेत्यलभमानमुनिः विनयादिकमलभमानो मुनिः। च्युतविकारललाटविभावतः विकारेण क्रोधादिजन्येन ललाटविभावो निटिलविकारः च्युतो दूरीभूतो विकारललाटविभावो यस्य तस्मात् तसिलन्तप्रयोगः। हि निश्चयेन अनिरादरो नास्ति निरादरो यस्य तथाभूतः 'अहमेतैर्निरादृतोऽस्मि' इति भावनारहितो भवति। गर्वातिरेकात्कश्चिद् व्रती अब्रती वा यदा मुनेर्विनयादिकं न करोति तदा स रुष्टो भूत्वा ललाटं भुकुट्यादिना विकृतं न करोतीति भावः ॥७९॥

अर्थ - अहंकार के कारण अब्रती तथा व्रतीजनों के द्वारा विनय, स्तुति, पूजन एवं आदर को प्राप्त न होने वाला मुनि अपने आपका अनादर नहीं मानता और न क्रोध आदि से ललाट के ऊपर कोई विकार प्रकट करता है ॥७९॥

[८०]

जगति सत्त्वदलः सकलश्चलः, परिमलो विकलः सकलोऽचलः।

समगुणैर्भरितो मत आर्य! ते, गुरुरयं स लघुर्नवधार्यते ॥

जगतीति - हे आर्य! हे भगवन्! ते तव मते सिद्धान्ते जगति भुवने चलः चलनशीलः, अचलः स्थावरः परिमलः सौगन्ध्ययुक्तः, विकलः कलाहीनः, सकलः कलासहितः इत्थं सकलः समस्तः सत्त्वदलः प्राणिसमूहः समगुणैः द्रव्यार्थिकनयेन तुल्यगुणैः भरितो विद्यत इति शेषः। अतोऽयं गुरु स लघुः इति नु कथं अवधार्यते निश्चीयते? गुणैः समानत्वेऽयं नमस्कार्योऽयञ्च नमस्कर्तेति कथं निर्धार्यते? अतः केन चित्रमस्काराद्यभावे मुनिना रोषो न कर्तव्य इति भावः ॥८०॥

अर्थ - हे आर्य ! आपके मन में त्रस, स्थावर, सुगन्धित, कलाहीन और कलासहित - सभी प्राणि समूह (द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा) समान गुणों से परिपूर्ण हैं; अतः 'यह गुरु है और वह लघु है' यह कैसे निश्चित किया जाय? ॥८०॥

[८१]

यदि यदा विनये मिलिते सति, मदमिता न मत्तिः सुमते सती ।

निजकगर्भगताखिलमानता, प्रलयकाय तु दक्षतमा नता ॥

यदीति - विनये समादरे मिलिते प्राप्ते सति यदा यस्मिन् काले मतिः साधोः बुद्धिः मदं गर्वं न इतान् प्राप्ता किन्तु सुमते शोभनसिद्धान्ते सती विद्यमाना भवति तर्हि तदा सा श्रेष्ठा कथ्यते। निजकगर्भगताखिलमानतानिजकस्य स्वात्मनो गर्भ गताः प्राप्ताः अखिला ज्ञानपूजादिसमुत्पन्नाः सर्वे माना अहंकारा यस्य तस्य भावः प्रलयकायविनाशाय

भवतीति शेषः। अहंकारवृत्तिर्विनाशकरी भवतीति भावः। तु किन्तु नता नम्रीभूता धीर्वृत्तिर्वा दक्षतमा अतिशयकुशला श्रेष्ठकल्याणकारिणी भवतीति तात्पर्यम् ॥८१॥

अर्थ - विनय के प्राप्त होने पर यदि साधु की बुद्धि मद को प्राप्त नहीं होती, किन्तु सुमते—उत्तम मत में रहती है तो वह श्रेष्ठ है। अपने आप में समस्त अभिमानों—ज्ञान-पूजा-कुलजाति आदि से उत्पन्न होने वाले मान का रहना प्रलय—विनाश के ऋषि होता है। इसके विपरीत नम्रवृत्ति अथवा बुद्धि अत्यन्त श्रेष्ठ होती है ॥८१॥

[८२]

गणधरैः प्रणतोऽस्ति यदा स्वयं, समितिषूपरतः सुखदास्वयम् ।

किमु तदाप्यसतां प्रणते नुते, रिति वदन्ति बुधाः सुमते, नु ते ॥

गणधरैरिति - यदा सुखदासु सौख्यदायिनीषु समितिषु समवसरणादिसभासु, उपरतो लीनोऽयं मुनिः स्वयं साक्षात् गणधरैर्गणनायकैः प्रणतोऽस्ति नमस्कृतोऽस्ति तदा असतां असत्पुरुषाणां प्रणते नमस्कृतेः नुतेः स्तुतेः किमु किं प्रयोजनमस्तीति शेषः ? इति ते तव सुमते श्रेष्ठधर्मं बुधा विद्वान्सो वदन्ति कथयन्ति। श्रेष्ठजनकृतनमस्कारे प्राप्ते हीनजनकृतनमस्काराभावं साधुना रोषो न कर्तव्य इति भावः ॥८२॥

अर्थ - सुखदायक समवसरणादि सभाओं में बैठने वाला मुनि जब गणधरों के द्वारा साक्षात् नमस्कार को प्राप्त होता है तब उसे अन्य असत् पुरुषों के नमन और स्तवन से क्या प्रयोजन है ? ऐसा हे भगवन्! आपके श्रेष्ठ मत में विद्वान् कहते हैं ॥८२॥

[८३]

बुधनुता जिनशास्त्रविशारदा, वसति यद् वदने शुचिशारदा ।

अकवते जगतेऽमृतसारदा, गतमदाऽसुमतोडुकशारदा ॥८३॥

बुधेति - यद्वदने यस्य वदनं मुखं तस्मिन् बुधनुता विद्वत्स्तुता जिनशास्त्रविशारदा जिनशास्त्रेषु विशारदा निपुणा। अकवते दुःखवते पापयुताय व जगते लोकाय। अमृत सारदा अमृतं पीयूषं मोक्षो वा तदेवसारस्तं ददातीति तथाभूता गतमदा गतो नष्टो मदो गर्वो ययान्येषां सा। असुमतोडुकशारदा न सुमतानि असुमतानि दुर्मतानि तान्येव उडुकानि नक्षत्राणि तेषां प्रभावहानिकरी शारदा चन्द्रस्तद्रूपा शुचिशारदा पवित्रसरस्वती पूर्वापरविरोधरहिता जिनवाणी वसति निवसति स एव विद्वान् अस्तीति शेषः ॥८३॥

अर्थ - विद्वानों के द्वारा स्तुत, जिनशास्त्रों में निपुण, पाप अथवा दुःखयुक्त जगत् के लिये अमृत अथवा मोक्षरूपी सार को देने वाली, अन्यवादियों का गर्व नष्ट

करने वाली तथा दुर्मतरूप नक्षत्रों के मध्य चन्द्रमा के समान शोभायमान पवित्र जिनवाणी जिसके मुख में निवास करती है वही विद्वान् है ॥८३॥

[८४]

समय! यावददो न! हि केवलं, ह्युदयतीह तरां न हि केवलम् ।

त्वमसि तावदहो ननु मानतः, शृणु लघुश्च तदा किमु मानतः ॥

समयेति - अहो न! हे पूज्य! हे समय! समयो विद्यते यस्य स समयस्तत्सम्बद्धौ, अशदिराकृतिगणत्वान्मतुत्वर्थे अप्रत्ययः आचार विद्! ज्ञान विद्! सिद्धान्तविद्! 'नकारौ जिन-पूज्ययोः' इति विश्वलोचनः 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। हि निश्चयेन यावत् केवलमद्वितीयं अदो लोकालोकावभासकं तत् केवलं केवलज्ञानं नहि उदयतितराम् नोत्पद्यते तावत् त्वं ननु निश्चयेन मानतो ज्ञानात् लघुर्हीनोऽसि। तदा मानतोऽभिमानात् किमु किं प्रयोजनम्। इति शृणु समाकर्णय केवलज्ञानात्पूर्वं सर्वेऽज्ञानिनः सन्ति ततस्तुच्छज्ञानस्य गर्वो न करणीय इति भावः ॥८४॥

अर्थ - हे पूज्य! हे सिद्धान्त के ज्ञाता! जब तक लोकालोक को प्रकाशित करने वाला वह अद्वितीय केवलज्ञान उदित नहीं होता है तब तक तुम ज्ञान से लघु-हीन ही हो; अतः मान-गर्व करने से क्या प्रयोजन है? इसे सुनो ॥८४॥

[८५]

स्वसमयस्य सतोऽप्यनुवादकः, समययुक्तितया जितवादकः ।

परिवदेन्न मुनिर्मनसाक्षर - मसि निरक्षर एष तु साक्षरः ॥

स्वसमयेति - सतः श्रेष्ठस्य स्वसमयस्य स्वकीयसिद्धान्तस्य। अनुवादकोऽपि भाषान्तरकर्तापि समययुक्तितया आगमयुक्तिकौशलेन जितवादकोऽपि जिता वादा येन तथाभूतोऽपि सन् मुनिः मनसा चेतसा इत्यक्षरं न परिवदेत् कथयेत् यत् त्वं निरक्षरोऽसि मूर्खोऽसि, एष तु साक्षरोऽस्ति विज्ञोऽस्ति ॥८५॥

अर्थ - श्रेष्ठ सिद्धान्त का अनुवादक तथा आगम और युक्ति के द्वारा वादों-शास्त्रार्थों को जीतने वाला होकर भी मुनि मन से यह शब्द न कहे कि तू मूर्ख है और यह विद्वान् ॥८५॥

[८६]

विनयतो जितबोधपरीषहः, श्रुतविदा जितचित्तकारी सह ।

दिशतु मे सुमतिं तु जिनालयः ग जयन्ताः श्रुति साधुगुणा नयः ॥

विनयत इति - विनयतो विनयात् जितबोधपरीषहः जितो बोधपरीषहः प्रज्ञापरीषहो येन तथाभूतः। श्रुतविदा शास्त्रज्ञेन सह सार्धं जितचित्तकरी जितश्चित्तमेव करी गजो येन तथाभूतः। जिनालयः जिने आलयो लीनता यग्य तथाभूतः साधुगुणालयः साधोर्गुणा अष्टाविंशतिसंख्यका मूलगुणाः चतुरशीतिलक्षप्रमिता उत्तरगुणाश्च तेषामालयः स्थानम् स साधुः मे मह्यं सुमतिं सुबुद्धिं दिशतु। भुवि मह्यं स जयतात् जययुक्तो भवतु च ॥८६॥

अर्थ - जिसने प्रज्ञापरिषह को जीत लिया है, जिसने शास्त्रज्ञ मुनि के साथ मनरूपी हाथी को वश किया है, जो जिनेन्द्र भगवान् में लीनता को प्राप्त है तथा साधु के मूलोत्तरगुणों का स्थान है वह साधु मेरे लिये सुबुद्धि प्रदान करे तथा उनकी जय हो ॥८६॥

[८७]

परिषहोऽस्तु निजानुभवि श्रुतं, ह्यपि मितं शिवदं बुधविश्रुतम् ।
बहुतरं तु तृणं सहसाप्यलं, दहति चाग्निकणी भुवि साप्यलम् ॥

परीति - परिषहोऽज्ञानपरिषहो भवतु नाम। तु किन्तु बुधविश्रुतं विद्वज्जनप्रसिद्धं निजानुभवि आत्मानुभवसहितं मितं सीमितमपि श्रुतं शास्त्रज्ञानं शिवदं मुक्तिप्रदं भवतीति शेषः। तदेवोदाह्रियते - भुवि पृथिव्यां सा प्रसिद्धा अग्निकणी अग्निकणानां समाहार इत्यग्निकणी अनलस्फुलिङ्गसमूहः। बहुतरं विपुलप्रमाणमपि तृणं सहसापि झटित्यपि अलं पर्याप्तरूपेण दहति भस्मीकरोति। अल्पश्रुतज्ञानतया बहुज्ञानिभिस्तिरस्कारे कृतेऽपि खेदो न कर्तव्य इति भावः ॥८७॥

अर्थ - अल्पश्रुतज्ञानपरिषह भले ही रहे परन्तु आत्मानुभव से सहित, विद्वज्जनप्रसिद्ध सीमित श्रुतज्ञान भी मोक्ष प्रदान करने वाला है; क्योंकि पृथिवी पर प्रसिद्ध अग्निकणों का समूह भी विपुल तृणों को शीघ्र ही भस्म कर देता है ॥८७॥

[८८]

व्रतवता प्रचुरः समयो गतः, पिहितखेन मयाजितयोगतः ।
मयि न बोधरवि ह्यभवोदित, इति चलो भव मा समबोधितः ॥

व्रतेति - हे अभव! नास्ति भवो यस्य तत्सम्बुद्धौ हे संसारातीत! व्रतवता व्रतधारिणा, पिहितखेन पिहितानि खानीन्द्रियाणि येन तेन जितेन्द्रियेण मया अजितयोगतः अपराजितध्यानेन प्रचुरो भूयान् समयः कालो गतो व्यतीतः। तथापि मयि बोधरविः ज्ञानसूर्यो नोदितो न प्रकटित इतीत्थं विचार्य समबोधितः समरत्नत्रयात् चलो

विचलितो मा भव न भूयाः । चिरं तपस्यतोऽपि ममाद्यावधि विशिष्टं ज्ञानं न जातमिति
विचार्य साधुना चञ्चलचेतसा न भवितव्यमित्यर्थः ॥८८॥

अर्थ - हे अभव! हे संसारातीत! व्रतधारण करने वाले मुझ जितेन्द्रिय ने
अविचलित ध्यान से बहुत समय व्यतीत किया है फिर भी मुझमें ज्ञानरूपी सूर्य उदित
नहीं हुआ ऐसा विचारकर समीचीन रत्नत्रय से विचलित न होओ ॥८८॥

[८९]

असि कुधीर्महसा वचसानया, ह्युपकृता जगती त्वयि सानया ।

तव मतिर्न हि वित्पयसा धृता, त्विति वचः सहतां किमु साधुता ॥

असीति - अयि साधो! त्वं कुधीः कुत्सिता धीर्यस्य तथाभूतो दुर्बुद्धिरसि। अनया
कुधिया त्वया महसा तेजसा वचसा वचनेन अनया न विद्यन्ते नया यस्यां तथाभूता
नयविज्ञानरहिता सा जगती भूमिः हि निश्चयेन नोपकृता नानुगृहीता। अथवा
अनयैर्मिथ्यानयैः सहिता जगती त्वया नोपकृता। तव मतिः बुद्धिः वित्पयसा ज्ञानजलेन न
धृता न प्रक्षालिता। तव साधुता साधोर्भावः कर्म वा साधुता किमु? कापि न, व्यर्थेत्यर्थः
इतीत्थं वचः सहतां तिरस्कारवचनं श्रुत्वा रोषं मा कार्षीरिति भावः। तु शब्दो
पादपूर्त्यर्थः ॥८९॥

अर्थ - अयि साधो! हे मुने! 'तू दुर्बुद्धि है, इस दुर्बुद्धि के कारण तूने अपने वचन
और तेज से नयविज्ञानशून्य पृथिवी को उपकृत नहीं किया अर्थात् उसे उपदेश देकर
अनुगृहीत नहीं किया। वास्तव में तेरी बुद्धि ज्ञानरूपी जल से धुली नहीं है। तेरा साधुपन
क्या है? कुछ भी नहीं' इस प्रकार के वचनों को सहन कर ।

भावार्थ - अज्ञान के कारण यदि कोई तिरस्कार के वचन कहता है तो उसे सुन
खेद मत कर ॥८९॥

[९०]

समुपयोगवती मम वा सुधीः! गुणविभासु रता तु शिवासु धीः ।

कथमहं तु तदास्मि कुधीरतः, परिषहं सहते न्विति धीरतः ॥

समुपेति - 'त्वं कुधीरसि' इत्यादि श्रुत्वा यो रोषेण प्रज्वलितो भवति स किं
परिषहं सहतेऽपि तु नेत्याह - वाथवा स्वं कुधियं श्रुत्वा रोषेणोत्तरं ददाति-अये सुधीः! हे
विद्वन्मन्य! मम धीः बुद्धिः समुपयोगवती समीचीनोपयोगसहिता वर्तते। शिवासु
कल्याणरूपासु गुणविभासु गुणदीप्तिषु च रता लीनास्ति चेत्तदा कथमहं कुधीरतः
कुबुद्ध्यासक्तोऽस्मि। इति प्रत्युत्तरं ददाति चेत् स धीरतः धैर्येण परिषहम् अज्ञानपरिषहं

सहते नु? अपि तु न सहते। विरुद्धवाचं श्रुत्वा यो रुष्टो न भवति स एव परिषहविजयी भवतीति भावः ॥९०॥

अर्थ - 'तू कुधी है - मूर्ख है' इत्यादि दुर्वचन सुनकर जो कुपित हो प्रत्युत्तर देता है वह परिषहविजयी नहीं है, यह कहते हैं—हे सुधीः! हे बिद्वन्मन्य! मेरी बुद्धि समीचीन उपयोग से सहित है और कल्याणकारिणी गुणों की दीप्ति में लीन है, तब मैं कुधी कैसे हूँ। इस प्रकार जो उत्तर देता है वह क्या धीरता से अज्ञानपरिषह को सहता है? अर्थात् नहीं सहता ॥९०॥

[९१]

मम विदावरणेन तिरोहितं, शुचिबलं यदनेन गिरोहितम् ।

सुरजसा कलितं शुचिदर्शनम्, झटिति फूत्करणात् जिन! दर्शनम् ॥

ममेति - हे जिन! मम मुनेः यत् शुचिबलं निर्मलज्ञातृत्वशक्तिः विदावरणेन ज्ञानावरणेन तिरोहितमन्तर्हितं तदेव अनेन कटुकभाषणेन गिरा वाण्या ऊहितं तर्कितं। ज्ञानावरणेन तिरोहितं मम ज्ञानमनेन स्ववाण्या चर्चितम् हीनमस्तीति चर्चाविषयीकृतम्। तदेवोदाह्रियते—सुरजसा शोभनपरागेण कलितं सहितं दर्शनं दर्पणं 'दर्शनं दृशि दर्पणे' इति विश्वलोचनः। फूत्करणात् मुखेन फूत्करणात् शुचिदर्शनं शुचि समुज्ज्वलं दर्शनमवलोकनं यस्य तथाभूतं भवति। यथा फूत्करणाद् रजोऽपनयने सति दर्पणं झटिति निर्मलं भवति तथैतत्कटुकवाण्या ज्ञानावरणनिर्जरेण मम ज्ञानं समुज्ज्वलं भविष्यतीति विचार्य चेतसि खेदो न करणीय इति भावः ॥९१॥

अर्थ - हे जिन! मेरा जो निर्मल बल अथवा ज्ञान, ज्ञानावरण कर्म के उदय से आच्छादित था। उसे इस निन्दक ने अपनी वाणी से प्रकट कर दिया है। उचित ही है क्योंकि उत्तम रज से युक्त दर्पण फूंकने से शीघ्र ही उज्ज्वल दिखने लगता है ॥९१॥

[९२]

मम गुणेष्वधुनापि न वृद्धयः, समुदिता मुदिता परिसिद्धयः ।

इति न गच्छति साधुरुदासतां, न हि विमुञ्चति तां गुरुदासताम् ॥

ममेति - मम दीर्घ तपस्विनः गुणेषु ज्ञानादिषु अधुनापि भूयसि काले व्यतीतेऽपि वृद्धयः मुदिताः हर्षप्राप्ताः सिद्धयः ऋद्धयो न समुदिताः न प्रकटिताः। इति विचार्य साधुः उदासतां खिन्नमनस्कतां न गच्छति न हि निश्चयेन तां चिरकृतां गुरुदासतां गुरुसेवां न हि विमुञ्चति न त्यजति। ऋद्धिसिद्धीनामभावे गुरुसेवाविरतो न भवतीति भावः ॥९२॥

अर्थ - इस समय भी—दीर्घ तपस्या के बाद भी मेरे ज्ञानादि गुणों में न वृद्धियां

हुई और न हर्ष को बढ़ाने वाली सिद्धियां प्रकट हुईं। ऐसा विचार कर साधु-उदासता को प्राप्त नहीं होता और न दीर्घकाल से चली आयी गुरुसेवा को छोड़ता है ॥९२॥

[९३]

जगति नाप्यधुना यशसां सितः, स हि यमो जिनशासनशासितः ।

निरतिशायि ततो जिनदर्शन—मिति न संशयितः समदर्शनः ॥

जगतीति - हि यतः जिनशासनशासितः जिनमतोपदिष्टः स प्रसिद्धो यमः संयमो जगति भुवने अधुनापि साम्प्रतमपि यशसा कीर्त्या सितः शुक्लो निर्मलो वा न जातः। ततस्तस्मात् कारणात् जिनदर्शनं जिनशासनं निरतिशायि अतिशयरहितं वर्तते किम्? इति समदर्शनः सधर्मा संशयितः संशययुक्तो न भवतीति ॥९३॥

अर्थ - जगत् में जिनशास्त्रोपदिष्ट वह संयम इस समय भी यश से धवल नहीं हुआ। इस कारण जिनधर्म अतिशय से रहित है ऐसा समदर्शी मुनि को संशय नहीं करना चाहिये ॥९३॥

[९४]

करणमानसजं लघु वैहिकं, सुखमितं न मया किमु वै हि कम् ।

जिनपशासनमानविनाशनं, न हि करोति स एवमनाशन! ॥

करणेति - हे अनाशन! न विद्यते नाशनं यस्य तत्सम्बुद्धौ हे अविनश्वर! वाथवा मया दीर्घतपस्विना करणमानसजं इन्द्रियमनःसमुद्भूतं लघु तुच्छं ऐहिकं एतल्लोकसम्बन्धिसुखं सातं न इतं न प्राप्तं वै हि निश्चयेन कं मोक्षसम्बन्धि सुखं किमु प्राप्तम् अपि तु न प्राप्तम्। एवमित्थं स मुनिः ऋद्धिसिद्धिरहित इति यावत् जिनपशासनमानविनाशनं जिनपस्य जिनेन्द्रस्य यच्छासनं तस्य मानस्य समादरस्य विनाशनं हानिं न हि करोति विदधाति ॥९४॥

अर्थ - हे अविनश्वर भगवन्! मैंने इन्द्रिय और मन से होने वाला थोड़ा भी लौकिक सुख प्राप्त नहीं किया फिर पारलौकिक सुख की तो बात ही क्या है? इस प्रकार विचार कर वह मुनि जिनशासन के सन्मान का नाश नहीं करता ॥९४॥

[९५]

जिनमतोन्नतितत्परजीवनं, विमलदर्शनवत् नदजीवनम् ।

भवतु वृत्तवतां खलु वार्षित—पारेजयोऽस्तु यदेष समर्पितः ॥

जिनेति - वृत्तवतां चारित्र्युतानां साधूनां जिनमतोन्नतितत्परजीवनं

जिनमतस्योन्नतौ तत्परमिति जिनमतोन्नतितत्परं तच्च तज्जीवनं चेति तथाभूतं जिनमतप्रभावनाकरजीवनम्। विमलदर्शनवत् निर्दोषसम्यग्दर्शनसहितं नदजीवनं महानदीजलमिव प्रगतिशीलं भवतु। एषोऽयम् अपितपरिजयो विवक्षितादर्शनपरिषहजयो वास्तु भवतु वा। एतत्कारणं प्रदर्शयति यद् यस्मात् एष परिषहजयग्रन्थः समर्पितः। मया साधुभ्य एष परिषहजयग्रन्थः समर्पितस्तेन तेषां जीवनं जिनमतोन्नतितत्परं निर्मलसम्यग्दर्शनसहितं महानदीजलमिव प्रगतिशीलं च भवतु अदर्शनपरिषहजयो वा निश्चयेन भवतु ॥१५॥

अर्थ - यतश्च साधुओं के लिये यह परिषहजयग्रन्थ समर्पित है अतः इसके फलस्वरूप उनका जीवन जिनधर्म की उन्नति में तत्पर रहे, निर्मल सम्यग्दर्शन से सहित हो महानदी के जल के समान प्रगतिशील हो और निश्चय से अपित-विवक्षित अदर्शनपरिषह पर विजय प्राप्त करने वाला हो ॥१५॥

[१६]

सपदि संपदि संविदि वा सुखी, विपदि नो भुवि योऽविदि वाऽसुखी।

स हि परीषहकान् श्रयितुं क्षमः, शुचितपश्च विधातुमिह क्षमः ॥

सपदीति - परिषहान् सोढुं कः समर्थः ? इति समाधातुमाहः - यो मुनिः भुवि पृथिव्यां संपदि संपत्तौ संविदि वा संज्ञाने वा सुखी सुखसहितः विपदि विपत्तौ अविदि अज्ञाने वा सपदि झटिति असुखी दुःखयुक्तो न भवति हि निश्चयेन स परीषहकान् परीषहा एव परीषहकास्तान् स्वार्थे कप्रत्ययः श्रयितुं सेवितुं सोढुमिति यावत् क्षमः समर्थ इह जगति शुचितपश्च निर्मलतपश्चरणं च विधातुं कर्तुं क्षमः समर्थो भवति ॥१६॥

अर्थ - पृथिवी पर जो संपत्ति और सम्यग्ज्ञान में सुखी तथा विपत्ति और अज्ञान में शीघ्र ही दुखी नहीं होता, वही परीषहों को सहन करने में समर्थ होता है और वही निर्मल तप करने में शक्त होता है ॥१६॥

[१७]

यमविहीनतपश्चरणेन किं, च्युतपरीषहतश्चरणेन किम् ।

ननु विना सुदृशा न हि संगतं, सकलमेनस एव वशंगतम् ॥

यमेति - यमेन संयमेन विहीनं रहितं यत्तपश्चरणमनशानादिस्तेन किं प्रयोजनम्? च्युतपरीषहतः च्युताः परीषहा यस्मात्तेन सार्वविभक्तिकस्तसिल् परीषहजयरहितेन चरणेन चारित्र्येण किम् प्रयोजनम्? ननु निश्चयेन सुदृशा सम्यग्दर्शनेन विना संगतं ज्ञानं न हि भवति। सकलं समस्तं जगत् एनसः पापस्यैव वशमधीनतां गतं प्राप्तम्। 'वृजिनं

कलिलमेनः' इति धनंजयः ॥१७॥

अर्थ - संयमहीन-तपश्चरण से क्या प्रयोजन है? परीषहविजय से रहित चारित्र्य से क्या प्रयोजन है? सम्यग्दर्शन के विना सम्यग्ज्ञान नहीं होता। खेद है कि सकल जगत् पाप के वश हो रहा है ॥१७॥

[१८]

चर्याशय्यानिषद्यासु वान्यतमाऽस्तु चैकदा ।

शीतोष्णयोर्भवेत्तद्वदागमानुभवादिति ॥

चर्येति - चर्या च शय्या च निषद्या चेति चर्याशय्यानिषधास्तासु एकदा एकस्मिन् काले अन्यतमा एकतमा अस्तु भवतु। एवं शीतोष्णयोर्मध्ये, तद्वत् अन्यतमो भवतु। इतीत्थं आगमात् अनुभवाच्च सिद्धम्। 'एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकान्वविंशतेः' इत्यागमः। अनुभवस्तु प्रत्यक्षसिद्ध एव ॥१८॥

अर्थ - एक समय चर्या, शय्या और निषद्या में से कोई एक तथा शीत और उष्ण में से कोई एक परीषह होता है। यह आगम और अनुभव से सिद्ध है ॥१८॥

[१९]

दशपरीषहकाश्च नवाधिका, इति भवन्तु समं विधिबाधकाः ।

द्व्यधिकविंशतिका जिनसेविता, मम तु सन्त्वखिलास्तपसेऽहिताः ॥

दशेति - विधिबाधका मुनिचर्याबाधकर्तारः नवाधिका दश परीषहकाः एकोनविंशतिसंख्याका समं युगपद् भवन्तु। द्वाविंशतिपरीषहा अयुगपद् जिनसेविता जिनेनापि सेविताः। मुनिचर्या काले इति भावः। साम्प्रतं तु जिने एकादशैव परिषहाः सन्ति तेऽपि मोहनीयाभावादकिंचित्करा एव भवन्ति। मम तु तपसे तपोऽनुष्ठाने अहिता बाधकराः अखिला अपि परीषहाः सन्ति ॥१९॥

अर्थ - ऊपर लिखे अनुसार मुनिचर्या में बाधा डालने वाले उन्नीस परिषह एक साथ हो सकते हैं। मुनि अवस्था में जिनेन्द्र देव को भी बाईस परीषह सहन करने पड़े हैं। मेरे भी तप के लिये अहितकारी सभी परिषह हैं ॥१९॥

[१००]

वै विषमयीमविद्यां विहाय ज्ञानसागरजां विद्याम् ।

सुधामेम्यात्मविद्यां नेच्छामि सुकृतजां भुवि द्याम् ॥

वै विषेति - ग्रन्थकर्ता ग्रन्थकरणप्रयोजनं दर्शयति अहं वै निश्चयेन विषमयी

गरलमयीं अविद्यां विहाय मुक्त्वा ज्ञानसागरजां ज्ञानमेव सागरस्तस्मिन् जातं पक्षे ज्ञानसागर इति नामालंकृतो विद्यागुरुस्तस्माज्जाताम् आत्मविद्यां सुधां पीयूषम् एमि प्राप्नोमि। सुकृतजां पुण्योद्भूतां द्यां स्वर्गं नेच्छामि न वाञ्छामि ॥१००॥

अर्थ - मैं निश्चय से विषरूप अविद्या को छोड़कर ज्ञानरूप सागर में समुत्पन्न (पक्ष में ज्ञानसागर गुरु से उत्पन्न) आत्मविद्यारूपी सुधा—अमृत को प्राप्त करता हूँ। पृथिवी पर पुण्योदय से प्राप्त स्वर्ग की इच्छा नहीं करता हूँ ॥१००॥

मङ्गलकामना

विभावतः सुदूराणां सन्ततिर्जयतात् तराम् ।

द्यामेत्य पुनरागत्य स्वानुभूतेः शिवं ब्रजेत् ॥१॥

विभावत इति - विभावतो रागादिविकारभावात् सुदूराणाम् अतिदूरवर्तिनां मुनीनां सन्ततिः परम्परा जयतात्तराम् अतिशयेन जययुक्ता भवतु। सा सन्ततिः द्यां स्वर्गम्, एत्य प्राप्य पुनः पश्चादागत्य स्वानुभूतेरात्मानुभूतिबलात् शिवं मोक्षं ब्रजेत् गच्छेत् ॥१॥

अर्थ - विकारभाव से अत्यन्त दूर रहने वाले साधुओं की परम्परा अत्यधिक जयवंत रहे। वह स्वर्ग जाकर पश्चात् वहां से आकर स्वानुभूति से मोक्ष को प्राप्त करे ॥१॥

साधुता सा पदं ह्येतु भूपतौ च जने जने ।

गुवि सर्वत्र शान्तिः स्यान्मदीया भावना सदा ॥२॥

साधुतेति - हि निश्चयेन सा प्रसिद्धा साधुता सज्जनता भूपतौ राजनि जने जने च प्रत्येक मनुष्ये च पदं स्थानं एतु प्राप्नोतु। गवि पृथिव्यां 'जगती गौर्वसुन्धरा' इति धनंजयः। सर्वत्र सदा च शान्तिः क्षान्तिः स्यादिति मदीया मामकीना भावना वर्तत इति शेषः ॥२॥

अर्थ - वह प्रसिद्ध साधुता—सज्जनता राजा और प्रत्येक मनुष्य में स्थान को प्राप्त हो तथा पृथिवी में सर्वत्र शान्ति रहे, सदा ऐसी भावना रहती है ॥२॥

रेपवृत्तिं परित्यज्य ना नवनीतमार्दवम् ।

णलाभाय भजेद् भव्यो भक्त्या साकं भृशं सदा ॥३॥

रेषेति - भव्यो ना नरः णलाभाय ज्ञानलाभाय 'णकारो निणयि ज्ञाने' इति

विश्वलोचनः भक्त्या साकं सह सदा शश्वद् रेपवृत्तिं कठिनव्यवहारं परित्यज्य
नवनीतमार्दवं नवनीतवत्कोमलतां भजेत् प्राप्नुयात् ॥३॥

अर्थ - भव्य मनुष्य, ज्ञानलाभ के लिये भक्ति के साथ सदा कूर व्यवहार को
छोड़कर मखन के समान कोमलता को प्राप्त करे ॥३॥

विद्याब्धिना सुशिष्येण ज्ञानोदधेरलङ्कृतम् ।

रसेनाध्यात्मपूर्णेन शतकं शिवदं शुभम् ॥४॥

विद्येति - ज्ञानोदधेः ज्ञानसागरस्य सुशिष्येण श्रेष्ठान्तेवासिना विद्याब्धिना
विद्यासागरेण अध्यात्मपूर्णेन अध्यात्मसंभृतेन रसेन अलंकृतं शोभितं शुभं कल्याणरूपं
शिवदं मोक्षदं शतकं शतं प्रमाणं यस्येति शतकं रचितमिति शेषः ॥४॥

अर्थ - ज्ञानसागर गुरु के सुशिष्य विद्यासागर ने अध्यात्मपूर्ण रस से अलंकृत
शुभ तथा कल्याणप्रद शतक की रचना की है ॥४॥

चित्ताकर्षिं तथापि ज्ञैः पठनीयं विशोध्य तैः ।

तं मन्ये पण्डितं योऽत्र गुणान्वेषी भवेद्भवे ॥५॥

चित्तेति - यद्यपि शतकमिदं चित्ताकर्षिं हृदयाकर्षकमस्ति तथापि ज्ञैः पाठकैः
विशोध्य शुद्धं विधाय पठनीयं पठितव्यम् । अत्रास्मिन् भवे संसारे तं नरं पण्डितं पण्डा
विवेकबुद्धिः संजाता यस्य तं मन्ये यो गुणान्वेषी गुणिगवेषको भवेत् ॥५॥

अर्थ - यद्यपि यह शतक चित्तार्षक है तथापि विज्ञपाठकों द्वारा शुद्ध कर पढ़ने के योग्य
है। इस संसार में मैं पण्डित उसे मानता हूँ जो गुणों का अन्वेषण करने वाला हो ॥५॥

श्रीकुण्डलगिरौ क्षेत्रे भव्यैर्जनैः सुसेविते ।

हरिणनदकूलस्थे भवाब्धिकूलदर्शिनि ॥१॥

यामव्योमाघगन्धेऽदो वीरे सम्बत्सरे शुभे ।

फाल्गुणपूर्णिमामीत्वे तीमामितिं मितिं गतम् ॥२॥

श्रीति - भव्यैर्जनैः सुसेविते, हरिणनदतटस्थिते भवाब्धिकूलदर्शिनि
संसारणवतटदर्शके श्रीकुण्डलगिरौ एतन्नामधेये क्षेत्रे यामव्योमाघगन्धे २५०८ परिमिते
शुभे वीरसम्बत्सरे अदः शतकं फाल्गुणपूर्णिमां फाल्गुणमासस्य पूर्णिमां मितिं तिथिम् ईत्वा
प्राप्य इति समाप्तिं गतम् प्राप्तम् ॥१-२॥

अर्थ - भव्यजनों से सेवित, हरिण नदी के तट पर स्थित तथा संसारसागर का
तट दिखाने वाले कुण्डलगिरिक्षेत्र में २५०८ वीरनिर्वाण सम्बत् में फाल्गुणपूर्णिमा मिति
को पाकर यह परीषहजय शतक समाप्ति को प्राप्त हुआ ॥१-२॥

हे जिनवर ! तब चरण समागम सुरसुख शिवसुख शान्त रहा,
तब गुण गण का सतत स्मरण ही परमागम निर्भ्रान्त रहा।
विषय रसिक हैं कुधी रहे हैं अनुपम अधिगम नहीं मिले,
विरहित रति से रहूँ इसी से बोध कला उर सही खिले।।१।।

नभ में रवि सम यतनशील हैं यति नायक सुखकारक हैं,
ज्ञान-भाव से भरित-झील हैं श्रुतिकारक-दुखहारक हैं।
सकल विश्व को सकल ज्ञान से जान रहे शिवशंकर हैं,
गति-मति-रति से रहित रहे हैं हम सब उनके किंकर हैं।।२।।

दुख में, सुख में तथा अशुभ-शुभ में नियमित रखते समता,
शुचितम चेतन को नमते हैं श्रमण, श्रमणता से ममता।
यम-संयम-दम-शम भावों की लेता सविनय शरण अतः,
विभाव-भावों दुर्भावों का क्षरण शीघ्र हो मरण स्वतः।।३।।

मृदुल विषयमय लता जलाती शीतलतम हिमपात वही,
शान्त शारदा, शरण उसी की ले जीता दिन-रात सही।
'शतक परीषह-जय'कहता बस मुनिजन, बुधजन मन हरसे,
मूल सहित सब अघ संघरसे ज्ञान-मेघ फिर झट बरसे।।४।।

उदय असाता का जब होता उलटी दिखती सुखदा है,
प्रथम भूमिका में ही होती क्षुधा वेदना दुखदा है।
समरस रसिया ऋषि समता से सब सहता निज ज्ञाता है,
सब का सब यह विधि फल तो है 'समयसार' सुन ! गाता है।।५।।

क्षुधा परीषह सुधीजनों को देता सद्गति सम्पद है,
और मिटाता नियमरूप से दुस्सह विधिफल आपद है।
कुधीजनों को किन्तु पटकता कुगति कुण्ड में कष्ट ! अहा !
विषय रसिक हो दुखी जगत है सुखी जगत कह स्पष्ट रहा।।६।।

कनक, कनकपाषाण नियम से अनल योग से जिस विध है,
क्षुधा परीषह सहते बनते, शुचितम मुनिजन उस विध है।
क्षुधा विजय सो काम विजेता मुनियों से भी बन्दित है,
शिव-पथ पर पाथेय रहा है जिन मत से अभिनन्दित है।।७।।

आगम के अनुकूल किया यदि किसी साधु ने अनशन है,
 असमय में फिर अशन त्याज्य है अशन कथा तक अशरण है।
 वीतराग सर्वज्ञ देव ने आगम में यों कथन किया,
 श्रवण किया कर सदा उसी का, मनन किया कर, मथन जिया ॥८॥

स्वर्णिम, सुरभित, सुभग, सौम्यतन सुरपुर में वर सुरसुख है,
 उन्हें शीघ्र से मिलता शुचितम शाश्वतभास्वत शिवसुख है।
 वीतराग विज्ञान सहित जो क्षुधा परीषह सहते हैं,
 दूर पाप से हुए आप हैं बुधजन जग को कहते हैं ॥९॥

पाप-ताप का कारण तन की ममता का बस वमन किया,
 शमी-दमी, मतिमान मुनी ने समता के प्रति नमन किया।
 विमल बोधमय सुधा चाव से तथा निरन्तर पीता है,
 उसे तृषा फिर नहीं सताती सुखमय जीवन जीता है ॥१०॥

कषाय रिपु का शमन किया है सने स्वरस में गुणी बने,
 नम्र नीत, भवभीत रीत हो अघ से, तप के धनी बने।
 मुक्ति रमा आ जिनके सम्मुख नाच, नाचती मुदित हुई,
 मनो इसी से तृषा जल रही ईर्षा करती कुपित हुई ॥११॥

निरालम्ब हो, स्वावलम्ब हो, जीवन जीते मुनिवर हैं,
 कभी तृषा या अन्य किसी वश कुपित बनें ना; मतिवर हैं।
 श्वान भौंकते सौ-सौ मिलकर पीछे - पीछे चलते हैं,
 विचलित कब हो गजदल आगे ललित चाल से चलते हैं ॥१२॥

व्यय-उद्भव, ध्रुव-लक्षण से जो परिलक्षित है खरा रहा,
 चिन्मय गुण से रचा गया है, समरस से है भरा रहा।
 मनो कभी मुनि तृषित हुआ औ निज में तब अवगाहित हो,
 जैसा सागर में शशि होता निश्चित सुख से भावित हो ॥१३॥

रव-रव नरकों में वे नारक तृषित हुये हैं, व्यथित हुये,
 सद्य हृदय ना अद्य बने हैं प्राण कण्ठगत मथित हुये।
 उस जीवन से निज जीवन की तुलना कर मुनि कहते हैं,
 यहाँ सिन्धु सम दुःख रहा तो यहाँ बिन्दु हम सहते हैं ॥१४॥

शीत-शील का अविरल-अविकल बहता जब है अनिल महा,
 ऐसा अनुभव जन-जन करते अमृत मूल्य का अनल रहा।
 पग से शिर तक कपड़ा पहना कप-कप कपता जगत रहा,
 किन्तु दिगम्बर मुनिपद से नहीं विचलित हो मुनि-जगत रहा।।१५।।

तरुण-अरुण की किरणावलि भी मन्द पड़ी कुछ जान नहीं,
 शिशिर वात से ठिठुर शिथिल हो भानु उगा पर; भान नहीं।
 तभी निशा वह बड़ी हुई है लघुतम दिन भी बना तभी,
 पर; परवश मुनि नहीं हुआ है सो मम उर में ठना अभी।।१६।।

यम-दम-शम-सम से मुनि का मन अचल हुआ है विमल रहा,
 महातेज हो धधक रहा है जिसमें तप का अनल महा।
 बाधा क्या फिर बाह्य गात पे होता हो हिमपात भले,
 जीवन जिनका सुखित हुआ हम उन पद में प्रणिपात करें।।१७।।

भय लगता है नभ में काले जल वाले घन डोल रहे,
 बीच-बीच में बिजली तड़की घुमड़-घुमड़ कर बोल रहे।
 वज्रपात से चूर हो रहे अचल, अचल भी चलित हुए,
 फिर भी निश्चल मुनि रहते हैं शिव मिलता, सुख फलित हुए।।१८।।

चण्ड रहा मार्तण्ड ग्रीष्म में विषयी-जन को दुखद रहा,
 आत्मजयी ऋषि वशीजनों को दुखद नहीं शिव सुखद रहा।
 प्रखर, प्रखरतर किरण प्रभाकर की रुचिकर ना कण-कण को,
 कोमल-कोमल कमलदलों को खुला खिलाती क्षण-क्षण को।।१९।।

सरिता, सरवर सारे सूखे सूरज शासन सक्त रहा,
 सरसिज, जलचर कहाँ रहें फिर? जीवन साधन लुप्त रहा।
 इतनी गरमी घनी पड़ी पर; करते मुनि प्रतिकार नहीं,
 शान्ति सुधा का पान करें नित तन के प्रति ममकार नहीं।।२०।।

सुरमा, काजल, गंगा का जल, मलयाचल का चन्दन है,
 शरद चन्द्र की शीतल किरणें मणि माला, मनरंजन है।
 मन में लाते तक ना इनको, शान्त बनाने तन-मन को,
 मुनि कहलाते पूज्य हमारे जिनवर कहते भविजन को।।२१।।

महाप्रतापी, भू-नभ तापी अभिशापी रवि बना रहा,
वन हारे, तरु सारे-खारे पत्र फूल के बिना अहा!
किन्तु पराजित नहीं मुनीश्वर जित-इन्द्रिय हो राजित हैं,
हृदय-कमल पर उन्हें बिठाऊँ त्रिभुवन से आराधित हैं।।२२।।

तन से, मन से और वचन से उष्ण-परीषह सहते हैं,
निरीह तन से हो निज ध्याते बहाव में ना बहते हैं।
परम तत्त्व का बोध नियम से पाते यति जयशील रहे,
उनकी यशगाथा गाने में निशिदिन यह मन लीन रहे।।२३।।

विषयों को तो त्याग-पत्र दे व्रतधर शिवपथगामी हैं,
मत्कुण मच्छर काट रहे अहि, दया-धर्म के स्वामी हैं।
कभी किसी प्रतिकूल दशा में मुनिमानस नहिं कलुषित हो,
शुचितम मानस सरवर-सा है सदा निराकुल विलसित हो।।२४।।

चराचरों से मैत्री रखते कभी किसी से वैर नहीं,
निलय दया के बने हुए हैं नियमित चलते स्वैर नहीं।
तन से, मन से और वचन से करें किसी को व्यथित नहीं,
सुबुध जनों से पूजित होते मान-गान से सहित सही।।२५।।

मत्कुण आदिक रुधिर पी रहे पी लेने दो जीने दो,
तव शुभ स्तुति की सुधा चाव से मुझे पेट भर पीने दो।
तीन लोक के पूज्य पितामह ! इससे मुझको व्यथा नहीं,
यथार्थ चेतन पदार्थ मैं हूँ तन से 'पर' मम कथा यही।।२६।।

दंश मसक ये कीट पतंगे पल भर भी तो सुखित नहीं,
पाप पाक से पतित पले हैं क्षुधा, तृषा से दुखित यही।
कब तो इनका भाग्य खुले कब निशा टले, कब उषा मिले,
सन्त सदा यों चिंतन करते दिशा मिले, निज दशा खिले।।२७।।

निरा, निरापद, निजपद दाता यही दिगम्बर पद साता,
पाप-प्रदाता आपद-धाता शेष सभी पद गुरु गाता।
हुए दिगम्बर अश्वर तजकर यही सोच कर मुनिवर हैं,
शिवपथ पर अविरल चलते हैं हे जिनवर ! तव अनुचर हैं।।२८।।

अपने ऊपर पूर्ण दया कर विषय-वासना त्याग दिया,
नग्न परीषह सहते तजकर वस्त्र, निजी में राग किया।
अनुपम, अव्यय वैभव पाते लौट नहीं भव में आते,
वस्त्र वासना जो ना तजता भ्रमता भव-भव में तातैं ॥२९॥

यहाँ अचेतन पुद्गल आदिक निज-निज गुण के केतन हैं,
आदि मध्य औ अन्त रहित हैं ज्ञान निलय हैं, चेतन हैं।
यथार्थ में तो पदार्थ दल से भरा जगत् यह शाश्वत है,
निरावरण हैं, निरा दिग्म्बर स्वयं आप 'बस' भास्वत हैं ॥३०॥

बिना घृणा के नग्नरूप धर मुनिवर प्रमुदित रहते हैं,
भवदुःखहारक, शिवसुखकारक, दुस्सह परिषह सहते हैं।
लालन-पालन, लाड़-प्यार से सुत का करती ज्यों जननी,
कुलदीपक यदि बुझता है तो रुदन मचाती है गुणिनी ॥३१॥

इन्द्रिय जिनसे चंचल होती सब विषयों से निरत हुए,
इन्द्रियविजयी, विजितमना हैं निशिदिन निज में विरत हुए,
अविरति रति से मौन हुये हैं अरति परीषह जीत रहे,
जिनवर वाणी करुणा कर-कर कहती यों भवभीत रहे ॥३२॥

सड़ा-गला शव मरा पड़ा जो बिना गड़ा, अधगड़ा जला,
भीड़ चील की चीर-चीरकर जिसे खा रही हिला-हिला।
दृश्य भयावह लखते, सुनते गजारिगर्जन मरघट में,
किन्तु ग्लानि, भय कभी न करते, रहते मुनिवर निज घट में ॥३३॥

विषय वासना जिनसे बढ़ती उन शास्त्रों से दूर रहें,
विराग बढ़ता जिनसे उनको पढ़ें साम्य से पूर रहें।
विगत काल में भोगे भोगों कभी न मन में लाते हैं,
प्राप्तकाल सब सुधी बिताते निजी रमन में तातैं हैं ॥३४॥

आगम के अनुकूल साधु हो अरति परीषह सहते हैं,
कलुषित मन की भाव-प्रणाली मिटती गुरुवर कहते हैं।
प्रतिफल मिलता दृढतम, शुचितम दिव्य-दृष्टि झट खुलती है,
नियम रूप से शिव-सुख मिलता ज्योत्स्ना जगमग जलती है ॥३५॥

विशाल विस्फारित मंजुलतम चंचल लोचन वाली हो,
 कामदेव के मार्दव मानस को भी लोभन वाली हो।
 मुख पर ले मुस्कान मन्दतम गजसम गमनाशीला हो,
 उस प्रमदा के वश मुनि ना हो अद्भुत चिन्मय लीला हो॥३६॥

सदा, मुक्त, उन्मुक्त विचरती मत्त स्वैरिणी मोहित है,
 तभी कहाती प्रमदा जग में बुधजन से अनुमोदित है।
 वन में, उपवन में, कानन में, स्मित वदना कुछ बोल रही,
 निर्विकार यति बने रहे वे उनकी दृग अनमोल रही॥३७॥

लाल कमल की आभा सी तन वाली हैं सुर वनिताएँ,
 नील कमल सम विलसित जिनके लोचन हैं सुख-सुविधाएँ।
 किन्तु स्वल्प भी विषय वासना जगा न सकती मुनि मन में,
 सुखदा, समता सती, दुर्बी जी क्योंकि निवसती है उनमें॥३८॥

शीलवती है, रूपवती है, दुर्लभतम है वरण किया,
 समता रमणी से निशिदिन जो श्रमण बना है रमण किया।
 फिर किस विध वह नश्वर को जो भवदा! दुःखदा वनिता है,
 कभी भूलकर क्या चाहेगा? पूछ रही यह कविता है॥३९॥

कठिन कार्य है खरतर तपना करने उन्नत तपगुण को,
 पूर्ण मिटाने भव के कारण चंचल मन के अवगुण को।
 दया वधू को मात्र साथ ले वाहन बिन मुनि पथ चलते,
 आगम को ही आँख बनाये निर्मद जिनके विधि हिलते॥४०॥

सभी तरह के पाद त्राण तज नग्न पाद से ही चलते,
 चलते-चलते थक जाते पर निज पद में तत्पर रहते।
 कंकर, कंटक चुभते-चुभते, लहुलुहान पद लोहित हो,
 किन्तु यही आश्चर्य रहा है, मुनि का मन ना लोहित हो॥४१॥

कोमल-कोमल लाल-लालतर युगल पादतल कमल बने,
 अविरल, अविकल चलते-चलते सने रुधिर में तरल बने।
 मन में ला सुकुमालकथा को अशुचि काय में मत्त रचना,
 मार मार कर महा बनो तुम यह कहती रसमय रचना॥४२॥

बोधयान पर बैठ, कर रहे यात्रा यतिवर यात्री हैं,
 त्याग चुके हैं, भूल चुके हैं रथवाहन, करपात्री हैं।
 पथ पर चलता तन को केवल देख रहे पथ दर्शाते,
 सदा रहें जयवन्त सन्त वे नमूँ उन्हें मन हर्षति ॥४३॥

आत्मबोध पा पूज्य साधु ने चंचल मन को अचल किया,
 मोह लहर भी शान्त हुई है मानस सरवर अमल जिया।
 बहुविध दृढ़तम आसन से ही तन को संयत बना लिया,
 जीव दया का पालन फलतः किस विध होता जना दिया ॥४४॥

संयम बाधक चरित मोह को पूर्ण मिटाने लक्ष बना,
 बिना आलसी बने निजी को पूज्य बनाने दक्ष बना।
 सरिता, सागर, सरवर तट पर दृढ़तम आसन लगा दिया,
 त्याग वासना, उपासनारत 'ऋषि की जय' तम भगा दिया ॥४५॥

आसन परिषह का यह निश्चित अनुपम अद्भुत सुफल रहा,
 हुयें, हो रहे, होंगे जिनवर, इस बिन, सब तप विफल रहा।
 बुधजन, मुनिजन से पूजित जिन ! अहोरात तव मत गाता,
 अतः आज भी भविकजनों ने धारा उसको नत माथा ॥४६॥

भय लगता है यदि तुझको अब विषयी जन में प्रमुख हुआ,
 यह सुन ले तू चिर से शुचितम निज अनुभव से विमुख हुआ।
 दृढ़तम आसन लगा आप में होता अन्तर्धान वही,
 ऋषिवर भी आ उन चरणों में नमन करें गुणगान यही ॥४७॥

श्रुतावलोकन आलोड़न से मुनि का मन जब थक जाता,
 खरतर द्वादशविध तप तपते साथी तन भी रुक जाता।
 आगम के अनुसार निशा में शयन करे श्रम दूर करे,
 फलतः है जिन ! तव सम अतिशय पावे सुख भरपूर खरे ॥४८॥

भू पर अथवा कठिन शिला पर काष्ठ फलक पर या तृण पे,
 शयन रात में अधिक याम तक, दिन में नहिं, संयम तन पे।
 ब्रह्मचर्य व्रत सुदृढ़ बनाने यथाशक्ति यह व्रत धरना,
 जितनिद्रक हो हितचिन्तक हो अतिनिद्रा मुनि मत करना ॥४९॥

मुनि पर यदि उपसर्ग कष्ट हो हृदय शून्य उन मानव से,
धर्म-भाव से रहित, सहित हैं वैर-भाव से दानव से।
किन्तु कभी वे निशि में उठकर गमन करें अन्यत्र नहीं,
अहो अचल दृढ़ हृदय उन्हीं का दर्शन वह सर्वत्र नहीं।।५०।।

सप्तभयों से रहित हुआ है जितनिद्रक है श्रमण बना,
शय्या परिषह वही जीतता दमनपना पा शमनपना।
निद्राविजयी बनना यदि है इच्छित भोजन त्याग करो,
इन्द्रियविजयी बनो प्रथम तुम रसतज निज में राग करो।।५१।।

यथासमय जो शयन परीषह तन रति तजकर सहता है,
निद्रा को ही निद्रा आवे मुनि मन जागृत रहता है।
समुचित है यह प्रमाद तज रवि उदयाचल पर उग आता,
पता नहीं कब कहाँ भागकर उडुदल गुप लुप छुप जाता।।५२।।

असभ्य पापी निर्दय जन वे करते हों उपहास कभी,
किन्तु न होता मुनि के मन की उज्ज्वलता का नाश कभी।
तुष्ट न होते समता-धारक सुधीजनों के बन्दन से,
रुष्ट न होते शिष्ट साधुजन कुधीजनों के निन्दन से।।५३।।

क्रोध जनक हैं कठोर, कर्कश, कर्ण कटुक कुछ वचन मिले,
निहार बेला में सुनने को अपने पथ पर श्रमण चले।
सुनते भी पर बधिर हुए-से आनाकानी कर जाते,
सहते हैं आक्रोश परीषह अबल, 'सबल होकर' भाते।।५४।।

इन्द्रियगण से रहित रहा हूँ मल से रस से रहित रहा,
रहा इसी से पृथक् वचन से चेतन बल से सहित रहा।
निन्दन से फिर हानि नहीं है विचार करता इस विध है,
प्रहार करता जडविधि पे मुनि निहारता निज बहुविध है।।५५।।

सही मार्ग से भटक चुके हैं चलते-चलते त्रस्त हुए,
भील, लुटेरों, मलिमन्दों से घिरे हुए दुःखग्रस्त हुए।
उनका न प्रतिकार तथापि करते यति जयवन्त रहे,
समता के हैं धनी-गुणी हैं पापों से भयवन्त रहे।।५६।।

मोह-भाव से किया हुआ था पाप पाक यह उदित हुआ,
 पर का यह अपराध नहीं है उपादान खुद घटित हुआ।
 पर का इसमें हाथ रहा हो निमित्त वह व्यवहार रहा,
 अविरति-हन्ता नियमनियन्ता कहते जिनमतसार रहा ॥५७॥

काया लाली रही उषा की अशुचिराशि है लहर रही,
 भवदुःखकारण, कारण भ्रम का शरण नहीं है जहर रही।
 इसका यदि वध हो तो हो पर इससे मेरा नाश कहाँ?
 बोध-धाम हूँ चरण सदन हूँ दर्शन का अवकाश यहाँ ॥५८॥

बहुविध विधि का संवर होने में हित निश्चित निहित रहा,
 पापासव में कारण होता शिवपथ में वह अहित रहा।
 अन्ध मन्दमति! वधक नहीं ये बाह्यरूप में साधक हैं,
 पाप पुण्य के भेद जानते कहते मुनिगण-चालक हैं ॥५९॥

अशन वसतिकादिक की ऋषिगण नहीं याचना करते हैं,
 तथा कभी भी दीन-हीन बन नहीं पारणा करते हैं।
 निजाधीनता फलतः निश्चित लुटती है यह अनुभव है,
 पराधीनता किसे इष्ट है वही पराभव, भव-भव है ॥६०॥

निज पद गौरव तज यदि यति हो मनो-याचना करते हैं,
 दर्पण सम उज्ज्वल निज पद को पूर्ण कालिमा करते हैं।
 शुचित्तम शशि भी योग केतु का पाकर ही वह शाम बने,
 यही सोचकर साधु सदा ये निज में ही अविराम तने ॥६१॥

बिना याचना, कर्म उदय से यह घटना निश्चित घटती,
 कभी सफलता, कभी विफलता भेद-भाव बिन बस बटती।
 इसीलिए मत याचक बनना भूल कभी बन भ्रान्त नहीं,
 याचक बनता नहीं जानता कर्मों का सिद्धान्त सही ॥६२॥

याज्वा परिषद विजयी मुनिवर-समाज में मुनिराज बने,
 स्वाभिमान से मंडित जिस विध हो वन में मृगराज तने।
 याज्वा विरहित यदि ना बनता जीवन का उपहास हुआ,
 विरत हुआ पर बुध कहते वह गुरुता का सब नाश हुआ ॥६३॥

अनियत विहार करता फिर भी निर्बल सा ना दीन बने,
 तथा किया उपवास तथापि परवश ना! स्वाधीन बने।
 भोजन पाने चर्या करता पर भोजन यदि नहिं मिलता,
 विषाद करता नहिं पर, भोजन मिला हुआ-सा मुख खिलता ॥६४॥

इष्टमिष्ट रस-पूरित भोजन मिलने पर हो मुदित नहीं,
 अनिष्ट नीरस मिलने पर भी दुःखित नहीं हो क्रुधित नहीं।
 सहित रहा संवेग भाव से सर्व रसों से विरत बना,
 चिंतन करता यह सब विधिफल साधु गुणों से भरित बना ॥६५॥

करते श्रुतमय सुधापान हैं द्वादशविध तप अशन दमी,
 दमन कर रहे इन्द्रिय तन का कषायदल का शमन शमी।
 केवल दिखते बाहर से ही क्षीणकाय हो दुःखित रहे,
 भीतर से संगीत सुन रहे जीत निजी को सुखित रहे ॥६६॥

जनन जरा औ मरण रोग से श्वास-श्वास पर डरता है,
 जिसके चरणों में आकर के नमन विज्ञ-दल करता है।
 दुष्कृत फल है दुस्सह भी है महा भयानक रोग हुआ,
 प्रभु पदरत मुनि नहिं डरता है धरता शुचि उपयोग हुआ ॥६७॥

सभी तरह के रोगों से जो मुक्त हुए हैं बता रहे,
 कर्मों के ये फल हैं सारे, खारे जग को सता रहे।
 रोगों का ही मन्दिर तन है अन्दर कितने पता नहीं,
 उदय रोग का, कर्म मिटाता ज्ञानी को कुछ व्यथा नहीं ॥६८॥

सुगन्ध चन्दन तैलादिक से तन का कुछ संस्कार नहीं,
 वसनाभूषण आभरणों से किसी तरह शृङ्गार नहीं।
 फिर भी तन में रोग उगा हो पाप कर्म का उदय हुआ,
 उसे मिटाने प्रासुक औषध मुनि ले सकता सदय हुआ ॥६९॥

रोग परीषह प्रसन्न मन से जो मुनि सहता ध्रुव ज्ञाता,
 सुचिरकाल तक सुरसुख पाता अमिट अमित फिर शिव पाता।
 अधिक कथन से नहीं प्रयोजन मरण भीति का नाश करो,
 सादर परिषह सदा सही बस! निजी नीति में वास करो ॥७०॥

तृण कंटक पद में बह पीड़ा सतत दे रहे दुखकर हैं,
 गति में अंतर तभी आ रहा रुक-रुक चलते मुनिवर हैं।
 उस दुस्सह वेदन को सहते-सहते रहते शान्त सदा,
 उसी भाँति में सहूँ परीषह शक्ति मिले, शिव शान्ति सुधा ॥७१॥

खुले खिले हों डाल-डाल पर फूल यथा वे हँसते हैं,
 जिनकी पराग पीते अलि-दल चुम्बन लेते लसते हैं।
 विषय, विषमतर शूल तृणों से आहत हैं पर तत्पर हैं,
 निज कार्यो में बिना विफल हो कहते हमसे तन पर है ॥७२॥

कठिन-कठिनतर शयनासन में कंटक पथ पर विचरण में,
 सुख ही सुख अवलोकित होता मुनियों के आचरणन में।
 भीतर से बाहर आने को शम सुख सागर मचल रहा,
 दुखित जगत को सुखित बनाने यतन चल रहा सकल रहा ॥७३॥

कभी-कभी आकुलता यदि हो मन में तन में वेदन हो,
 प्रतिफल हो, 'फल कर्मचेतना' चेतन में पर खेद न हो।
 बिना वेदना प्रथम दशा में कर्मों का वह क्षरण नहीं,
 समयसार का गीत रहा यह औ सब बाधक शरण नहीं ॥७४॥

निज भावों से भावित भाता भासुर गुणगण शाला है,
 परिमल पावन पदार्थ प्यारा अनुभवता रस प्याला है।
 फिर यह तन तो स्वभाव से ही मल है मल से प्यार वृथा,
 मुनियों से जो वंदित है सुन! शुद्ध-वस्तु की सार कथा ॥७५॥

स्वभाव से ही रहा घृणास्पद रहा अचेतन यह तन है,
 पल से मल से भरा हुआ है क्यों फिर इसमें चेतन है?
 तन से निशिदिन झरती रहती अशुचि, सुनो जिनश्रुति गाती,
 देह राग से श्रमणों की उस विराग छवि ही क्षति पाती ॥७६॥

तपन-ताप से तप्त हुआ तन स्वेद कर्णों से रंजित हो,
 रज कण आकर चिपके फलतः स्नान बिना मल संचित हो।
 मल परिषह तब साधु सह रहा सुधा पान वे सतत करें,
 नीरस तरु सम तन है जिनका हम सब का सब दुरित हरे ॥७७॥

कंचन काया बन सकती है ऋद्धि-सिद्धि से युक्त रहा,
तन का मल मुनि नहीं हटाता मल से तन अतिस्निप्त रहा।
चेतन मैं हूँ, चेतन में हूँ यथार्थ मल तो मल में है,
कहता जाता कमल कमल में कहने भर को जल में है।।७८।।

अविरत जन या व्रती पुरुष यदि अपने से विपरीत बने,
आदर ना दे, करे अनादर यदि बनते अविनीत तने।
किन्तु मुनीश्वर लोकेषण से दूर हुए भवभीत हुए,
विकार विरहित ललाट उनका रहता वे जग मीत हुए।।७९।।

अमल, समल हैं सकल जीव ये ऊपर, भीतर से प्यारे,
अगणित गुणगण से पूरित सब 'समान' शीतल शुचि सारे।
मैं 'गुरु' तू 'लघु' फिर क्या बचता परिभव-परिषह बुध सहते,
आर्य देव अनिवार्य यही तब मत गहते सुख से रहते।।८०।।

कभी प्रशंसा करे प्रशंसक विनय समादर यदि करते,
नहीं मान-मद मन में लाते, मन को कलुषित नहीं करते।
प्रत्युत अन्दर घुस कर बैठा मान-कर्म के क्षय करने,
साधु निरंतर जागृत रहते निज को शुचि अतिशय करने।।८१।।

निरालसी यति समिति गुप्ति में जब हो रत मन शमन करें,
गणधर आदिक महामना भी उनको मन से नमन करें।
मानी मुनिजन नमनादिक यदि नहीं करते मत करने दो,
अर्थ नहीं उसमें, जिन कहते 'यह परिषह' अघ हरने दो।।८२।।

जिन श्रुत में हैं पूर्ण विशारद सम्मानित हैं बुधगण में,
भाग्य मानकर सदा शारदा रहती जिनके आनन में।
मानहीन हैं, स्वार्थहीन हैं दुःखी जगत को अमृत पिला,
पर मततारकदल में शीतलशशि हैं यश की अमिट शिला।।८३।।

अन्तराय का अन्त नहीं हो अतुल अमिट बल मुदित नहीं,
जब तक तुममें अनन्त अक्षय पूर्ण ज्ञान हो उदित नहीं।
ज्ञान क्षेत्र में तब तक निज को लघुतम ही स्वीकार करो,
तन-मन-वच से ज्ञान-मान का प्रतिपल तुम धिक्कार करो।।८४।।

अवलोकन-अबलोइन करते जिनश्रुत के अनुवादक हैं,
वादीजन को स्यादवाद से जीते पथ प्रतिपादक हैं।
ज्ञान परीषह सहते मुख से कभी न कहते हम ज्ञानी,
ज्ञान कहाँ है तुममें इतना महा अधम हो अज्ञानी॥८५॥

नम्र भाव से ज्ञान परीषह जीत-जी रहे मतिवर हैं,
तत्त्व ज्ञान से मूत चित्त को किया नियंत्रित यतिवर हैं।
प्रभु पद में रत हुए मुझे भी होने सन्मति दान करें,
निलयगुणों के जय हो गुरु की मम गति का अवसान करें॥८६॥

सहो सदा अज्ञान परीषह नियोग है यह शिव मिलता,
अल्पज्ञान पर्याप्त रहा यदि निज अनुभवता भव टलता।
बहुत दिनों का पड़ा हुआ है सुमेरु सम तृण ढेर रहा,
एक अनल की कणिका से बस! जल मिटता, क्षण देर रहा॥८७॥

सत्पथ चलता महाव्रती हो प्रचुर समय वह बीत गया,
इन्द्रिय योगों को बश करके गाता आत्म गीत जिया।
किन्तु अभी तक जगी न मुझमें बोध भानु की किरण कहीं,
यूँ न सोचता, मुनिवर तजता समता की वह शरण नहीं॥८८॥

महा मूढ़ है, साधु बना है, शुभकृत जीवन किया नहीं,
भविकजनों को सदुपदेश दे उपकृत अब तक किया नहीं।
महा मलिन मति चिर से तेरी ज्ञान-नीर से धुली नहीं,
सहे वचन यूँ 'व्यर्थ साधुता' अभी आँख तव खुली नहीं॥८९॥

बच करके अशुभोपयोग से जब शुभ शुचि उपयोग धरूँ,
अक्षय सुख देने वाले मुनि-गुण-गण का उपभोग करूँ।
किस विध फिर मैं हो सकता हूँ कुधी, कभी नहीं हो सकता,
सहता यूँ अज्ञान परीषह मन का मल वह धो सकता॥९०॥

ज्ञानावरणादिक से चिर से भला-बोध बल मलिन वही,
सहने से अज्ञान परीषह निश्चित होता विमल सही।
उड़-उड़कर आ रज-कण चिपके धूमिल फलतः दर्पण हो,
जल से शुचि हो जिनमत्त गाता इसे सदा नति अर्पण हो॥९१॥

चिर से दीक्षित हुआ अभी तक, ऋद्धि नहीं कुछ सिद्धि नहीं,
 तथा गुणों में ज्ञानादिक में लेश मात्र भी वृद्धि नहीं।
 ऐसा मन में विचार कर मुनि उदासता का दास नहीं,
 होकर परवश कभी त्यागता जिनमत का विश्वास नहीं।।९२।।

जिन शासन से शासित होकर व्रत पालूँ अविराम सही,
 किन्तु हुआ ना ख्यात जगत में यश फैला ना नाम कहीं।
 रहित रहा हो अतिशय गुण से जिन दर्शन यह लगता है,
 समदर्शन युत मुनि मन में ना ऐसा संशय जगता है।।९३।।

अल्प मात्र भी ऐहिक सुख औ इन्द्रिय सुख वह मिला नहीं,
 फिर, किस विध निर्वाण अमित सुख मुझे मिलेगा भला कहीं।
 मुनि हो ऐसा कहता नहीं जिन-मत का गौरव नहीं खोता,
 रहा अदर्शन यही परीषह-विजयी होता सुख-जोता।।९४।।

जिन मत की उन्नति में जिनका जीवन तत्पर लसता है,
 उजल सलिल से भरा सरित-सा जिन में दर्शन हँसता है।
 रहा अदर्शन परिषयजय यह प्रमुख रहा मुनि यतियों का,
 उनके चरणों में नित नत हूँ विनशन हो चहुगतियों का।।९५।।

पद-पूजन संपद संविद पा पद-पद होते सुखित नहीं,
 निन्दन, आपद, अपयश में फिर साधु कभी हो दुखित नहीं।
 दुस्सह सब परिषह सहने में सक्षम ऋषिवर धीर सभी,
 आत्म ध्यान के पात्र, ध्यान कर पाते हैं भव तीर तभी।।९६।।

दुष्कर तप से नहीं प्रयोजन संयम से यदि रहित रहा,
 परिषहजय बिन नहीं सफलता यद्यपि व्रत से सहित रहा।
 यम-दम-शम-सम सकल व्यर्थ हैं समदर्शन यदि ना होता,
 पाप पंक से लिपा कलंकित जीवन मौलिक नहीं, थोथा।।९७।।

शीत परीषह, उष्ण परीषह एक समय में कभी न हों,
 चर्या, शय्या तथा निषद्या एक साथ ये सभी न हों।
 ऐसा जिनवर का आगम है हम सबको यह बता रहा,
 अनुभव कहता, स्ववश परीषह सहो सही, फिर व्यथा कहाँ।।९८।।

एक साथ उन्नीस परीषह मुनि जीवन में हो सकते,
समता से यदि सही साधु हो विधिमल पल में धो सकते।
सन्त साधुओं तीर्थकरों ने सहे परीषह सिद्ध हुए,
सहूँ निरन्तर उन्नत तप हो समझूँ निज गुण शुद्ध हुए।।१९।।

पुण्य-पाक है सुरपद संपद सुख की मन में आस नहीं,
आतम का नित अवलोकन हो दीर्घ काल से प्यास रही।
तन से, मन से और वचन से तजूँ अविद्या हाला है,
'ज्ञान-सिन्धु'को मथकर पीऊँ समरस 'विद्या', प्याला है।।१००।।

[इति शुभं भूयात्]

गुरुःस्मृति

कुन्द-कुन्द को नित नमूँ, हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगन्धित महक में, जीवन मम घुल जाय।।
तरणि ज्ञान सागर गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर करुणा करो, कर से दो आशीष।।

:स्थान एवं समय परिचय:

कुण्डलगिरि वरक्षेत्र है, हर्षाता मन फूल।
हिरण नदी के कूल पे, दर्शाता भव-कूल।।१।।

याम व्योम गति गन्ध की, फागुन पूणम ज्योत।
पूर्ण हुआ यह ग्रन्थ है, निजानन्द स्रोत।।२।।

:भूल क्षम्य हो:

लेखक, कवि मैं हूँ नहीं, मुझमें कुछ नहीं ज्ञान।
त्रुटियां होवें यदि यहाँ, शोध पढ़ें धीमान।।२।।

[इति शुभं भूयात्]

मंगल कामना

समय-समय 'पर', समय में सविनय समता धार।
सकल संग सम्बन्ध तज रम जा सुख पा सार।।

भव-भव भववन भ्रमित हो भ्रमता, भ्रमता काल।
बीता अनन्त वीर्य बिन, बिन सुख, बिन वृष-सार।।

परपद, निजपद, जान तज, परपद, भज निज काम।
परम पदारथ फल मिले पल-पल जप निज नाम।।

मोक्ष मार्ग पर तुम चलो दुख मिट सुख मिल जाय।
परम सुगन्धित ज्ञान की मृदुल कली खिल जाय।।

तन मिला तुम तप करो, करो कर्म का नाश।
रवि-शशि से भी अधिक है तुममें दिव्य प्रकाश।।

विषय विषम-विष है सुनो, विष सेवन से मौत।
विषय-कषाय विसार दो स्वानुभूति सुख स्रोत।।

'ही' से 'भी' की ओर ही बढ़ें सभी हम लोग।
छह के आगे तीन हो विश्व शान्ति का योग।।

यही प्रार्थना 'वीर' से अनुनय से कर जोर।
हरी-भरी दिखती रहे धरती चारों ओर।।

सुनीति शतक

[१]

वैराग्यमूर्तिः प्रणतिं सुनीता,
चिदेकभूतिश्च शिवप्रसूतिः।
विरच्यतेऽदः शतकं सुनीते—
रीतेरभावोऽस्तु ततो धरायाम् ॥

वैराग्येति - वैराग्यस्य मूर्तिः वैराग्यप्रतिमा, शिवप्रसूतिः शिवस्य श्रेयसो मोक्षस्य वा प्रसूतिः समुत्पत्तिर्यस्याः सा, चिदेकभूतिश्च चिदेव चैतन्यमेवैकाद्वितीयाभूतिः सम्पत्तिर्यस्य तथाभूतो जिनेन्द्रः प्रणतिं नमस्कृतिं सुनीता प्रापिता। वीतरागं सर्वज्ञं मोक्षप्रदायकं जिनं नमाम्यहमिति भावः। प्रतिज्ञां वक्तुमाह - सुनीतेः शोभननीतेः शतकं शतश्लोकप्रमाणकं प्रकरणम्, अदः एतद् विरच्यते निर्मायते मयेति शेषः। ततः सुनीतिशतकाद् धरायां वसुधायाम् ईतेरतिवृष्टयादेः अभावोऽस्तु। 'अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। अत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः।' उपजाति वृत्तम् ॥१॥

अर्थ - वीतराग, सर्वज्ञ और मोक्षमार्गोपदेशी-अर्हन्त परमेष्ठी को नमस्कार कर यह सुनीतिशतक रचा जा रहा है। इससे पृथिवी पर ईतियों का अभाव हो ॥१॥

[२]

मूल्येन पुष्टं च मलेन जुष्टं,
नवीनवस्त्रं न हि नीरपायि।
गुरूपदेशामृतरागहीनः,
शास्त्रोपजीवी खलु धीधरोऽपि ॥

मूल्येनेति - मूल्येन पुष्टं महार्घं मलेन मलीमसेन जुष्टं सहितं नवीनवस्त्रं नूतनवस्त्रं नीरपायि जलस्पर्शिं नहि भवति! गुरूपदेशामृतरागहीनः गुरूपदेश एवामृतं पीयूषं तस्य रागेण प्रेम्णा हीनो धीधरोऽपि विद्वानपि खलु निश्चये न शास्त्रोपजीवी शास्त्रैस्तेषां पठनपाठनप्रकाशनादिभिः जीवतीत्येवं शीलोऽस्तीति शेषः। यथा मलिनं महार्घं वस्त्रं न शोभते तथा गुरूपदेशामृतरागहीनो विद्वान् न शोभते इति भावः ॥२॥

अर्थ - महार्घ और मलिन नवीन वस्त्र नीरस्पर्शी नहीं होता । विद्वान् भी यदि गुरुओं के उपदेशामृत सम्बन्धी राग से रहित है तो वह भी यथार्थतः शास्त्रों से अपनी आजीविका ही चलाता है विद्वत्ता के फल से रहित है ॥२॥

[३]

शरीरसम्बन्धिकुलादियोगा—
 न्मुनेर्मुनित्वं न मलत्वमेतु ।
 वर्णेन कृष्णास्तु भवन्तु गावः,
 कदापि कृष्णं न तु तत्पयोऽस्तु ॥

शरीरेति - शरीरसम्बन्धिकुलादियोगात् शरीरसम्बन्धिनां शरीराश्रितानां कुलादीनां गोत्रप्रभृतीनां योगात् सम्बन्धात् मुनेः साधोः साधुत्वं मलत्वं मालिन्यं नैतु न प्राप्नोतु । तदेवोदाह्रियते - गावो धेनवो वर्णेन रूपेण कृष्णाः श्यामवर्णा भवन्तु तु सन्तु नाम किन्तु तत्पयः तासां गवां पयः क्षीरं कृष्णं कृष्णवर्णं कदापि जात्वपि नास्तु न भवतु । यथा शरीरवर्णेन गवां दुग्धं तद्वर्णं न भवति तथा शरीरस्य कुलादिना मुनीनां मुनित्वं न हीयत इति भावः ॥३॥

अर्थ - शरीर सम्बन्धी कुल-गोत्रादि के योग से मुनि का मुनिपना मलिनता को प्राप्त न हो । जैसे गायें वर्ण से काली भले ही हों पर उनका दूध काला नहीं होता ॥३॥

[४]

वाञ्छन्ति सन्धिं न यमेन सार्ध—
 मक्षार्थमुग्धा वयसैव वृद्धाः ।
 विद्धि ध्रुवं तैरश्चरणेन पुष्टे,
 शैथिल्यभावाश्चरणे विशन्ति ॥

वाञ्छन्तीति - अक्षार्थमुग्धा अक्षानामिन्द्रियाणामर्थेषु मुग्धाः कृतमोहा ये नरा यमेन चारित्रेण सार्धं सह सन्धिं मेलनं न वाञ्छन्ति नाभिलषन्ति ते वयसैव अवस्थामात्रेण वृद्धाः प्रवयसः सन्ति न तु ज्ञानेन संयमेन वा । चरणे चारित्रे शैथिल्यभावाः शैथिल्यस्य भावः सद्भावो येषु ते प्रमादिनो नराः तैरश्चरणे तिरश्चरणानामिदं तैरश्चरणं तेन तिर्यक्त्वेन पुष्टे चरणे गोत्रे 'चरणोऽस्त्री बह्वृचादौ मूलेऽपि पदगोत्रयोः' इति विश्वलोचनः । ध्रुवं निश्चयेन विशन्ति प्रवेशं कुर्वन्तीति विद्धि जानीहि ॥४॥

अर्थ - इन्द्रियविषयों में आसक्त रहने वाले जो मनुष्य संयम से सन्धि नहीं करते हैं वे अवस्था से वृद्ध हैं, ज्ञान और संयम से नहीं। चारित्र में शिथिलता रखने वाले ऐसे

मनुष्य निश्चय से तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होते हैं, यह जानो ॥४॥

[५]

ज्ञानेन वृद्धो यदि पक्षपाती,
निजान्यहा स द्वयलोकशून्यः ।

पयः पवित्रं परमार्थिपेयं,

लावण्ययोगात् किमु किञ्चिदस्ति ॥

ज्ञानेनेति - ज्ञानेन वृद्धो जनो यदि पक्षपाती पक्षे कदाग्रहे पततीति पक्षपाती अस्ति तर्हि स निजान्यहा निजश्चान्यश्चेति निजान्यौ तौ हन्तीति स्वपरधाती द्वयलोकशून्य इहामुत्र च शून्यो भवति। पवित्रं शुचि पयः क्षीरं परमार्थिपेयं परमार्थिभिः पातुयोग्यं भवति। लावण्ययोगात् क्षारद्रव्यसंयोगात् किमु किञ्चिदस्ति? अपि तु न। लवण-सहितं पयोऽपेयमेव भवति यथा तथा कदाग्रहयुक्तो नरः स्वान्यघाती लोकद्वयभ्रष्टश्च भवतीति भावः ॥५॥

अर्थ - ज्ञान वृद्ध मनुष्य यदि पक्षपाती है—एकान्तवादी है तो वह निज- पर का घातक और उभय लोक से भ्रष्ट होता है। पवित्र दूध परमार्थी जनो के द्वारा पेय— पीने योग्य होता है पर नमक के मिलने पर क्या कुछ रहता है? अर्थात् नहीं। अपेय हो जाता है ॥५॥

[६]

अक्षार्थकास्त्रे हितका भवन्ति,

धर्मोऽहितः पापवतां भवेऽस्ति ॥

तथ्यं च पथ्यं न हि रोचते तत्,

सत्यां रुजायां विधिरोगिणेऽत्र ॥

अक्षेति - ये अक्षार्थकाः अक्ष्णोति जानातीत्यक्ष आत्मा तस्यार्थे विषये कं सुखं येषां ते हितका हिता एव हितकाः हितरूपा भवन्ति। पापवतां पापिनां जनानां भवे संसारे धर्मः, धरति प्रापयति स्वर्गापवर्गस्थानं यः स धर्मः सुकृताचरणं। अहितोऽहितरूपो भवति जायते। तदेव समर्थयति-अत्र लोके विधिरोगिणे विधिः कर्मोदय एव रोगो विधिरोगः सोऽस्ति यस्य तस्मै रुजायां रुवेदनायां सत्यां पथ्यं हितकरं वस्तु न रोचते रुचिकरं नहि भवति इति यत् प्रसिद्धं तत् तथ्यं सत्यमस्तीति शेषः। यथासद्वे द्योदयसमुत्पन्नरोगायाल्पायुषे पथ्यं न रोचते तथा दीर्घवायेन्द्रियविषयासक्ताय धर्माचरणं धर्मोपदेशो वा न रोचत इति भावः ॥६॥

अर्थ - जो मनुष्य अक्ष-आत्मसम्बन्धी कार्यों में सुख मानते हैं वे इस संसार में हितकारी हैं। पापी मनुष्यों के लिये धर्म अहितकारी जान पड़ता है। उचित है—कर्मरूपी रोग से युक्त मनुष्य के लिये रोग होने पर पथ्य-हितकारी वस्तु अच्छी नहीं लगती, यह जो लोकप्रसिद्धि है, वह सत्य ही है ॥६॥

[७]

धनी तु मानाय धनं ददाति,
 धनाय मानाय धियं तु धीमान् ।
 प्रायः प्रभावोऽस्तु कलेः किलायं,
 दूरोऽस्तु धर्मो नियमाच्च ताभ्याम् ॥

धनीति - धनी धनवान् जनो मानायाहंकाराय सन्मानं प्राप्तुं वा धनं वित्तं ददाति वितरति। धीमान् सुधीस्तु धनाय वित्तप्राप्तये मानाय सत्कारं प्राप्तुं वा धियं स्वकीयां बुद्धिं ददाति व्याख्यानादिना तदुपयोगं विदधाति। प्रायः किलायं निश्चयेनायं कलेः पञ्चमकालस्य प्रभावो महिमास्तु नियमात् नियमेन ताभ्यां तथोक्त धनिविद्वद्भ्याम् धर्मो दूरोऽस्तु दूरस्थोऽस्तु। ये मानाय धनं ददति ये च धनाय मानाय च व्याख्यानादिकं कुर्वन्ति ते परमार्थतो दूरस्थाः सन्ति। ये केचिदुपकर्तुमनसः कुर्वन्ति ते विरलाः सन्तीति प्रायः पदेन सूच्यते, तु शब्दः पूर्यर्थः ॥७॥

अर्थ— धनी मनुष्य अहंकार अथवा सम्मान के लिये धन देते हैं और विद्वान् धन तथा सम्मान पाने के लिये अपनी बुद्धि का उपयोग करते हैं, यह प्रायः कलिकाल का प्रभाव है। परमार्थतः धर्म उन दोनों से दूर है ॥७॥

[८]

व्रतं विदग्धं व्रतिनां धियां वा,
 लोभार्चिषा सारविधात् पूतम् ।
 बाह्येन शेषं नहि चान्तरेण,
 गजेन भुक्तं तु कपित्थवत् तत् ॥

व्रतमिति - व्रतिनां व्रतधारिणां धियां वा सुधियां वा सारविधात् न्यायकर्तृ पूतं पवित्रं व्रतं लोभार्चिषा लोभानलेन विदग्धं विशेषेण दग्धं सत् बाह्येन बाह्याचारमात्रेण शेषं भवति अन्तरेण न हि च। बाह्याकारेण शिष्यते नत्वाभ्यन्तर-विशुद्ध्या। गजेन हस्तिना भुक्तं निगलितं कपित्थं दधिफलं तद्वत् भवति। तत् व्रतं। यथा गजेन भुक्तं कपित्थफलमाकृतिमात्रेण विद्यतेऽन्तस्तु सारहीनं भवति तथा लोभिनां व्रतिनां सुधियां च

व्रतं बाह्ये व्रतवत् विभाति हृदये तु विशुद्ध्यभावात् सारहीनं भवतीति भावः ॥८॥

अर्थ - व्रतीजनों अथवा ज्ञानीजनों का सारपूर्ण, पवित्र व्रत यदि लोभानल से दग्ध होता है तो वह बाह्य में ही शेष रहता है, अन्तरङ्ग में नहीं। जैसे हाथी के द्वारा निगला हुआ कैंथा बाहर में पूर्ण दिखता है पर भीतर सार से रहित होता है ॥८॥

[९]

परिग्रहो विग्रहमूल हेतुः,
परिग्रहो विग्रहभाव धाता ।
परिग्रहो विग्रहराजमार्गः,
परिग्रहोऽनेन विमुच्यते सः ॥

परिग्रह इति - परिग्रहो धनधान्यादिसंपत्तिः, विग्रहस्य विद्वेषस्य मूलहेतुः प्रमुखकारणम्, परिग्रहः विग्रहभावस्य विद्वेषभावस्य धाता धारकः कारको वा, परिग्रहः विग्रहस्य युद्धस्य राजमार्गः प्रमुखः पन्था अस्तीति शेषः। अनेन तथोक्तकारणेन स परिग्रहो विमुच्यते त्यज्यते साधुभिरिति यावत् ॥९॥

अर्थ - यतश्च परिग्रह विद्वेष का मूल कारण है, परिग्रह विद्वेषभाव को धारण अथवा उत्पन्न करने वाला है और परिग्रह युद्ध का प्रमुख मार्ग है अतः वह साधुओं के द्वारा छोड़ा जाता है ॥९॥

[१०]

असंयतानां विदुषामपीह,
ज्ञाने स्वभावात् गुणता न भातु ।
स्पर्श्यं न दृश्यं मृदुता न नव्यं,
केशेषु घृष्टेर्भुवि मित्र! दृष्टम् ॥

असंयतानामिति - इह भुवि असंयतानां, विदुषामपि बुधानामपि ज्ञाने स्वभावात् निसर्गतः। ज्ञाने ज्ञानविषये गुणता अप्रधानता न भातु न शोभताम्। अये मित्र! घृष्टेः शूकरस्य केशेषु कचेषु न स्पर्श्यं स्पर्शस्य भावः स्पर्श्यं, न दृश्यं मनोहरत्वं, न मृदुता कोमलत्वं, न नव्यं नूतनत्वं दृष्टं समवलोकितम्। यथा घृष्टेः केशेषु स्पर्शस्य काठिन्यादि न शोभते तथा असंयतानां विदुषां ज्ञानस्याप्राधान्यं न शोभत इति भावः ॥१०॥

अर्थ - असंयमी विद्वानों की भी स्वभाव से ज्ञान विषयक गुणता—अप्रधानता सुशोभित न हो। जैसे कि पृथिवी पर सूकर के वालों में न स्पर्श है, न मनोहरता है, न कोमलता है और न नूतनता है ॥१०॥

[११]

सत्सन्निधाने पतितोऽसुमान्यः,
श्रीकण्ठभावं ध्रुवमातनोति ।
रसं गतं शुक्लदधीदमत्र,
श्रीखण्डभावं किमु नाभ्युपैति ? ॥

सदिति - यः असुमान् प्राणी सत्सन्निधाने सतां साधूनां सन्निधाने संगतौ पतितः प्राप्तः स ध्रुवं निश्चयेन श्रीकण्ठभावं शिवत्वम् आतनोति विस्तारयति । तदेवोदाह्रियते—अत्र भुवि, इदमेतत् शुक्लं सितवर्णं दधिरसं सितोपल्लादिजनितं मधुररसं गतं प्राप्तं सत् किमु श्रीखण्डभावं सुस्वादुपेयत्वं नाभ्युपैति न प्राप्नोति? अपि तु प्राप्नोत्येव ॥११॥

अर्थ - जो मनुष्य सत्संगति में पहुँच जाता है वह निश्चित शिवत्व—शंकरत्व—श्रेष्ठत्व को प्राप्त हो जाता है। इस जगत् में यह शुक्ल दही मिश्री के संसर्ग से उत्पन्न मधुररस के साथ मिलकर क्या श्रीखण्डभाव—सुस्वादुपेयता को प्राप्त नहीं हो जाता? अर्थात् हो जाता है ॥११॥

[१२]

तनूभृतां व्याधिसुमन्दिरं सा,
तनुर्मनोऽप्याधिकमन्दिरं तत् ।
सुसाधुदेहोऽचलमन्दरोऽस्तु,
चेतः समाधेः शिवमन्दिरं तु ॥

तनूभृतामिति - तनूभृतां शरीरिणाम् सा प्रसिद्धा दृश्यमानेति यावत् तनुः शरीरं 'स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः । व्याधीनां शारीरिकपीडानां सुमन्दिरं सुस्थानम् । तत् प्रसिद्धं मनोऽपि चित्तमपि 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः । आधिकमन्दिरं आधयो मानसिकव्यथाः त एवाधिकास्तेषां मन्दिरं स्थानं वर्णयति इति शेषः । 'पुंस्याधिर्मानसीव्याथा' इत्यमरः । तु किन्तु सुसाधुदेहः सत्साधुकायः अचलमन्दर एतन्नामकमेव स्थिरमेव वाऽस्तु जितपरिषहो भवत्विति भावः । सुसाधोः चेतस्तु मनस्तु समाधेर्ध्यानस्य शिवमन्दिरं श्रेयः सदनम् । अस्तु । शरीरं व्याधिमन्दिरं ज्ञात्वा तस्मिन् रागपरिणतिर्न कार्येति भावः ॥१२॥

अर्थ - प्राणियों का वह शरीर रोगों का घर है और वह मन मानसिक पीड़ाओं का स्थान है परन्तु सुसाधु का शरीर मेरु के समान स्थिर - परिषहविजयी और मन समाधि—ध्यान का उत्तम स्थान है ॥१२॥

[१३]

इता त्विति केवलबोधशक्तिः,
शक्तेर्विधेराभवतोऽङ्गिनां सा ।
यथोदिते व्योमनि भास्करेऽस्मिन्,
दलोऽप्युडूनां न हि दृश्यतेऽयम् ॥

इतेति - विधेः कर्मणः शक्तेः सामर्थ्यात् अङ्गिनां प्राणिनां सा प्रसिद्धा
केवलबोधशक्तिः केवलज्ञानशक्तिः आभवतः आसंसारत् इति समाप्तिं इता गता। यथा
येन प्रकारेण व्योमनि विहायसि अस्मिन् भास्करे सूर्ये उदिते सति उडूनां नक्षत्राणां अयं
दलः समूहो न हि दृश्यते नावलोक्यते। 'नक्षत्रमृक्षं भं तारा तारकाप्युडुवास्त्रियाम्'
इत्यमरः ॥१३॥

अर्थ - कर्म की सामर्थ्य से जीवों की वह केवलज्ञान की शक्ति अनादि संसार से
उस तरह समाप्ति को प्राप्त हो रही है जिस प्रकार कि इस आकाश में सूर्य के उदित
होने पर नक्षत्रों का यह समूह नहीं दिखाई देता है ॥१३॥

[१४]

धूम्रप्रसूतिर्ज्वलतो यथा स्या—
दार्देन्धनात् सा नियतेह दृष्टा ।
विरागदृष्टे न हि पुष्टितुष्टी,
स्यातां गृहे सा तु सरागदृष्टिः ॥

धूम्रेति - इह वसुधायां ज्वलतोऽनलात् यथा या धूम्रप्रसूतिर्भवति सा नियता
आर्देन्धनात्सजलेन्धनात् दृष्टा विलोकिता। विरागदृष्टे विरागा रागरहिता दृष्टिर्यस्य तस्य
पुष्टितुष्टी पुष्टिश्च तुष्टिश्च पोषणसंतोषौ न हि स्याताम् भवेताम् । सा पुष्टितुष्टिप्रदा
दृष्टिः गृहे तु स्यात् । यथा ज्वलतोऽग्नेर्धूम्रप्रादुर्भूतिरार्देन्धनसंयोगाद्भवति तथा
पुष्टितुष्टीसरागभावाद् गृहवासिनामेव स्यातां न तु गृहत्यागिनामनगाराणामिति
भावः ॥१४॥

अर्थ - जिस प्रकार जगत् में अग्नि से जो धूम की उत्पत्ति देखी जाती है वह गीले
इन्धन के संयोग से देखी गयी है। इसी प्रकार पोषण और संतोष सरागदृष्टि के होते हैं,
विरागदृष्टि के नहीं। वह सरागदृष्टि घर में रहने वालों के होती है, गृहत्यागी मुनियों
की नहीं ॥१४॥

[१५]

अध्यात्मशास्त्रं शमिने सुधा स्यात्,
सङ्गात्मनेऽस्मिन् विषमं विषं तत् ।
मीनस्य नीरं खलु जीवनं हा,
मृत्युः परस्मै विदितं न केन ? ॥

अध्यात्मेति - अध्यात्मशास्त्रम् आत्मनीति अध्यात्मं तस्य शास्त्रमात्मस्वरूप-
विवेचको ग्रन्थः शमिने शान्तस्वभावाय मुनये सुधा पीयूषं स्यात्। अस्मिन् जगति
सङ्गात्मने परिग्रहसहिताय गृहिणे तदात्मशास्त्रं विषमं तीव्रं विषं गरलं स्यात् । खलु
निश्चयेन नीरं जलं मीनस्य मत्स्यस्य जीवनं जीवनदायकं परस्मै तु मृत्युः प्राणान्तकरं
स्यादिति केन न विदितं ज्ञातम्? सर्वज्ञातमित्यर्थः 'हा' खेदे पात्रस्य योग्यतामाकलय्यैव
शास्त्रोपदेशो हिताय भवति श्रोतृणामिति भावः ॥१५॥

अर्थ - इस जगत् में अध्यात्मशास्त्र, शान्तपरिणामी—गृहत्यागी मुनि के लिये
अमृत रूप होता है, परन्तु परिग्रही गृहस्थ के लिये तो विषम विषरूप होता है। जैसे
निश्चयतः पानी मछली के लिये जीवन—प्राणदायक परन्तु दूसरे के लिये मृत्युरूप है,
यह कौन नहीं जानता ?

[१६]

स्वभाव-भुक्तिर्न विभावमुक्ति—
स्तनूभृतिरत्यक्ततनौ यथा स्यात् ।
प्रकाशशक्तिर्न हि गन्धभावो,
दुग्धेऽमलत्वं तु घृते समस्तु ॥

स्वभावेति - त्यक्ततनौ त्यक्ता तनुः शरीरं येन तस्मिन् मृते इत्यर्थः तनूभृति
शरीरिणि यथा न स्वभावस्य भुक्तिः संवेदनं भवति न विभावमुक्तिः विकृतपरिणामोपरतिः
स्यात्। तदेवोदाह्रियते—दुग्धे क्षीरे न प्रकाशशक्तिरस्ति न च गन्धभावो विद्यते तु किन्तु
तत्सर्वममलत्वं निर्मलत्वं प्रकाशकत्वं सुगन्धसत्त्वं च भवति। यथा घृते तत्स्वभावः
प्रकटीभवति न तु तत्पूर्वपरिणामे दुग्धे तथैव सर्वगुणविकासः शुद्धात्मन्येव भवतीति
भावः ॥१६॥

अर्थ - जिस प्रकार मृत प्राणी में न स्वभाव का संवेदन है और न विभाव का
मोचन, उसी प्रकार प्रकाश की शक्ति और गन्ध का संबन्ध दूध में नहीं है किन्तु घृत में
अच्छी तरह है। तात्पर्य यह है कि अशुद्ध दशा में शरीर का परित्याग — मरण होने पर
भी आत्मस्वभाव का वेदन नहीं होता और न विकारी भावों का मोचन। किन्तु यह सब
शुद्ध दशा होने पर होता है ॥१६॥

[१७]

भोगोपभोगेषु रतो न, मानी,
योगोपयोगेषु परः प्रमाणी ।
नासाग्रदृष्टिर्न हि सान्यथा ते,
विनेति मानेन मनोऽनुमन्ये ॥

भोगेति - भगवन्! त्वं भोगोपभोगेषु भोगाश्च सकृद्भोग्या, उपभोगाश्च, भूयोभूयो भोग्याश्च तेषु भोगोपभोगपदार्थेषु रतो लीनो न, अतएव मानी स्वाभिमानी असि। योगोपयोगेषु ज्ञानध्यानेषु परो लीनः, अतएव प्रकृष्टमानयुक्तोऽसि यदि चेदन्यथा त्वयि मानित्वं प्रमाणित्वं च यदि न स्यात् तर्हि नासाग्रदृष्टिर्न स्यात्। मानेन विनो मनः कुतः स्यादित्यहम् अनुमन्ये ॥१७॥

अर्थ— हे भगवान्! आप भोग और उपभोग में रत—लीन नहीं हैं इसलिये मानी—स्वाभिमानी हैं तथा योग—ध्यान और उपयोग—ज्ञानदर्शन में पर—तत्पर हैं इसलिये प्रमाणी—प्रकृष्ट मान से युक्त हैं। पक्ष में प्रमाण ज्ञान से सहित हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो आपकी नासाग्रदृष्टि नहीं हो सकती। मान के बिना मन कैसे रह सकता है, यह अनुमान करता हूँ ॥१७॥

[१८]

भूत्वा नरोऽयं सुकृतात् सुसङ्गं,
व्रतं कदं नोऽप्यकदं प्रयाति ।
उदारदातारमगं सरिन्,
क्षारं च वार्धि कृपणं समेति ॥

भूत्वेति - अयं प्राणी सुकृतात् पुण्यात् नरो मनुष्यो भूत्वा कदं सुखदं व्रतं पापोपरमं न प्रयाति, अपि तु अकदं दुःखदं सुसङ्गं परिग्रहं प्रयाति। यथा सरित् निम्नगा उदारदातारं उत्कृष्टदानशीलम् अगं शैलं वृक्षं वा न समेति प्राप्नोति किन्तु क्षारं लवणस्वभावं कृपणमदातारं वार्धिसागरं समेति। अतएव च सा निम्नगा कथ्यते ॥१८॥

अर्थ - यह प्राणी पुण्य से मनुष्य होकर सुखदायक व्रत को प्राप्त नहीं होता किन्तु दुःखदायक परिग्रह को प्राप्त होता है। उचित ही है क्योंकि नदी उदारदानशील अगं—पर्वत अथवा वृक्ष को तो प्राप्त नहीं होती किन्तु खारे और कंजूस समुद्र के पास जाती है ॥१८॥

[१९]

असंयते श्रीमति धीमतीह,
विना प्रयत्नेन मदस्य भावः ।
दृष्टेरभावात् किल तापसेऽपि,
निद्रा निशायां, समुपैति प्रायः ॥

असंयत इति - दृष्टेर्विवेकदृशोऽभवात्। इह लोके असंयते संयमरहिते श्रीमति लक्ष्मीयुक्ते, धीमति सुधियि तापसेऽपि कृततपश्चरणे जनेऽपि प्रयत्नेन विना प्रयासमन्तरेण किल निश्चयतः मदस्य गर्वस्य भावः सद्भावः दृश्यत इति शेषः । तत्समर्थयति - निशायां विभावयां प्रायो निद्रा समुपैति समागच्छति। यथा निशायां निद्रा निसर्गादायाति तथा संयमरहितेषु श्रीमत्प्रभृतिषु मदस्य सद्भावो निसर्गाद् दृश्यत इत्यर्थः ॥१९॥

अर्थ- विवेकपूर्ण दृष्टि का अभाव होने से संयमहीन, श्रीमान्, धीमान् और तापसी में भी प्रयत्न के विना ही गर्व का सद्भाव होता है यह ठीक है क्योंकि प्रायः रात्रि में निद्रा प्रयत्न के विना आती ही है ॥१९॥

[२०]

विनात्र रागेण वधूललाटो,
विनोद्यमेनापि विभातु देशः ।
दृष्ट्या विना सच्च मुनेर्न वृत्तं,
रसेन शान्तेन कवेर्न वृत्तम् ॥

क्वितेति - अत्र भुवि रागेण कुङ्कुमेन विना वधूललाटो ललनाभालो, उद्यमेन व्यवसायेन विना देशोऽपि जनपदोऽपि दृष्ट्या सम्यग्दर्शनेन विना मुनेः सद्वृत्तं सम्यक्चरित्रं शान्तेन रसेन विना कवेः काव्यकर्तुः वृत्तं छन्दोऽपि नवभावतु न शोभताम् । 'त्रिषु वृत्तं तु चरिते वृत्तं छन्दसि वर्तते' इति विश्वलोचनः । विभावानुभावसंचारिभावसंयोगाद् व्यक्तः स्थायिभावो रसः कथ्यते। स च शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकः। वीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ शान्तोऽपि नवमः स्मृतः ॥' इत्युक्तेर्नवविधो भवति ॥२०॥

अर्थ - इस पृथिवी पर कुङ्कुम के विना स्त्री का ललाट, व्यवसाय-उद्योग के विना देश, सम्यग्दर्शन के विना मुनि का सम्यक्चरित्र और शान्तरस के विना कवि का छन्द सुशोभित न हो ॥२०॥

[२१]

आसन्नमृत्युर्विषयी कषायी,
निष्क्रान्तकान्तिर्ननु दीप्तमोहः ।
अत्यन्तवृद्धा गहनेऽम्लिकास्तु,
तथापि वृद्धाम्लिकता न सास्तु ॥

आसन्नेति - आसन्नमृत्युः आसन्नो निकटस्थो मृत्युर्मरणं यस्य तथाभूतः। विषयी पञ्चेन्द्रियविषयासक्तः। कषायी प्रदीप्तक्रोधादियुक्तः। निष्क्रान्तकान्तिः निष्क्रान्ता निर्गता कान्तिर्दीप्ति र्यस्य तथाभूतो ननु निश्चयेन दीप्तमोहो दीप्तो मोहो यस्य तथाभूतः तीव्ररागादियुक्तो भवति। तदेवोदाहरति— गहने विपिने अम्लिका 'इमली' इति प्रसिद्धपादपा यद्यपि सन्तु तथापि सा प्रसिद्धा स्वभावभूता आम्लिकता अम्लरसयुक्तता नास्तु? न भवतु अपितु भवत्येव। काकुप्रयोगः 'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते' इत्यभिधानात् ॥२१॥

अर्थ - जिसकी मृत्यु निकट है तथा कान्ति निकल चुकी है ऐसा विषयकषाय से युक्त मनुष्य निश्चय से तीव्रमोह से युक्त देखा जाता है जैसे वन में इमली के वृक्ष पुराने तो होते हैं पर उनका खट्टापन क्या वही नहीं रहता ? ॥२१॥

[२२]

शृङ्गार एवैकरसो रसेषु,
न ज्ञाततत्त्वाः कवयो भणन्ति ।
अध्यात्मशृङ्गः त्विति राति शान्तः,
शृङ्गार एवेति ममाशयोऽस्ति ॥

शृङ्गार इति - रसेषु शृङ्गार एव एकरसः एकश्चासौ रसश्चेति एकरसो मुख्यरसोऽस्ति 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः। इत्येवं ज्ञाततत्त्वाः ज्ञातं तत्त्वं यैस्ते तथाभूताः कवयो न भणन्ति न कथयन्ति। 'अध्यात्मस्य शृङ्गः शिखरं सर्वोच्चस्थानं राति ददातीति शृङ्गार इति निरुक्त्या शान्तः शान्ताभिधानो रस एव शृङ्गार एतन्नामा रसोऽस्ति। इत्येवं मम काव्यकर्तुः आशयोऽभिप्रायोऽस्ति। 'अभिप्रायखण्डं आशयः' इत्यमरः। शृङ्गं मन्मथोद्भेदं राति ददातीति शृङ्गार इति निरुक्तिः शृङ्गारपदस्य न ग्राह्या किन्त्वध्यात्मस्य शृङ्गः शिखरं राति ददातीति ग्राह्येति भावः ॥२२॥

अर्थ - 'रसों में एक शृङ्गार रस ही प्रमुख है' ऐसा यथार्थ तत्त्व को जानने वाले कवि नहीं कहते हैं। 'अध्यात्म के शृङ्ग - शिखर - सर्वोच्च स्थान को जो देता है वह शृङ्गार है इस निरुक्ति से शान्त ही शृङ्गार रस है' ऐसा मेरा अभिप्राय है ॥२२॥

[२३]

तीर्थङ्कराणां शिवकेशवानां,
नामावली सा बलदेवकानाम् ।
किं विस्मृता नो जगता मृता या—
प्यस्मादृशां कास्तु कथेतरेषाम् ॥

तीर्थेति - तीर्थङ्कराणां वृषभादीनां शिवकेशवानां शिवशब्द रुद्राश्च केशवाश्च नारायणाश्च तेषां । बलदेवकानां बलदेवा एव बलदेवकास्तेषां बलभद्राणां या नामावली मृता दिवंगता सापि किं जगता लोकेन नो विस्मृता विस्मृतिपथं नीता । अस्मादृशां मादृक्षाणाम् इतरेषामन्येषां का कथा चर्चा अस्तु भवतु । तीर्थकरादीनामपि नामावली यदा जगता विस्मृता तदास्माकं सामान्यपुरुषाणां किं विस्मृता नो भविष्यति ? अतो लोकख्यातेर्निवृत्तिरेव श्रेयसीति यावत् ॥२३॥

अर्थ - तीर्थकर, रुद्र, नारायण और बलभद्रों की भी नामावली मरने के बाद जब जगत् ने भुला दी तब हमारे जैसे साधारण पुरुषों की तो कथा ही क्या हो ? ॥२३॥

[२४]

अर्थेन युक्तं नरजीवनं न,
चार्थे नियुक्तं मुनिजीवनं चेत् ।
खपुष्पशीलं च भुवीक्षुपुष्प—
वदेव वन्द्यं न विदुर्विमानाः ॥

अर्थेनेति - चेद् यदि नरजीवनं गृहमनुष्यजीवनं अर्थेन धनेन युक्तं सहितं न, मुनिजीवनं निर्ग्रन्थमुनिजीवनं च अर्थे नियुक्तं संपृक्तं तर्हि तत् भुवि पृथिव्यां खपुष्पशीलं गगनकुसुमसदृशं इक्षुपुष्पवच्च पौण्ड्रकदण्डकुसुमवच्च वन्द्यं वन्दनीयं समादरणीयं नास्तीति शेषः । इति विमानां विशिष्टज्ञानयुक्ता गर्वरहिता वा विदुर्जानन्ति ॥२४॥

अर्थ - यदि गृहस्थ मनुष्य का जीवन धन से रहित है और मुनि का जीवन धन में संलग्न है तो वह पृथिवी पर आकाश पुष्प और ईख के पुष्प के समान निष्फल है, अतः आदरणीय नहीं है, ऐसा ज्ञानी जन जानते हैं— कहते हैं ॥२४॥

[२५]

संज्ञाततत्त्वोऽप्यधनी गृही स,
लोकेऽत्र दृष्टो धनिकानुगामी ।
शवा स्वामिनं वीक्ष्य यथाशुदीनः,
सुखाय संचालितलूमकोऽस्तु ॥

संज्ञातेति-संज्ञाततत्त्वोऽपि संज्ञातं सम्यगवबुद्धं तत्त्वं वस्तुस्वरूपं येन तथाभूतोऽपि गृही यदि अधनी धनरहितोऽस्ति तर्हि सः। अत्र लोके धनिकानुगामी धनिकान् अनुगच्छतीत्येवंशीलो दृष्टो विलोकितः। स्वामिनं वीक्ष्य दृष्ट्वा सुखाय सुखप्राप्तयै संचालितलूमकः संचालितपिच्छः श्वा यथा कुक्कुर इव आशु शीघ्रं दीनो वराकोऽस्तु भवतु। ज्ञाततत्त्वोऽपि निर्धनो गृही धनिकानुगामी दृश्यतेऽयं खेदस्य विषयोऽस्तीति भावः ॥२५॥

अर्थ - वस्तुतत्त्व का ज्ञाता होकर भी निर्धन गृहस्थ सुख प्राप्ति के लिये उस प्रकार धनिकों का अनुगमन उनकी हों में हों मिलाता हुआ देखा गया है जिस प्रकार कि मालिक को देखकर सुख पाने की इच्छा से पूँछ हिलाता हुआ कुत्ता शीघ्र दीन हो जाता है ॥२५॥

[२६]

निश्रेयसोऽस्मै मुनये पथीह,
सङ्गोऽप्यणुः संचरतेऽस्ति विघ्नः ।
वाताहतः पुच्छकमण्डलोऽपि,
शिखण्डिने स्वस्य यथास्त्यरण्ये ॥

निश्रेयस इति - इह लोके निःश्रेयसो मोक्षस्य पथि मार्गं संचरते संचरणं कुर्वते, अस्मै मुनये, अणुरप्यल्पपरिमाणोऽपि सङ्गः परिग्रहो विघ्नो बाधकोऽस्ति। तदेवोदाहरति - वाताहतो वातेन वायुना हतः पीडितः यथा स्वस्य निजस्य पिच्छकमण्डलोरपि कलाप-समूहोऽपि, अरण्ये विपिने संचरते विहरते शिखण्डिने मयूराय विघ्नो बाधकोऽस्ति ॥२६॥

अर्थ - यहां मोक्षमार्ग में संचार करने वाले इस मुनि के लिये अल्प भी परिग्रह उस तरह विघ्न करने वाला है, जिस तरह कि वन में विचरने वाले मयूर के लिये वायु से ताडित उसके निजी पिच्छों का समूह ॥२६॥

[२७]

सङ्गस्तु सङ्गोऽस्तु समाधिकाले,
संघस्य भारो यमिनेऽस्तु सङ्गः ।
वृद्धाय वा भूषणकानि कानि,
लघूनि वस्त्राणि गुरूणि सन्तु ॥

सङ्गस्त्विति - यमिने मुनये समाधिकाले संन्यासावसरे सङ्गःपरिग्रहः सङ्गोऽस्तु परिग्रहो भवतु। स तु परिग्रहोऽस्त्येव किन्तु संघस्य चतुर्विधसाधुसमूहस्य भारोऽपि सङ्गः परिग्रहो भवति। अतएवाचार्यः समाध्यवसरे सङ्गस्य भारमन्यस्मै समर्प्य समाधिं गृह्णातीति भावः। तदेवोदाहरति वा यथा 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरिवाथोऽपि सधुच्चये' इति विश्वः कानि सुखरूपाणि भूषणकानि ह्रस्वानि भूषणानि भूषणकानि लघुभूषणानीति यावत् लघूनि गुरुत्वरहितानि वस्त्राण्यपि गुरूणि दुर्भराणि 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति विश्वः अथवा भूषणकानि कानि किं वस्तूनि लघूनि वस्त्राण्यपि गुरूणि भान्ति ॥२७॥

अर्थ - मुनि के लिये समाधि के समय परिग्रह तो परिग्रह है ही परन्तु सङ्ग का भार-दायित्व भी परिग्रह हो जाता है। जैसे वृद्ध के लिये सुखदायक लघु आभूषण और वस्त्र भी भारी हो जाते हैं अथवा वृद्ध के लिये अल्प आभूषण क्या हैं, लघु वस्त्र भी भारी लगने लगते हैं ॥२७॥

[२८]

कायेन वाचा तु गुरु कठोरो,
हितैषिणः स प्रति तान् विनेयान् ।
तथा न चित्तेन मृदुर्दयैक-
धामा लघुः श्रीफलवत् सदास्तु ॥

कायेनेति - हितैषिणः हितमिच्छन्तीत्येवंशीलः हितैषिणस्तान् हिताभिलाषिणः तान् सङ्गस्थितान् विनेयान् शिष्यान् प्रति स गुरुराचार्यः कायेन देहेन वाचा वाण्या तु कठोरः कठिनाचारप्रियो यथा भवति तथा चित्तेन मनसा न भवति। मनसा तु श्रीफलवत् नारिकेलवत् मृदुः कोमलः दयैकधामा दयायाः करुणाया एकमद्वितीयधाम स्थानं लघुः गम्यः सदा सर्वदा अस्तु भवतु ॥२८॥

अर्थ - हिताभिलाषी संघस्थ शिष्यों के प्रति गुरु काय और वचन के द्वारा कठोर भले ही हों परन्तु मन से नारियल के समान कोमल, दया का प्रमुख स्थान और सुगम्य सदा रहना चाहिये ॥२८॥

[२९]

पापाय पापैर्जिनवाक् श्रिता सा,
पुण्याय पापातिगकैः पुनीता ।
जलस्य धारां रसमिक्षुणा च,
निम्बोरगाभ्यां कटुतां सुनीता ॥

पापायेति - पापैः पापं विद्यते येषांते पापास्तैः पापयुक्तेर्जनैः 'अर्शआदिभ्योऽच्' इत्यनेन मतुबर्थेऽच् प्रत्ययः। पुनीता पवित्रा ज्ञानवैराग्यकारणत्वादिति यावत् सा प्रसिद्धा जिनवाक् जिनवाणी पापाय विषयकषायपोषणहेतवे श्रिता गृहीता। पापातिगकैः पापमतिक्रम्य गच्छन्तीति पापातिगाः ते एव पापातिगकास्तैः पुण्याय सुकृताय विषयकषायनिवृत्त्यै श्रिता सेविता। तदेवोदाह्रियते जलस्य सलिलस्य धारा प्रवाहः इक्षुणा रसालेन रसं माधुर्यं सुनीता प्रापिता निम्बोरगाभ्यां निम्बश्चोरगश्च निम्बोरगौ भिचुमर्दसर्पौ ताभ्याम् च कटुतां कटु स्वभावं सुनीता ॥२९॥

अर्थ - पापी मनुष्यों ने पवित्र जिनवाणी का आश्रय पापकार्य— विषयकषाय की पुष्टि के लिये लिया है और निष्पाप- पापरहित मनुष्यों ने पुण्य के लिये। जैसे ईख जल की धारा को मधुररस प्राप्त कराती है और नीम तथा सर्प कड़वा रस ॥२९॥

[३०]

यातोऽस्म्यहं - कारविकारभावं,
कायस्य नो तं ममकारभावम् ।
यास्याम्यहं कायनिकायभावं,
नात्मा भृशं यन्मम कारभावम् ॥

यात इति - कायस्य शरीरस्य विषये अहंकारविकारभावं दर्शनमोहोदयेन जाता परस्मिन्नहं-बुद्धिरहंकारः अहंकारश्चासौ विकारभावश्चेति अहंकारविकारभावस्तं, नो यातोऽस्मि। एवं ममकारभावं चारित्रमोहोदयेन जाता परस्मिन् ममत्वबुद्धि र्ममकारः सचासौ भावश्चेति ममकारभावस्तं नो यातो न प्राप्तोऽस्मि। अहं समुत्पन्नप्रज्ञः कायनिकायभावं काये शरीरे निकायभावं गृहभावं यास्यामि प्राप्स्यामि, शरीरेऽहंकारं ममकारं च त्यक्त्वा तदात्मनो गृहं निवासस्थानं जानामीति भावः। यत् यस्मात् मम आत्मा भृशं सातिशयं कारभावं कालभावं मरणं न यास्यति। 'यमकादौ भवेदैक्यं डलो र्वो रलोस्तथा' इत्युक्तत्वात् कारपदेन कालस्य ग्रहणम् ॥३०॥

अर्थ - मैं शरीर के विषय में अहंकारभाव को और प्रसिद्ध ममकारभाव को प्राप्त नहीं हुआ हूँ अर्थात् शरीर में मेरा अहंभाव और ममत्वभाव नहीं है। मैं शरीर में निकायभाव गृहभाव को प्राप्त हूंगा अर्थात् शरीर को गृहरूप मानूंगा जिसके फलस्वरूप मेरा आत्मा कालभाव-मृत्यु को प्राप्त नहीं हो सकेगा ॥३०॥

[३१]

पापेन पापं न लयं प्रयाति,
पुनस्तु पुण्यं पुरुषं पुनातु ।
मलं मलेनालमलं लयं तत्,
विना विलम्बेन जलेन याति ॥

पापेनेति - पापं दुरितं पापेन दुरितेन लयं विनाशं न प्रयाति पुनस्तु किन्तु पुण्यं पुरुषं पुनातु पवित्रं करोतु विदधातु। पुण्येन पुरुषः पूतो भवतीत्यर्थः। तदेवोदाहरति—मलेन मलं लयं नाशं न प्रयाति तत् मलेन अलमलं व्यर्थं व्यर्थमित्यर्थः। किन्तु जलेन सलिलेन विलम्बेन विना शीघ्रं लयं याति ॥३१॥

अर्थ - पाप से पाप विनाश को प्राप्त नहीं होता किन्तु पुण्य मनुष्य को पवित्र करता है। जैसे मल से मल नाश को प्राप्त नहीं होता। अतः मल धोने के लिये बिल्कुल व्यर्थ है किन्तु जल के द्वारा वह मल शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाता है ॥३१॥

[३२]

विश्वस्य सारं प्रविहाय विज्ञः,
कः स्वं त्वटेत् स्वं भुवि वीतमोहः ।
निस्सारभूतं किमु तक्रमिष्टं,
स्वादिष्ट आप्ते नवनीतसारे ॥

विश्वस्येति - भुवि पृथिव्यां वीतमोहो वीतो मोहो यस्य तथाभूतः मोहरहितः को विज्ञः को विशेषज्ञः। विश्वस्य भुवनस्य सारं श्रेष्ठं स्वमात्मानं प्रविहाय त्यक्त्वा स्वं धनम् अटेत् गच्छेत् प्राप्तुमिच्छेदिति यावत्। तदेवोदाहरति - इष्टेऽभिलषिते स्वादिष्टे स्वादुतरे नवनीतसारेनवनीत एव सारस्तस्मिन् आप्ते सति निस्सारभूतं सारहीनं तक्रं मथितं किमु इष्टं भवति? अपि तु नैव ॥३२॥

अर्थ— पृथ्वी पर ऐसा कौन निर्मोह ज्ञानी पुरुष है जो सब पदार्थों में सारभूत अपने आत्मा को छोड़कर धन को प्राप्त करना चाहे। स्वादिष्ट मक्खन रूप सार के प्राप्त हो जाने पर क्या सारहीन छाँछ इष्ट होती है अर्थात् नहीं ॥३२॥

[३३]

धनार्जनारक्षणयोर्विलीनो,
विना सुखेनार्तमना मृतो ना ।
मोहस्य शक्तिर्जगता न गम्या,
व्यथां गता सा चमरी यथात्र ॥

धनेति - धनार्जनारक्षणयोः धनस्य वित्तस्यार्जनं प्राप्तकरणम् आरक्षणं संरक्षणं च तयोः विलीनः समासक्तः अतएव आर्त्तमना आर्त्तं मनो यस्य स दुःखितहृदयः ना नरः सुखेन शर्मणा विना सुखमप्राप्यैव मृतो म्रियते स्म । यथा येन प्रकारेण सा प्रसिद्धा चमरी सुन्दरवालधियुक्ता सुरागौः बालधिवालसंरक्षणपरत्वेन व्यथां पीडां गता प्राप्ता । अतो मोहस्य लोभप्रवृत्तेः शक्तिः समर्थता जगता भुवनेन गम्या ज्ञातुं योग्या नास्तीति शेषः । यथा गुल्मलग्नवालधिश्चमरी पिच्छवालसंरक्षणलोभेन तत्रस्था लुब्धकेन मार्यते तथायं परिग्रहासक्तो नरः सुखमप्राप्यैव कालेन मार्यत इति भावः ॥३३॥

अर्थ - धन के उपार्जन और संरक्षण में लगा मानव सुख के विना दुःखी होता हुआ मर जाता है जैसे इस जगत् में सुरागाय पूँछ के बालों की रक्षा में संलग्न रह पीड़ा को प्राप्त होती। अतः मोह की शक्ति—समर्थता जगत् के गम्य नहीं हैं — जानने योग्य नहीं है ॥३३॥

[३४]

शस्ताः प्रजाः सन्तु विनात्र राज्ञा,
राजा तथा नोऽस्तु विना प्रजाभिः ।
को नाम सिन्धुः परतन्त्र एव,
बिन्दुः स्वतन्त्रः किल सिन्धुहेतुः ॥

शस्ता इति - अत्र जगति राज्ञा नृपेण विना शस्ताः श्रेष्ठाः प्रजाः सन्तु । तु किन्तु प्रजाभिः विना राजा नृपस्तथा तादृक् शस्त इति यावत् नो अस्तु न भवतु । भोगभूमौ राज्ञा विना प्रजाः सुखेन निवसन्ति परन्तु कर्मभूमौ प्रजामन्तरेण राजा न भवति । तदेवोदाहरति- सिन्धुः सागर को जामास्ति यः परतन्त्र एव बिन्द्वायत्त एव वर्तते किल बिन्दुः पृषतः स्वतन्त्रः सिन्धुहेतुः सागरव्यपदेशनिमित्तं भवति । स्वतन्त्रोऽल्पीयानपि शोभते परायत्तो महानपि न शोभते इत्यर्थः ॥३४॥

अर्थ - इस जगत् में राजा के विना उत्तम प्रजा भले ही रह सकती है परन्तु प्रजा के विना राजा नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रजा के रहने पर ही प्रजापति — राजा संज्ञा प्राप्त होती है। अतः राजा प्रजा के अधीन होने से परतन्त्र है, प्रजा स्वतन्त्र है। पानी की बूँद सागर के विना स्वतन्त्र रह सकती है परन्तु बूँदों के विना सागर का अस्तित्व नहीं रह सकता, क्योंकि बूँदों का समूह ही सागर कहलाता है ॥३४॥

[३५]

भोगानुवृत्तिर्विधिबन्धहेतु—
योगानुवृत्तिर्भवसिन्धुसेतुः ।
बीजानुसारं कलितं फलं तत्,
किं निम्बवृक्षे फलितं रसालम् ॥

भोगेति - भोगानुवृत्तिः भोगानां पञ्चेन्द्रियविषयाणाम् अनुवृत्तिरनुगमनं विधि-
बन्धहेतुर्विधीनां कर्मणां बन्धस्य हेतुः कारणम् । योगानुवृत्तिश्च योगो
विषयत्यागस्तस्यानुवृत्तिरनुगमनं भवसिन्धुसेतुः भवः संसार एव सिन्धुः सागरस्तस्य सेतुः
पुलिनो वर्तते । तदेवोदाहरति तत् प्रसिद्धं फलं बीजानुसारं कलितं प्राप्तं दृश्यते । किं
निम्बवृक्षे पिचुमर्दपादपे रसालम् आम्रं फलितं समुद्भूतं? नैव समुद्भूतम् ॥३५॥

अर्थ - भोगों का अनुगमन कर्मबन्धन का कारण है और योग का अनुगमन
संसार-सागर का पुल है। जगत् में बीज के अनुसार ही फल प्राप्त होता है। क्या नीम के
वृक्ष पर आम फलता है? अर्थात् नहीं ॥३५॥

[३६]

त्यक्तस्तु सङ्गो गतमोहभावै—
स्तत्रानुभूतो न हि कष्टलेशः ।
स्निग्धत्वहीनात् पलितं च पत्रं,
तत् पादपाद् वा पतितं स्वभावात् ॥

त्यक्तेति - गतमोहभावैः गतो नष्टो मोहभावो ममत्वादिपरिणामो येषां तैः सङ्गः
परिग्रहस्त्यक्तः समुज्जितः किन्तु तत्र त्यागे तैः कष्टलेशः दुःखलवो न हि नैवानुभूतः भुक्तः ।
तदेवोदाहरियते-पलितं पक्वं पत्रं पर्णं स्निग्धत्वहीनात् स्निग्धत्वेन सरसत्वेन हीनो
रहितस्तस्मात् पादपाद् वृक्षात् स्वभावात् निसर्गात् पतितं भवति । वेनि
उपमार्थे ॥३६॥

अर्थ - मोहभाव से रहित मनुष्यों के द्वारा जो परिग्रह छोड़ा गया है उसमें उन्होंने
रंच मात्र भी दुःख का अनुभव नहीं किया है। पका पत्र जैसे सरसता से रहित वृक्ष से टूट
कर पड़ता है तो वह स्वभाव से पड़ता है ॥३६॥

[३७]

अक्षार्थरागो भवदुःखदाता,
धर्मानुरागोऽभवसौख्यदाता ।
प्रभातरागो शृणु सान्ध्यरागे,
किमन्तरं तत्र महन्न मित्र! ॥

अक्षार्थेति - अक्षार्थेषु हृषीकविषयेषु रागः स्नेहः भवदुःखदाता सांसारिकदुःखानां प्रदाता। धर्मानुरागः धर्मं सुकृतकार्येऽनुरागः प्रेमाअभवसौख्यदाता निर्वाणसुखानां प्रदायकोऽस्ति । मित्र! अये सुहृद्! प्रभात-रागे प्रत्यूषरक्तवर्णे सान्ध्यरागे दिवसान्तलोहितवर्णे च किं महत् विपुलं अन्तरं वैशिष्ट्यं न वर्तते? इति शृणु समाकर्णय। प्रभाते प्राच्यां दृश्यमानलालिम्नः फलं सूर्योदयो भवति सायं च प्रतीच्यां दृश्यमान लालिम्नः फलं तिमिरप्रसारो भवतीति भेदो वेद्यः ॥३७॥

अर्थ - इन्द्रियविषयसम्बन्धी राग सांसारिकदुःख का देने वाला है और धर्मसम्बन्धी राग सांसारिकसुख का देने वाला है। सुनो मित्र! क्या प्रभात की लाली और संध्या की लाली में बड़ा अन्तर नहीं है? अवश्य है ॥३७॥

[३८]

उन्मत्ततोऽप्यत्र सुपीतमद्यात्,
सुपीडितात् वृश्चिकदंशनेन ।
कपेश्च चित्तं चपलं नराणां,
धन्यो यमी यस्य लयं गतं तत् ॥

उन्मत्त इति - अत्र जगति नराणां मनुष्याणां चित्तं चेतः उन्मत्ततः प्रकृत्या विक्षिप्तात् सुपीतमद्यात् सुपीतं मद्यं मैरेयं येन तस्मात्, वृश्चिकदंशनेन वृश्चिकस्य पिच्छविषस्य दंशनेन सुपीडितात् प्राप्ताधिककष्टात् कपेर्वानरादपि चपलं चञ्चलं भवति । यमी मुनिस्तु धन्यः श्लाघनीयोऽस्ति यस्य तत् चित्तं लयं गतं चापल्यरहितं जातम् ॥३८॥

अर्थ - इस जगत् में मनुष्यों का चित्त उस वानर से भी अधिक चञ्चल है जो स्वभाव से पागल है, जिसने मदिरा पी ली है और विच्छू के काटने से अत्यन्त पीडित है। वह मुनि धन्य है जिसका कि चित्त विलीनता को प्राप्त है—स्थिर है ॥३८॥

[३९]

तथा प्रतीतिस्तु सुखस्य तत्र
सुखं न लेशं निजमोहभावात् ।
अर्थेषु खानां जलमन्थनेन,
फेनानुभावो हि तदाप्युदेति ॥

तथेति - निजमोहभावात् निजे स्वात्मनि मोहभावादज्ञानभावात् । खानामिन्द्रियाणां 'खमिन्द्रियं हृषीकं च श्रोतोऽक्षं करणं विदुः' इति धनंजयः। अर्थेषु

विषयेषु तथा तादृक् सुखित्वस्य प्रतीतिराभासो भवतु किन्तु तत्र सुखस्य शर्मणः
 लेशमल्पपरिमाणं नास्ति। जलमन्थनेन तदापि मन्थनवेलायामपि *फेनानुभावो
 डिण्डीरानुभावो हि निश्चयेन उदेति उत्पद्यते परन्तु घृतस्योत्पत्तिर्न दृश्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ - आत्मविषयक अज्ञानभाव से इन्द्रियों के विषयों में सुखित्व की प्रतीति
 भले ही हो परन्तु उसमें सुख का लेश भी नहीं होता। जैसे जल के मन्थन—विलोलने से
 फेन की अनुभूति तो उस समय होती है परन्तु घी का अंश भी प्राप्त नहीं होता ॥ ३९ ॥

[४०]

मार्गं स्मृते र्यस्य गतो जिनेन्द्रोऽ—
 प्येनो गतं तस्य लयं समस्तम् ।
 नदादिनीरं मलिनं निरस्तं,
 वागस्त्ययोगे भवतात् पवित्रम् ॥

मार्गमिति - जिनेन्द्रोऽष्टप्रातिहार्यं मण्डितोऽर्हन्परमेष्ठी यस्य स्मृतैर् मार्गं गतः प्राप्त-
 स्तस्य समस्तम् एनः पापं 'वृजिनं कलिलमेनः' इति धनञ्जयः। लयं नाशं गतम्। वा यथा,
 अगस्त्ययोगेऽगस्त्यनक्षत्रस्य योगे मलिनं मलीमसं 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं
 मलदूषितम्' इत्यमरः। निरस्तं सत् मालिन्यरहितं सत् पवित्रं पूतं भवतात् स्यात्।
 जिनेन्द्रस्मरणेन ध्यातुरखिलानि पापानि विलीयन्ते तेन च तद् हृदयं शरदृतौ नदादिनीरमिव
 निर्मलं भवतीति भावः ॥ ४० ॥

अर्थ - जिनेन्द्र देव जिसके स्मरण पथ को प्राप्त हैं, जो जिनेन्द्रदेव का ध्यान
 करता है उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। जैसे नदी आदि का मलिन पानी शरद् ऋतु
 में निर्मल होता हुआ पवित्र हो जाता है ॥ ४० ॥

[४१]

अयत्नदृष्टान् श्रुतकान् परेषां,
 दोषान् दयाधाम-निवासिनस्ते ॥
 स्वप्नेऽपि बाङ्मानसकाययोगै—
 नोद्घाटयन्ति प्रशमाश्च सन्तः ॥

अयत्नेति - दयाधामनिवासिनः दयाकरुणैव धाम गृहं तस्मिन् निवसन्तीत्येवंशीलाः
 दयालव इत्यर्थः प्रशमाः प्रशमगुणोपेताः ते प्रसिद्धाः सन्तः सज्जनाः। अयत्नदृष्टान् अयत्नेन
 प्रयत्नमन्तरेण दृष्टा विलोकितस्तान् श्रुतकान् श्रुता एव श्रुतकास्तान् समाकर्णितान्
 परेषामन्येषाम् दोषान् अवगुणान् स्वप्नेऽपि स्वापेऽपि बाङ्-मानसकाययोगैः वाक् च

मानसं च कायश्चेति वाङ्मानसकायाः ते च ते योगाश्च तैः नोद्घाटयन्ति न प्रकाशयन्ति।
सन्तः परेषां निन्दां न कुर्वन्तीति भावः ॥४१॥

अर्थ - दयारूप घर के निवासी, शान्तपरिणामी सज्जन, स्वयं दृष्ट और सुने दूसरों के दोषों को मन-वचन- कायरूप योगों से स्वप्न में भी प्रकट नहीं करते हैं ॥४१॥

[४२]

भवाभिमुक्ता न भवे विभावे,
पुनश्च भीमेऽबतरन्ति दुःखे ।
तैलं तिलं तच्च घृतं तु दुग्धं,
पूर्वस्वरूपं न पुनः प्रयाति ॥

भवेति - भवाभिमुक्ता भवात् संसारात् अभिमुक्ता दूरंगताः सिद्धपरमेष्ठिनः पुनश्च भूयोऽपि विभावे विभावरूपे भवे संसारे पर्याये वा भीमे भयंकरे दुःखे च नावतरन्ति नावतीर्णा भवन्ति। तैलं स्नेहः तिलं, तत्प्रसिद्धं घृतं सर्पिश्च 'सर्पिराज्यं घृतं हविः' इति धनंजयः। दुग्धं क्षीरं पूर्वस्वरूपं प्राक्तनरूपम्। इदं तिले घृते च योज्यम्। पुनर्भूयः न प्रयाति न प्राप्नोति। यथा तैलं पुनस्तिलं न याति यथा घृतं च पुनर्दुग्धं न प्रयाति तथा जन्ममरणात्मकसंसारान्मुक्ताः पुनः संसारं नायान्तीति भावः ॥४२॥

अर्थ - संसार से मुक्त सिद्धपरमेष्ठी अशुद्ध भव-संसार अथवा पर्याय और भयंकर दुःख में पुनः नहीं आते। जैसे तैल अपने पूर्वरूप तिल को और घी अपने पूर्व रूप दुग्ध को प्राप्त नहीं होता ॥४२॥

[४३]

लुब्धः स मुग्धो विषयेष्वघात्मा,
सम्प्राप्तदृष्टिस्तु ततोऽस्तु भिन्नः ।
करोतु नृत्यं मृदुमोदकान् वा,
खादन् स बालोऽत्र तथा न वृद्धः ॥

लुब्ध इति - विषयेषु पञ्चेन्द्रियभोगेषु लुब्धः समासक्तः स मुग्धो मूढः 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इत्यमरः। अघात्मा पापात्मा अस्तु। तु किन्तु सम्प्राप्तदृष्टिः सम्प्राप्ता दृष्टिर्येन सः सविवेको जनः। ततः पूर्वोक्तम् भिन्नः पृथग्भूतोऽस्तु। मय्यग्दृष्टिर्विषयानुपभुञ्जानोऽप्यन्तरङ्गतो विरक्तत्वात्तादृक् पापात्मा न भवतीत्यर्थः। तदेवोदाहरति - मृदुमोदकान् सुकोमललड्डुकान् खादन् अदन् बालः नृत्यं करोतु नृत्येन

मृदुमोदकानन्दन् मोदं प्रदर्शयतु वृद्धः स्थविरो न । वा औपम्ये ॥४३॥

अर्थ - विषयों में लुभाया मोही मनुष्य पापी है परन्तु सम्मदृष्टि उससे भिन्न हो। जैसे कोमल लड्डुओं को खाता बालक नृत्य करता है, वृद्ध नहीं ॥४३॥

[४४]

न नाग्न्यमात्रं भवमुक्तिहेतु—

चित्तस्य नैर्ग्रन्थ्यमपीति शास्त्रम् ।

गवादयो ये पशवोऽपि नग्ना—

स्त्रस्ताः कथं स्युः शिवमन्यथा स्यात् ॥

नेति - नाग्न्यमात्रं नाग्न्यमेव नाग्न्यमात्रं केवलं नग्नत्वं भवमुक्तिहेतुः भवान्मुक्तिर्भवमुक्तिस्तस्या हेतुः कारणं न। चित्तस्य मनसः नैर्ग्रन्थ्यं निर्ग्रन्थ्यस्य भावो नैर्ग्रन्थ्यं निष्परिश्रमत्वमपि हेतुरस्तीति शास्त्रमागमोऽस्ति। शारीरिक नग्नत्वेन सह मनसोऽपि नग्नत्वं मोक्षहेतुरस्तीति जिनागमो वदतीति भावः। अन्यथा एवं न स्यात् चेत्तर्हि ये गवादयो वृषभप्रभृतयः पशवोऽपि नग्नाः सन्ति ते त्रस्ता दुःखिनः कथं स्युः तेषामपि शिवं श्रेयः स्यात् ॥४४॥

अर्थ - केवल नग्नता ही मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु मन की निर्ग्रन्थता भी उसके साथ कारण है ऐसा शास्त्र में कहा है। यदि ऐसा न हो तो जो बैल आदि पशु नग्न हैं वे दुःखी क्यों हैं? उन्हें भी शिव—कल्याण अथवा मोक्ष प्राप्त होना चाहिये ॥४४॥

[४५]

गन्तुं लयं स्वात्मनि तेऽस्ति वाञ्छा

त्वयार्जवं चेतसि संश्रितं स्यात् ।

वक्रागतिर्यद्यपि सोरगाणां,

बिलप्रवेशे सरलैव दृष्टा ॥

गन्तुमिति - स्वात्मनि स्वकीयशुद्धस्वरूपे लयं लीनत्वं गन्तुं प्राप्तुं यदि हे भव्य! ते तव वाञ्छा अस्ति तर्हि त्वया चेतसि आर्जवं ऋजोर्भाव आर्जवं सरलत्वं कायवाङ्मनसामकौटिल्यमिति यावत् संश्रितं संसेवितं स्यात्। तदेवोदाहरति—यद्यपि उरगाणां सा प्रसिद्धा गतिर्वक्रा कुटिलास्ति तथापि बिलप्रवेशे बिले स्वस्थाने प्रवेशस्तस्मिन् सरलैव ऋजुरेव दृष्टा नयनपथं गता ॥४५॥

अर्थ - हे भव्य! स्वकीय आत्मा में लीनता प्राप्त करने की तेरी इच्छा है तो तुझे

चित्त में सरलता का सेवन करना चाहिये। जैसे सांपों की वह प्रसिद्ध गति यद्यपि कुटिल है तथापि बिल में प्रवेश करते समय सीधी ही देखी गयी है ॥४५॥

[४६]

अब्धि नदैश्चानल इन्धनौघै-
स्तृप्तः सुधाशीलमटेद्विषोऽपि ।
आरोहितोऽसौ भुवि पङ्गुनाद्रि-
योगान्न तृप्तोऽस्ति धनेन लोभी ॥

अब्धिरिति - अब्धिः आपो धीयन्ते यस्मिन् सोब्धिः सागरः, नदैः सरिद्धिः, अनलोऽग्निश्च, इन्धनौघैरिन्धनसमूहैः, तृप्तः संतुष्टो भवेत्। विषोऽपि गरलोऽपि सुधाशीलं पीयूषस्वभावम् अटेत् प्राप्नुयात्। असौ प्रसिद्धः, अद्रिः पर्वतो भुवि पृथिव्यां पङ्गुना खञ्जेन आरोहितश्चटितः स्यात् परन्तु लोभी लुब्धो जनः, धनेन वित्तेन योगात् संसर्गात् तृप्तः संतुष्टो नास्ति। असंभवत्कार्यं संभवद् भवेत् किन्तु धनेन लोभी संतुष्टो न भवेदित्यर्थः ॥४६॥

अर्थ - समुद्र नदियों से और आग ईंधन के समूहों से संतुष्ट हो सकता है। विष अमृत के स्वभाव को प्राप्त हो सकता है और पृथिवी पर लूले मनुष्य के द्वारा पर्वत चढ़ा जा सकता है परन्तु लोभी मनुष्य धन के योग से संतुष्ट नहीं हो सकता ॥४६॥

[४७]

मनोबलं तद् गुरु मुक्तिमार्गं,
वचोबलं वापि ततो लघु स्यात् ।
लघिष्ठमस्त्यङ्गबलं, धनं धिक्,
तद् वस्तुतोऽस्मिन् न हि किञ्चिदस्ति ॥

मन इति - मुक्तिमार्गं मोक्षमार्गं तद् दुर्लभं मनोबलं चेतोबलं गुरु सर्वश्रेष्ठमस्ति। वचोबलं वाणी सामर्थ्यमपि ततो मनोबलात् लघु स्यात्। अङ्गबलं शरीरसामर्थ्यं लघिष्ठं अतिशयेन लघु लघिष्ठं लघुतरं अस्ति। धनं वित्तं धिक् हि यतः तत् वस्तुतो यथार्थतः अस्मिन् मुक्तिमार्गं किञ्चित् किमपि नास्ति ॥४७॥

अर्थ - मोक्षमार्ग में मनोबल श्रेष्ठ है, वचन बल भी उससे कुछ कम श्रेष्ठ है और शरीर बल सबसे लघु है परन्तु धन को धिक्कार है क्योंकि वह यथार्थतः मोक्षमार्ग में कुछ भी नहीं है ॥४७॥

[४८]

पापं वपुर्जं त्वणुकप्रमाणं,
वाक्कायजं यच्च ततोऽधिकं वा ।
चित्तस्य कार्यं तु सुमेरुमानं,
पापान्मनोऽतोऽस्तु सदा सुदूरम् ॥

पापमिति - वपुर्जं शरीरप्रभवं पापं वृजिनं तु अणुकप्रमाणं सर्वतो लघ्वस्ति। वाक्कायजं वचःशरीरप्रभवं वा यत्पापं तत् ततः शरीरप्रभवात्पापात् अधिकं भवेत्। तु किन्तु चित्तस्य मनसः कार्यं कृत्यं मनोजन्यं पापं सुमेरुमानं मेरुप्रमाणं सर्वतोऽधिकमिति यावत्। अस्तीतिशेषः। अतोऽस्मात् कारणात् मनश्चित्तं पापात् पाप्मनः सदा सर्वदा सुदूरं अतिशयेन दूरं विप्रकृष्टमस्तु भवतु। मनोजन्यं पापं सर्वतो गुरुतरमस्त्यतस्तत्त्याज्यमेवेति भावः ॥४८॥

अर्थ - शरीर से होने वाला पाप अणुप्रमाण है, वचन और शरीर से होने वाला पाप उससे अधिक है और मन से होने वाला पाप सुमेरुप्रमाण है— सबसे अधिक है इसलिये पाप से मन सदा दूर रहे ॥४८॥

[४९]

दानेन भोगी भुवि शोभते स,
ध्यानेन शस्तेन तथा स योगी ॥
निःसङ्ग - पात्रस्तु निरीहवृत्त्या,
चेहा प्रतोली नरकस्य वोक्ता ॥

दानेनेति - भोगी भोगवान् गृही दानेन त्यागेन भुवि पृथिव्यां शोभते तथा स प्रसिद्धो योगी मुनिः शस्तेन शुभेन ध्यानेन धर्म्यशुक्लरूपेण शोभते। तु किन्तु निःसङ्ग पात्रो निर्ग्रन्थगुरु निरीहवृत्त्या निःस्पृहवृत्त्या शोभते। ईहा आकाङ्क्षा नरकस्य श्वभ्रस्य च प्रतोली वा प्रमुखद्वारमिव उक्ता कथिता ॥४९॥

अर्थ - पृथिवी पर भोगी मनुष्य दान से, योगी प्रशस्त ध्यान से और निर्ग्रन्थ मुनि निःस्पृह वृत्ति से सुशोभित होता है, क्योंकि स्पृहा-वाञ्छा नरक के प्रमुखद्वार के समान कही गई है ॥४९॥

[५०]

सागारको वाप्यनगारको वा,
कर्मक्षयार्थं निरतोऽस्तु धर्मे ।
करोतु कार्यं कृषकः स कार्ष्ण्यं,
धान्याय शस्यं न तृणाय हास्यम् ॥

सागारक इति - सागारको वा गृहस्थो वा अनगारको वा मुनिर्वा, कर्मक्षयार्थं त्रिविधकर्मविनाशार्थं धर्मे वीतरागसर्वज्ञदेवप्रणीते सदाचरणे निरतो लीनोऽस्तु। तदेवोदाहरति—स कृषकः कृषीवलः धान्याय धान्यं प्राप्त्यै कार्यं कृषि-सम्बन्धिकार्यं करोतु। तस्यैतत् कार्यं शस्यं प्रशंसनीयं भवति। तृणाय घासाय न प्रशस्यं किन्तु हास्यं हास्यकरं भवति। धर्माचरणस्य मुख्यप्रयोजनं कर्मक्षयोऽस्तीति भावः ॥५०॥

अर्थ - सागार हो चाहे अनगार, उसे कर्मक्षय के लिये ही धर्म में लीन होना चाहिये (शोगोपभोग प्राप्ति के लिये नहीं) क्योंकि किसान खेती का कार्य अन्न के लिये करता है तो प्रशस्त है और घास के लिये करता है तो हास्य—उपहास का पात्र होता है ॥५०॥

[५१]

पात्राय देयं विधिना प्रदाय,
फलं प्रति स्याद् यदि यो निरीहः।
सदा स दातास्तु सतां मतोऽस्ति,
सुखाय वै भागुभयत्र कीर्तेः ॥५१॥

पात्रायेति - पात्राय योग्यपात्राय विधिना नवधाभक्तिपुरस्सरं देयं दातुं योग्यम् आहारादिकं वस्तु। प्रदाय दत्त्वा च यः फलं प्रति निरीहो निःस्पृहो यदि स्याद् तर्हि स दाता सदा सतां सत्पुरुषाणां मतः समादृतोऽस्तु भवतु। वै निश्चयेन स दाता सुखाय भवति। उभयत्र लोके कीर्तेर्यशसो भाक् भजतीति भाक् प्रापकः भवति ॥५१॥

अर्थ - योग्य पात्र के लिये विधिपूर्वक दान देना चाहिये और देकर यदि फल के प्रति निःस्पृह रहता है तो वह दाता सत्पुरुषों से समादृत होता है, उसका वह दान सुख के लिये होता है और वह दाता दोनों लोकों में कीर्ति का भाजन होता है ॥५१॥

[५२]

दानं प्रशस्तं विनयेन साकं,
नम्रो हि दाता बुधसेवितोऽस्तु।
सुपीतदुग्धं स वमन् सुतोऽपि,
जनीं समानां न मुदा प्रपश्येत् ॥५२॥

दानमिति - विनयेन नम्रतया साकं सह दानं प्रशस्तं श्रेष्ठं कल्याणकरमिति यावत्। हि यतो नम्रो विनयशीलो दाता दानकरो बुधसेवितो बुधैः सेवितो ज्ञानिजनसमादृतोऽस्तु भवतु। सुपीतदुग्धं सुष्ठु पीतं सुपीतं, सुपीतं च तद् दुग्धं चेति

सुपीत-दुग्धं सुपीतक्षीरं वमन् उदिगरन् स मातृप्रियः सुतोऽपि शिशुरपि समानां मानेन सहिता तां सगर्वा जनीं मातरं मुदा हर्षेण न प्रपश्येत् नावलोकयेत् । साहंकारसावित्रीपायितं दुग्धं सुताय न रोचतेऽतः स तद्वमतीत्यर्थः ॥५२॥

अर्थ - विनय के साथ दिया हुआ दान अच्छा होता है, क्योंकि विनम्र दाता ज्ञानिजनों से सेवित होता है। अच्छी तरह पिये दूध को उगलता हुआ शिशु भी मानिनी माता को हर्ष से नहीं देखता है ॥५२॥

[५३]

चिन्तातुरोऽजस्रमयं ह्यगारी
द्विवल्लभो हा मरणं तथास्तु ।
परस्परं धारितवैरभावैः,
शिष्यैर्गुरुः संयतकस्तथास्तु ॥

चिन्तेति - हि निश्चयेन, अयमेष, अगारी गृहस्थः अजस्रं सततं, चिन्तातुरः चिन्तया दुर्धनेन आतुरो दुःखितो भवति । द्वे वल्लभे यस्य स द्विवल्लभो द्विपत्नीको गृही मरणं तथास्तु मरणवत् कष्टमनुभवतु । हा इति खेदे । परस्परं मिथः धारितवैरभावैः धारितो वैरभावो यैस्तैरन्योऽन्यं कलहायमानैः शिष्यैर्मोदयैः 'दीक्षितं मौढ्यं शिष्यं च' इति धनंजयः । गुरुः आचार्यः संयतकः संयत एव संयतकः संयमी, अपि तथास्तु द्विपत्नीकगृहीव चिन्ताती भवतु ॥५३॥

अर्थ - निश्चय से यह गृहस्थ निरन्तर चिन्ता से दुःखी रहता है । फिर दो पत्नी वाला गृहस्थ हो तो उसका मानो मरण ही है । इसी प्रकार परस्पर वैर रखने वाले शिष्यों से संयमी गुरु भी निरन्तर चिन्ता से दुःखी रहता है ॥५३॥

[५४]

व्रतेषु शीलं च दमो दमेषु,
खानां वरोऽयं रसनेन्द्रियस्य ।
दानं तु दानेष्वभयाह्वयं वै,
धर्मेषु धर्मो गदितोऽप्यहिंसा ॥

व्रतेष्विति - व्रतेषु अहिंसादिषु 'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्' इति व्रत लक्षणम् । शीलं ब्रह्मचर्यं प्रधानमिति शेषः । दमेषु वशीकरणेषु खानाम् इन्द्रियाणां दमो वशीकरणं वरः श्रेष्ठः । तत्र च रसनेन्द्रियस्य जिह्वेन्द्रियस्य अयं दमो वरः । तु किन्तु दानेषु त्यागेषु अभयाह्वयं अभयाख्यं प्राणिरक्षणरूपं वरं श्रेष्ठम् । धर्मेषु वै निश्चयेन अहिंसाधर्मो वरः श्रेष्ठः गदितः कथितः । अपि समुच्चयार्थः ॥५४॥

अर्थ - ब्रतों में शील-ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है, दमन में इन्द्रियों का दमन, उसमें भी रसनेन्द्रिय का दमन श्रेष्ठ है, दानों में अभयदान श्रेष्ठ है और धर्मों में अहिंसाधर्म श्रेष्ठ कहा गया है ॥५४॥

[५५]

ध्यानेषु शुक्लं च तपस्सु सत्सु,
ध्यानं निधानं स्वनिधेः प्रधानम् ।
विसर्जनं तद्, मधुरस्य सद्भिः,
श्लाघ्यं रसेषु प्रथमं प्रणीतम् ॥

ध्यानेष्विति - ध्यानेषु आर्त्तरीद्वधर्म्यशुक्लाभिधानेषु चतुर्षु ध्यानेषु 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्' इति ध्यानस्य लक्षणम् । शुक्लं तन्नामधेयं, सत्सु श्रेष्ठेषु तपसु प्रायश्चित्ताद्यभ्यन्तरतपश्चरणेषु ध्यानं स्वनिधेः आत्मनिधेः प्रधानं प्रमुखं निधानं कोषः । रसेषु रसत्यागेषु मधुरस्य रसस्य विसर्जनं त्यागः सद्भिः साधुभिः श्लाघ्यं प्रशंसनीयं प्रथमं प्रमुखं प्रणीतं कथितम् ॥५५॥

अर्थ - ध्यानों में शुक्लध्यान, अन्तरङ्ग तपों में ध्यान आत्मनिधि का निधान कहा गया है तथा रसों में मधुररस का त्याग सत्पुरुषों के द्वारा प्रशंसनीय प्रमुख त्याग कहा गया है ॥५५॥

[५६]

जिनागमेऽन्योन्यविरुद्धधर्मा,
नया न मानाय तदंशतोऽतः ।
परस्परं तत् प्रतिकूलमास्तां,
कूलद्वयं वै सरितेऽनुकूलम् ॥५६॥

जिनागम इति - जिनागमे आर्हतदर्शने, अन्योन्यविरुद्धधर्माः अन्योन्यं मिथो विरुद्धो धर्मः स्वभावो येषां ते तथाभूताः परस्परं विरुद्धधर्मं नित्यानित्यादिकं गृह्णन्तो नयाः एकदेशग्राहिणः श्रुतज्ञान-विकल्पविशेषास्तदंशतो वस्त्वेकदेशतः मानाय समादराय न सन्तीति शेषः । अतोऽस्मात् परस्परं प्रतिकूलं विरुद्धम् आस्तां, किन्तु वस्तुस्वरूपप्रतिपादने विरुद्धनययोरपि सार्थक्यं वर्तते । यथा कूलद्वयं तीरद्वयं परस्परं प्रतिकूलं सदपि वै निश्चयेन सरिते तरङ्गिण्यै अनुकूलं विद्यते ॥५६॥

अर्थ— जैन-सिद्धान्त में परस्पर विरुद्ध नय सन्मान के लिये नहीं माने गये हैं क्योंकि वे वस्तु के एक अंश को ग्रहण करते हैं अतः वे परस्पर विरुद्ध भले ही रहें परन्तु

वस्तु का पूर्ण स्वरूप कहने के लिये दोनों आवश्यक हैं जैसे नदी के दो तट परस्पर विरुद्ध रहते हुए भी नदी के लिये अनुकूल होते हैं ॥५६॥

[५७]

दुःखस्य मूलं तनुधारणं वा,
दुःखेषु दुःखं तु मनोगतं तत् ।
तत्रापि दुःखं च पराभवाद्धि,
स्वस्यावबोधे न हि दुःखमस्ति ॥

दुःखस्येति - दुःखस्य असातस्य मूलं प्रमुखकारणं तनुधारणं शरीरधारणमस्ति ।
दुःखेषु अशर्मसु दुःखं तु मनोगतं मानसिकं वर्तते । तत्रापि यत् पराभवाद् अनादराद् भवति
तद् विशेषेण भवति । किन्तु स्वस्य स्वकीयशुद्धात्मनः अवबोधे ज्ञाने सति निश्चयेन दुःखं न
ह्यस्ति ॥५७॥

अर्थ - दुःख का मूल कारण शरीर का धारण करना है । दुःखों में भी मानसिक
दुःख सब से प्रबल है, उसमें भी पराभव से जो होता है वह अधिक प्रबल है । स्वकीय
शुद्ध आत्मा के ज्ञान होने पर निश्चय से दुःख नहीं है ॥५७॥

[५८]

विमुक्तसङ्गा मनसा रमन्ते,
तत्रैव चेद् ये न शिवीभवन्ति ।
मुञ्चन्ति ये यद्यपि कञ्चुकं वै,
नो पन्नगा निर्गरलीभवन्ति ॥

विमुक्तेति - विमुक्तसङ्गाः विमुक्तस्त्यक्तः सङ्गः परिग्रहो यैस्तथाभूताः सन्तोऽपि
ये मनसा चेतसा तत्रैव सङ्ग एव रमन्ते रता भवन्ति चेत्? ते न शिवीभवन्ति
कल्याणभाजो न जायन्ते । तदेवोदाहरति—ये पन्नगाः सर्पा यद्यपि कञ्चुकं निर्मोकं
मुञ्चन्ति तथापि ते वै निश्चयेन नो निर्गरलीभवन्ति विषरहिता न भवन्ति ॥५८॥

अर्थ - परिग्रह का त्याग करने वाले जो मनुष्य मन से उसी परिग्रह में रमण
करते हैं लीन रहते हैं— वे कल्याण के भाजन नहीं होते । जैसे सांप कांचुली तो छोड़ देते
हैं परन्तु विष से रहित नहीं होते ॥५८॥

[५९]

सुखं सुखेषूत्तममात्मजं तत्,
या पञ्चमी सा गतिरुत्तमास्तु ।
प्रभासु सर्वासु मणिप्रभेव,
ज्ञानेषु विज्ञानमदोऽक्षयं स्यात् ॥

सुखमिति - सुखेषु शर्मसु तत् सुखमुत्तमं श्रेष्ठं भवति यद् आत्मजम् आत्मोत्थं भवति। तथा तेनैव प्रकारेण गतिषु सा गतिः उत्तमास्तु या पञ्चमी नारकतिर्यङ्-मानुषदेवातिरिक्तासिद्धानां भवति। सर्वासु निखिलासु प्रभासु दीप्तिषु मणिप्रभेव माणिऋयदीप्तिरिव ज्ञानेषु अदस्तत् दुर्लभतां विज्ञानं केवलज्ञानम् अक्षयमविनश्वरं स्याद् भवेत् ॥५९॥

अर्थ - सुखों में आत्मा से उत्पन्न होने वाला सुख उत्तम है। गतियों में पञ्चमगति—सिद्धगति उत्तम है, सब प्रभाओं में मणि की प्रभा उत्तम है। इसी प्रकार सब ज्ञानों में वह अविनाशी केवलज्ञान उत्तम है ॥५९॥

[६०]

यथामतिः स्याच्च तथागतिः सा,
यथागतिः स्याच्च यथामतिः सा ।
मतेरभावात्तु गतेरभावो,
द्वयोरभावात् स्थितिराशु शैवे ॥

यथेति - यथा यादृशी मतिः शुभाशुभरूपा स्यात् तथा तादृशी शुभाशुभरूपा सा गतिः स्यात्। यथा यादृशी च गतिः स्यात्तथा तादृशी मतिर्बुद्धिः प्रवर्तते। तु किन्तु गतेः शुभाशुभरूपाया बुद्धेरभावात् गतेरभावो भवति। द्वयोरगतिमत्योरभावात् शैवे सिद्धालये आशु शीघ्रं स्थितिरवस्थानं स्यात् ॥६०॥

अर्थ - जैसे मति होती है वैसी गति होती है, जैसी गति होती है वैसी मति होती है, मति के अभाव से गति का अभाव होता है और गति-मति दोनों का अभाव होने से शीघ्र ही मोक्ष में स्थिति होती है ॥६०॥

[६१]

जलाश्रिता मञ्जुलवीचिमाला,
स्तम्भाश्रितं तद् भवनं यथास्तु ।
ज्ञानादयो ये विनयाश्रिताः स्यु—,
गुणास्तथा तेऽपि वृथान्यथा स्युः ॥

जलेति - यथा येन प्रकारेण मञ्जुलवीचिमाला मनोहरतरङ्गसन्ततिः जलाश्रिता सलिलाश्रिता वर्तते तथा तत् प्रसिद्धं भवनं प्रासादः स्तम्भाश्रितं स्तम्भावलम्बितम् अस्तु। तथा ये ज्ञानादयः ज्ञानप्रभृतयो गुणाः सन्ति तेऽपि विनयाश्रिताः विनयावलम्बिताः स्युः। अन्यथा विनयावलम्बनाभावे ते ज्ञानादयो गुणाः व्यर्थाः स्युः अकार्यकरा भवेयुः ॥६१॥

अर्थ - जिस प्रकार मनोहर तरङ्गों की सन्तति जल के आश्रित है उसी प्रकार वह प्रसिद्ध प्रासाद खम्भों के आश्रित है। इसी प्रकार जो ज्ञानादि गुण हैं वे विनय के आश्रित रहें, अन्यथा वे गुण नहीं हैं ॥६१॥

[६२]

अजेयसेनापि विना न राज्ञा,
राजा किरिटेन विना न भातु।
न्यूना गुणास्ते विनयेन सर्वे,
न भान्तु तस्माद्विनयः सताप्तः ॥६२॥

अजेयेति - अजेयसेनापि अजेयपृतनापि राज्ञा भूपतिना विना न भातु। राजा भूपतिः किरिटेन मुकुटेन विना न भातु। विनयेन विनयभावेन न्यूना रहिताः ते गुणा ज्ञानादयो न भान्तु तस्मात् सता साधुपुरुषेण विनयः प्राप्तो मार्दवधर्मोऽङ्गीकृतः ॥६२॥

अर्थ - अजेय सेना भी राजा के विना सुशोभित नहीं होती है, मुकुट के विना राजा सुशोभित नहीं होता और विनय से रहित गुण भी सुशोभित नहीं होते। इसीलिये सत्पुरुषों ने विनय को प्राप्त किया है ॥६२॥

[६३]

अक्षप्रवृत्तेर्विषयोपलब्धि - ,
स्ततः कषायाश्च ततोऽस्तु बन्धः ।
विधेर्गतिः स्याद् गतितोऽङ्गभारोऽ-
प्यक्षाणि तत्र प्रकटीभवन्ति ॥

अक्षेति - अक्षप्रवृत्तेरिन्द्रियप्रवृत्तेः विषयोपलब्धिः स्पर्शादिविषयप्राप्तिः, ततः कषायाः क्रोधाद्याः, ततो बन्धः कर्मबन्धः, विधेः कर्मबन्धात् गतिर्नरकादिः, ततः अङ्गभारो देहभारः, तत्र देहे च, अक्षाणि इन्द्रियाणि प्रकटीभवन्ति। इन्द्रियवृत्तिरेव दुःखस्य मूलहेतु-रस्ति ततोऽसौ परित्याज्येति भावः ॥६३॥

अर्थ - इन्द्रियों में प्रवृत्ति होने से विषयों की प्राप्ति होती है, उससे कषाय उत्पन्न

होते हैं, कषायों से कर्मबन्ध होता है, कर्म से गति होती है, गति से शरीर धारण करना पड़ता है और शरीर में पुनः इन्द्रियां प्रकट होती हैं ॥६३॥

[६४]

पूर्वानुवृत्तिस्तु पुनश्चिरेयं,
परम्परा वा तरुबीजवृत्तिः ।
बीजे विदग्धे न तरोः प्रसूति—,
दान्तेषु खेषु स्वत आत्मसिद्धिः ॥

पूर्वेति - पुनर्भूयः। इयमेषा चिरा चिरकालादायाता पूर्वानुवृत्तिः पूर्वानुसारिणी परम्परा तरुबीजवृत्तिर्वा वृक्षबीजवृत्तिरिव वर्तते। यथा तरोर्बीजस्य बीजाच्च तरोः प्रसूतिः दृश्यते तथा पूर्वोत्तरयोः कार्यकारणभावसन्ततिरनादिकालात् प्रवर्तते। बीजे विदग्धे भस्मसाद्भूते सति तरोः प्रसूतिः उत्पत्तिर्न भवति। खेषु इन्द्रियेषु दान्तेषु वशीकृतेषु सत्सु आत्मसिद्धिः आत्मोपलब्धिः स्वतः स्वयमेव जायते इति शेषः ॥६४॥

अर्थ - पूर्व पूर्व कारणों का अनुसरण करने वाली यह चिरकालीन परम्परा वृक्ष और बीज के समान है। अर्थात् वृक्ष से बीज होता है और बीज से वृक्ष होता है। बीज के जल जाने पर वृक्ष की उत्पत्ति नहीं होती। इन्द्रियों का दमन होने पर आत्मा की सिद्धि स्वयं हो जाती है ॥६४॥

[६५]

जितेन्द्रियः संयमधारकः स,
ध्याने विलीनः सहजं सदास्तु ।
दुग्धे द्रुतं सा किल शर्करेव,
दम्यानि सद्भिः करणानि तस्मात् ॥

जितेन्द्रिय इति - जितेन्द्रियः जितानीन्द्रियाणि येन स वशीकृताक्षः स प्रसिद्धः संयमधारकः संयतः सहजं यथास्यात्तथा सदा सर्वदा ध्याने धर्मशुक्लध्याने विलीनः निरतस्तद्रत इत्यर्थः। अस्तु भवतु। यथा किल सा शर्करा सिता दुग्धे पयसि द्रुतं शीघ्रं किल विलीना भवति तथा। तस्मात् कारणात् सद्भिः साधुभिः करणानि इन्द्रियाणि 'खमिन्द्रियं हृषीकं च श्रौतोऽक्षं करणं विदुः' इति धनंजयः। दम्यानि दमनार्हाणि। जितेन्द्रिय एव सरलतया ध्यानं कर्तुमर्हतीति भावः ॥६५॥

अर्थ - इन्द्रियों को जीतने वाला साधु सरलता से ध्यान में उस तरह विलीन रहे

जिस तरह दूध में शीघ्र ही शक्कर विलीन हो जाती है। इसलिये सत्पुरुषों के द्वारा इन्द्रियां दमन करने के योग्य हैं ॥६५॥

[६६]

ज्ञानान्न वृत्तान्न च भावनायाः,
सद्धानशक्तेस्तु निजात्मशुद्धिः ।
पृथक् कृतं किं पयसो घृतं तत्,
विनाऽग्निना जोपलतो हिरण्यम् ॥

ज्ञानादिति - निजात्मशुद्धिः निजस्य स्वस्यात्मनश्चेतनालक्षणस्य शुद्धिः पूतता ज्ञानान्न शास्त्रबोधान्न भवति । वृत्तात् चारित्रान्न भवति । भावनाया अनुप्रेक्षाया न भवति । तु किन्तु सद्धानशक्तेः सच्च तद् ध्यानं च सद्धानं धर्मशुक्लध्यानं तस्य शक्तेः सामर्थ्यात् भवति । तदेवोदाहरति—किमग्निना विना पावकमन्तरेण पयसो दुग्धात् तत् उपलभ्यमानं घृतमाज्यं 'सर्पिराज्यं घृतं हविः' इति धनंजयः। वाथवा उपलतः कनकपाषाणात् हिरण्यं स्वर्णं पृथक् कृतं विहितम् ॥६६॥

अर्थ - स्वकीय आत्मा की शुद्धि ज्ञान से नहीं होती, चारित्र से नहीं होती और भावना से नहीं होती किन्तु ध्यान से होती है। क्या अग्नि के विना दूध से घी और पाषाण से स्वर्ण को पृथक् किया गया है? अर्थात् नहीं। कर्मक्षय के लिये ज्ञान, चारित्र और भावना के साथ ध्यान का होना आवश्यक है ॥६६॥

[६७]

विशेषसामान्यचित्तं सदस्तु,
चित्तिद्वयेनाकलितं समं वै ।
एकेन पक्षेण न पक्षिणस्ते,
समुत्पतन्तोऽत्र कदापि दृष्टाः ॥

विशेषेति - सद द्रव्यं विशेषसामान्यचित्तं विशेषश्च सामान्यं च विशेषसामान्ये ताभ्यां चित्तं व्याप्तं तन्मयम् अस्तु अत्र विशेषेण पर्यायः सामान्येन च द्रव्यं विवक्षितम् । सत् आत्मतत्त्वं वै निश्चयेन चित्तिद्वयेन चयनं चित्तिश्चेतनेत्यर्थस्तस्या द्वयेन ज्ञानचेतनादर्शनचेतनायुगलेन समं सार्धम् आकलितं सहितम् अस्ति । तदेवोदाहरति - अत्र लोके ते पक्षिणः खगाः किं एकेन पक्षेण गरुता समुत्पतन्तः उड्डीयमानाः किं कदापि दृष्टा विलोकिताः? नैवेत्यर्थः ॥६८॥

अर्थ - वस्तु सामान्य और विशेष से तन्मय है अर्थात् द्रव्य-पर्याय से युक्त है।

आत्मतत्त्व भी दर्शनचेतना और ज्ञानचेतना—दोनों से एक साथ तन्मयीभाव को प्राप्त है। इस लोक में वे पक्षी क्या कभी एक पक्ष से उड़ते देखे गये हैं? नहीं॥६७॥

[६८]

हिताहिते ते निहिते हि ते स्तो,
निजात्मनि भ्रातरियं सदुक्तिः ।
परप्रयोगोऽत्र निमित्तमात्रः,
फलं ह्युपादानसमं सदास्तु ॥

हितेति - हे भ्रातः! ते प्रसिद्धे हिताहिते हितं चाहितं चेति द्वन्द्वः श्रेयोऽश्रेयसी हि निश्चयेन ते तव निजात्मनि स्वकीयात्मनि निहिते स्थिते स्तः इतीयं सदुक्तिः सतां साधूनामुक्तिः कथनं अथवा सती चासौ उक्तिश्च सदुक्तिः सूक्तिरस्तीति शेषः। अत्र हिताहितविषये परप्रयोगोऽन्यसंसर्गः निमित्तमात्रोऽस्ति हि निश्चयतः फलं कार्यं सदा उपादानसमं उपादानसदृशं अस्तु। यत्कार्यरूपेण परिणमति तदुपादानं यच्च तत्र सहायीभवति तन्निमित्तम् ॥६८॥

अर्थ - हे भाई! तेरे हित और अहित तेरी ही निजात्मा में निहित हैं यह सूक्ति अथवा सत्पुरुषों का कथन प्रसिद्ध है। पर-पदार्थ का प्रयोग तो इसमें निमित्त मात्र है फल तो सदा उपादान के समान ही होता है ॥६८॥

[६९]

माने तु मेयस्य सुखस्य दुःखे,
बन्धे हि मुक्ते धनिनो दरिद्रे ।
पात्रे तु दातुः पथिके पथोऽपि,
मुख्यस्य गौणे सुदृशोऽपि चान्धे ॥

[७०]

विज्ञस्य चाज्ञेऽप्यहिते हितस्य,
क्षुधाभिवृद्धौ भुवि भोजनस्य ।
यथात्र देशे दिनरात्रियुक्ते,
दिवाकरेन्द्रोः शृणु मूल्यमस्ति ॥

मानइति— मीयतेऽनेनेति मानं प्रस्थादि मापकपदार्थे सति मेयस्य— मातुं योग्यं मेयं गोधूमादिमेयपदार्थस्य, दुःखे इष्टवियोगादिजन्ये कष्टे सति सुखस्येष्टजनसंयोग—

जातसातस्य, बन्धे सति पारतन्व्यजनकबन्धे सति मुक्तेः स्वातन्त्र्यस्य, दरिद्रे निर्धने सति धनिनो धनवतः, पात्रे दानार्हे सति दातुर्दानकर्तुः, पथिकेऽध्वगे सति पथोऽपि मार्गस्यापि, गौणेऽप्रधाने सति मुख्यस्य विवक्षितस्य प्रधानस्येति भावः, अन्धे दृष्टुमशक्ते सति सुदृशोऽपि सुलोचनस्यापि, अज्ञे ज्ञानरहिते सति विज्ञस्य विशिष्टज्ञानवतः, अहिते अकल्याणकारिणि सति हितस्य कल्याणकारकस्य, क्षुधाभिवृद्धौ क्षुधाया अभिवृद्धिस्तस्यां बुभुक्षा वृद्धौ सत्यां भोजनस्य भोज्यपदार्थस्य; यथा मूल्यं सार्थक्यमस्ति तथा दिनरात्रियुक्ते दिवसरजनीसहिते अत्र देशे दिवाकरेन्द्रोः दिवाकरश्चेन्दुश्चेति दिवाकरेन्दू वृद्धिः तयोः सूर्यचन्द्रमसोः मूल्यं सार्थक्यमस्ति, इति शृणु समाकर्ण्य त्वमिति शेषः।

मान इति-मान के रहते हुये मेय - पदार्थ का, दुःख के रहते हुए सुख का, बन्ध के रहते हुए मुक्ति का, दरिद्र के रहते हुए धनी का, पात्र के रहते हुए दाता का, पथिक के रहते हुए पथ का, गौण-अप्रधान के रहते हुये मुख्य का, अन्धे के रहते हुए सुलोचन का, अज्ञानी के रहते हुए ज्ञानी का, अहित के रहते हुए हित का, क्षुधा के रहते हुए भोजन का और दिन रात से युक्त इस देश में सूर्य चन्द्रमा का मूल्य है। सुनो!! ६९ - ७०॥

[७१]

विवाहितः संश्र्च वरो गृही सोऽ - ,
विवाहिताद्धा व्यभिचारिणोऽपि ।
पापस्य हानिश्च वृषे मतिः स्यात्,
तथेतराद् यत् शृणु पापमेव ॥

विवाहित इति - स प्रसिद्धो गृही गृहस्थो विवाहितः उदूढभार्योऽपि सन् व्यभिचारिणो व्यभिचारशीलात् विवाहितात् उदूढभार्यात् वरं श्रेष्ठोऽस्ति। तयोस्तथात्वे पापस्य दुरितस्य हानिरपचयः वृषे धर्मे मतिर्बुद्धिः स्यात्। यत्र पापस्य हानिर्धर्मे च मतिः स्यात्तस्य पुण्यत्वं भवति। तथेतराच्च पापस्य वृद्धेः धर्मे चाप्रवृत्तेश्च पापमेव स्यात्। इति तत्त्वं शृणु हे भव्य! ॥ ७१ ॥

अर्थ - व्यभिचारी अविवाहित मनुष्य की अपेक्षा विवाहित - स्वदारसंतोषी गृहस्थ श्रेष्ठ है। उसकी श्रेष्ठता का कारण पाप की हानि और धर्म में रुचि है। इससे विपरीत कारणों-पाप की वृद्धि और धर्म में अरुचि से पाप ही होता है। यह तत्त्व की बात सुन ॥ ७१ ॥

[७२]

दाता दयालुः परदुःखवैरी,
स श्रेष्ठिनः स्यात् कृपणात् प्रशस्तः ।
अन्यान्यवित्तं ददतस्तु दातु—
र्वरोऽप्यदाता नयमार्गगामी ॥

दातेति - परदुःखवैरी अन्यदुःखापहर्ता दयालुः कारुणिकः 'स्यादयालुः कारुणिकः' इत्यमरः। स प्रसिद्धः दाता दानकर्ता कृपणात् कण्वृषात् श्रेष्ठिनो धनिकवरात् प्रशस्तः श्लाघ्यः अस्तीति शेषः। तु किन्तु अन्यान्यवित्तम्, अन्यान्यधनं ददतो वितरतो दातुः दानकर्तुरपेक्षया अदाता अदानकर्ता नयमार्गगामी नीतिमार्गपथिकश्चेत् वरः श्रेष्ठोऽस्ति ॥७२॥

अर्थ - पर के दुःख को दूर करने वाला दयालु दाता कंजूष सेठ से अच्छा है। और दूसरे लोगों के धन-वस्तु को देने वाले दाता की अपेक्षा नीतिमार्ग पर चलने वाला अदाता श्रेष्ठ है ॥७२॥

[७३]

कनीयसा मे मनसा धृतो योऽ—
मूर्तश्च विश्वैकगुरुर्विरागः ।
श्रद्धादृशा वाधिगतोऽप्यतोऽहं,
भक्तोऽपि धन्यो भगवांस्तु धन्यः ॥७३॥

कनीयसेति - यतश्च, अमूर्तः स्पर्शादिरहितः विरागो विश्वैकगुरु विश्वस्मिन् एकोऽद्वितीयो गुरुः श्रेष्ठो दुर्भरश्च । यो मे मम स्तोतुः कनीयसा अतिशयेन अल्पं कनीयस्तेन अल्पपरिमाणेन मनसा हृदयेन धृतो भृतः श्रद्धादृशा वा श्रद्धैव दृक् दृष्टिस्तया अधिगतोऽपि ज्ञातोऽपि। अतोऽस्मात् कारणात् अहं भक्तः स्तोतापि धन्यः श्रेष्ठः भगवांस्तु पारमैश्वर्यधारकोऽर्हत्परमेष्ठी तु धन्यः श्रेष्ठोऽस्त्येव। तत्र किं वक्तव्यम् ? ॥७३॥

अर्थ - अमूर्तिक, वीतराग और विश्व के अद्वितीय गुरु यतश्च मेरे तुच्छ हृदय के द्वारा धारण किये गये हैं अतः मैं भी धन्य हूँ, भगवान् तो धन्य हैं ही ॥७३॥

[७४]

योग्यो विनेयो गुरुणा श्रमेण,
नीतो गुरुत्वं किमु विस्मयोऽत्र ।
पाषाणखण्डेऽपि विरागता सा,
दिव्योदिता किं न हि शिल्पिनापि ॥

योग्य इति - योग्यो ग्रहणधारणचिन्तनशक्तियुक्तः, विनेयः शिष्यः, गुरुणा विनेत्रा शिक्षणप्रयासेन गुरुत्वं गौरवं नीतः प्राप्तः, अत्र विषये किमु विस्मयः किमाश्चर्यम्, उ वितर्के। हि यतः पाषाणखण्डेऽपि प्रस्तरशकलेऽपि सा प्रसिद्धा - दृश्यमानेति यावत्, दिव्याऽलौकिकी विरागता वीतरागता किं शिल्पिना कार्यकरेण न नो उदिता संप्रापिता? ॥७४॥

अर्थ - योग्य शिष्य यदि गुरु के द्वारा परिश्रम पूर्वक गुरुता को प्राप्त करा दिया गया है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? क्योंकि पाषाणखण्ड में भी शिल्पी के द्वारा क्या वह अलौकिक वीतरागता प्रकट नहीं की जाती ॥७४ ॥

[७५]

विवेकयुक्ता अलिवच्चरन्ति,
सदावृता ये विषयैर्विचित्रैः ।
हिताहितज्ञानविविक्तचित्ताः,
कफे मृतास्ते खलु मक्षिकावत् ॥

विवेकेति - विचित्रैर्विबिधप्रकारैः विषयैः पञ्चेन्द्रियभोगोपभोगैः सदा सर्वदा आवृताः आवेष्टिता ये विवेकयुक्ताः हिताहितविज्ञानशालिनः सन्ति ते अलिवत् षट्पदा इव चरन्ति आचरणं कुर्वन्ति। यथालयः सौरभशालिनि वस्तुन्येव तिष्ठन्ति तथा विवेकवन्तो जना निरवद्यभोगेष्वेव रुचिं कुर्वन्ति न तु सावद्यभोगेषु। ये च हिताहितज्ञानविविक्तचित्ताः इदं मे हितमिदं च मेऽहितमिति ज्ञानेन विविक्तं शून्यं चित्तं येषां तथाभूताः सन्ति ते खलु निश्चयेन मक्षिकावत् कफे श्लेष्मणि 'मायुषित्तं कफः श्लेष्मा' इत्यमरः। मृता गतप्राणा भवन्ति। हिताहितविवेकाभावेन मक्षिकाः कफमपि हितं ज्ञात्वा तत्र संलग्नपक्षा म्रियमाणा दृश्यन्त एवेति भावः॥७५॥

अर्थ - विविध भोग सामग्रियों से सदा घिरे रहने वाले जो लोग विवेक सहित हैं वे भ्रमरों के समान योग्य विषयों का ही सेवन करते हैं और जो हिताहित के विवेक से शून्य चित्त वाले हैं वे कफ में फँसी मक्खियों के समान निश्चय से मृत्यु को प्राप्त होते हैं॥७५॥

[७६]

दैवेऽनुकूले मुदितं जगद्वा,
पापोदये दुःखित्तमेव भावात् ।
आतापतस्तस्य रवेर्लता सा,
या छान्तिकाऽऽरादतिमूर्च्छिता स्यात् ॥

दैव इति - दैवे भाग्ये अनुकूले सति जगद् भुवनं मुदितं प्रसन्नं, वा समुच्चये पापोदये सति भावात् स्वभावात् दुःखितमेव स्यात्। तदेवोदाहरति—या लता वल्ली 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः। छायिका छायायामनातपे भवा क्षायिका सा आरात् दूरवर्तिन्यपि तस्य प्रसिद्धस्य रवेः सूर्यस्य आतापतो घर्मात् अतिमूर्च्छिता अतिम्लाना स्यात्। 'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते' इति भावः ॥७६॥

अर्थ - भाग्य के अनुकूल रहते हुए जगत् स्वभाव से प्रसन्न होता है और पापोदय के रहते हुए स्वभाव से दुःखी रहता है। जैसे छाया में उत्पन्न हुई लता दूरवर्तिनी होने पर भी सूर्य के संताप से अत्यधिक म्लान हो जाती है ॥७६॥

[७७]

संप्राप्य चारित्रसुशीलयोगं,
ज्ञानं स्वयं याति सुपूर्णतां तत् ।
सुशाणयोगाद्धि मणेश्च मूल्यं,
काष्ठां गतं सज्जनकण्ठभागम् ॥

संप्राप्येति - तत् प्रसिद्धं ज्ञानं चारित्रसुशीलयोगं चारित्रं च सुशीलं च चारित्रसुशीले ताभ्यां योगं सम्बन्धं संप्राप्य स्वयं स्वतः सुपूर्णतां याति प्राप्नोति। यथाख्यातचारित्रशैलेशित्वयोगेन सामान्यज्ञानमेव केवलज्ञानत्वेन परिणमति। तथैवोदाहरति - हि यतः सुशाणयोगात् उत्तमशाणयोगात् मणेर्माणिक्यस्य मूल्यमर्घ्यः काष्ठां गतं सर्वोच्चदशां प्राप्तं। तेन च तत् सज्जनकण्ठभागं इभ्यजनग्रीवाप्रदेशं गतं प्राप्तं भवतीति शेषः ॥७७॥

अर्थ - चारित्र और सुशील का संयोग पाकर साधारण ज्ञान भी पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। जैसे उत्तम शाणोपल का संयोग पाकर मणि का मूल्य इतना बढ़ जाता है कि वह सज्जनों के कण्ठप्रदेश को प्राप्त हो जाता है ॥७७॥

[७८]

विद्वेषभावोऽपि समं स्वजात्या,
कृतज्ञता सा शुनि जन्मतोऽस्तु,
अत्यल्पनिद्रापि विधेर्विपाको,
विचित्र एवं गदितं सुविज्ञैः ॥

विद्वेषेति - शुनि सारमेये स्वजात्या स्वकीयजात्या— अन्यकुक्कुरैः समं सार्धं विद्वेषभावोऽपि द्वेषपरिणामोऽपि, सा कृतज्ञता उपकारज्ञतापि, अत्यल्पनिद्रापि

स्वल्पस्वापोऽपि जन्मतो जनुषोऽपि स्वभावादेवास्तु। एवमित्थंभूतः विधेः कर्मणो विचित्र
इष्टानिष्टगुणसंयोगरूपो भवतीति सुविज्ञैर्बुधैः गदितं कथितम्। कर्मोदयेनैव विचित्रगुण-
संयोगो भवतीति भावः ॥७८॥

अर्थ - कुत्ता में जन्म से ही अपनी जाति के साथ विद्वेष भाव भी है, उसके
कृतज्ञता गुण भी है और अल्पनिद्रा भी है। विद्वज्जनों ने कहा है कि उसका यह कर्म का
विचित्र ही योग है ॥७८॥

[७९]

सिद्धे स्वकार्ये सति कारणानि,
बाह्येतराणीति तृणीभवन्ति।
सोपानमालापि विमोचिता सा,
प्रारोहितात्मोन्नत - सौधकेन।।

सिद्ध इति - स्वकार्ये स्वप्रयोजने सिद्धे सति बाह्येतराणि बाह्याभ्यन्तराणि
कारणानि। इति वक्ष्यमाणेन दृष्टान्तेन तृणीभवन्ति तुच्छानि जायन्ते।
प्रारोहितात्मोन्नतसौधकेन प्रारोहितं चटितमात्मन उन्नत उत्तुङ्गसौधः प्रासादो येन तेन सा
उपयुक्ता सोपानमालापि निश्चे-णीपङ्क्तिरपि कार्यसिद्धिपर्यन्तमेव शोभते, सिद्धे कार्ये
तद्विकल्पो न कार्य इति भावः ॥७९॥

अर्थ - अपना कार्य सिद्ध हो जाने पर बाह्य और अन्तरङ्ग - दोनों प्रकार के
कारण तृण के समान तुच्छ हो जाते हैं। जैसे अपने ऊँचे महल पर चढ़ चुकने वाले पुरुष
के द्वारा सीढ़ियों की पङ्क्ति छोड़ दी जाती है ॥७९॥

[८०]

रागादिकं चात्मभवं दहेत् तत्,
ध्यानं शुभं चात्मभवं समन्तात् ।
वनोद्भवो वातसुदीप्तदावो,
भस्मीकरोतीह वनं समस्तम् ॥

रागादिकमिति - आत्मभवम् आत्मोत्पन्नं शुभं ध्यानं, आत्मभवं
विभावदृष्ट्यात्मोत्पन्नं तत् रागादिकं विभावभावं दहेत् भस्मसात् कुर्यात्। तदेवोदाह्रियते
—इह जगति, वनोद्भवो वनोत्पन्नः, वातसुदीप्तदावः वातेन वायुनां समुदीपितः
प्रचण्डतां नीतो दावो दावानलः 'वने च वनवह्नौ च दवो दाव इहेष्यते' इत्यमरः। समस्तं
निखिलं वनं काननं भस्मीकरोति सम्पूर्णतया दहतीति भावः ॥८०॥

अर्थ - आत्मा में उत्पन्न हुआ शुभध्यान अपने आप में होने वाले रागादिक भावों को सब ओर से जला देता है— नष्ट कर देता है। जैसे कि वन में उत्पन्न और वायु से प्रचण्डता को प्राप्त दावानल समस्त वन को भस्म कर देता है ॥८०॥

[८१]

आद्या विरागा द्वितया सरागा,
दृष्टिर्जनानां स्वलितात्मभावा ।
अभ्राश्रिता सा विमला ततश्चेत्,
मलाभिभूता पतिताम्बुधारा ॥

आद्येति - जनानां लोकानां स्वलितात्मभावा स्वलितः च्युत आत्मभावो यस्यां सा तथाभूता आद्या प्रथमा विरागदृष्टिः रागप्रपञ्चरहिता द्वितया च सरागा राग-प्रपञ्चयुक्ता, अस्तीति शेषः तयोरआद्यादृष्टिः अभ्राश्रिता मेघाश्रिता विमला निर्मला अम्बुधारा जलधारा अस्ति। अन्या मलाभिभूता मलाक्रान्ता पतिता पृथिव्यां पतिता अम्बुधारा अस्ति। विरागादृष्टिर्विमला सरागादृष्टिश्च समला भवतीति भावः ॥८१॥

अर्थ - मनुष्य की दो दृष्टियाँ हैं एक विराग और दूसरी आत्मभाव से च्युत करने वाली सराग। विराग दृष्टि मेघाश्रित जलधारा के समान निर्मल है और दूसरी पृथिवी पर पड़ी जलधारा के समान मलिन है ॥८१॥

[८२]

यथा पृथिव्यां करिणो नरा वा,
दृष्टिं गताः श्रीफलमत्तुमीशाः ।
हंसा हि मुक्ताफलभोजिनः स्युः,
सिताः समित्या युतका ह्यनाशाः ॥

यथेति - यथा येन प्रकारेण पृथिव्यां वसुधायां दृष्टिं दर्शनशक्तिं विचारशक्तिं च गताः प्राप्ताः करिणो गजा नरा वा मानुषा वा श्रीफलं नारिकेलं पक्षे श्रिया लक्ष्म्याः फलम् अत्तुं भक्षयितुमीशाः समर्थाः सन्ति। करिणः पृथिव्यां पतितं खादन्ति नराश्च समुत्तुङ्गवृक्षात् चोटयित्वा खादन्तीति विशेषः। तथा सिताः शुक्लाः हंसा मरालाः समित्या समताभावेन युतकाः युतः सहितः क आत्मा येषां ते। अनाशा आशारहिताः साधवः मुक्ताफलभोजिनः स्युः हंसपक्षे मौक्तिकफलभोजिनः स्युः साधवश्च मुक्ताफलभोजिनो युक्तिरूपफलानुभवकाः स्युः। साधुपक्षे सिताः समुज्ज्वलभावा इति ग्राह्यम् ॥८२॥

अर्थ - जिस प्रकार पृथिवी में दृष्टि—देखने की शक्ति को प्राप्त हाथी और

दृष्टि—विचारशक्ति को प्राप्त मनुष्य श्रीफल—नारियल (पक्ष में लक्ष्मी का फल) खाने में संमर्थ हैं उसी प्रकार सफेद हंस और समताभाव से युक्त आत्मावाले अनाश—आशारहित साधु, मुक्ताफलभोजी होते हैं। हंस मोती चुगते हैं और साधु मुक्तिरूपी फल का अनुभव करते हैं ॥८२॥

[८३]

प्रत्येकभावे निजपर्यया वै,
प्रतिक्षणं ये प्रलयं प्रयान्ति ।
मुहुर्मुहु र्या तरलेव भूत्वा,
तरङ्गमाला क्षणिका तडागे ॥

प्रत्येकेति - प्रत्येकभावे प्रत्येकपदार्थे ये निजपर्ययाः स्वकीयपर्ययाः सन्ति ते वै निश्चयेन प्रलयं विनाशं प्रयान्ति गच्छन्ति। तदेवोदाहरति - तडागे कासारे या तरङ्गमाला वीचिसन्ततिरस्ति सा मुहुर्मुहुः वारं वारं तरलेव चञ्चलेव भूत्वा, क्षणिका क्षणे भवा क्षणिका नश्वरी भवति ॥८३॥

अर्थ - प्रत्येक पदार्थ में जो अपनी पर्यायें हैं वे प्रतिक्षण विलय को प्राप्त होती हैं। जैसे तालाब में जो तरङ्ग की संतति है वह बार बार चञ्चल सी होकर विनष्ट हो जाती है ॥८३॥

[८४]

काले न कालेन न काचन श्रीः,
सा चात्मतत्त्वं तु ततोऽस्तु तत्र ।
समुद्यमोऽतोऽस्तु सदैव सद्भिः,
कर्तव्य एवात्महिताय तत्त्वे ॥

काल इति - काचन कापि श्रीः सुखादिलक्ष्मीः न कालेऽवसर्पिण्युत्सर्पिणीरूपे भवति न कालेन प्रातर्मध्याह्नादिरूपेण भवति। सा सुखादिलक्ष्मीः आत्मतत्त्वं आत्मस्वरूपं अस्ति ततस्तस्मात् तत्रात्मनि अस्तु भवतु। यो यस्य धर्मः स तत्रैव प्राप्यते नान्यत्रेति भावः। अतः सद्भिः साधुभिः आत्महिताय आत्मने हितमात्महितं तस्मै स्वश्रेयसे तत्त्वे स्वतत्त्वे एव सदैव सर्वदा समुद्यमः समुद्योगः प्रयासः कर्तव्यो विघातव्यः अस्तु ॥८४॥

अर्थ - कोई भी सुखादिकलक्ष्मी न किसी काल में और न किसी काल के द्वारा होती है क्योंकि वह आत्मतत्त्व है अतः आत्मा में ही हो सकती है। अतः सत्पुरुषों को आत्महित के लिये आत्म तत्त्व में ही सदा उद्योग करना चाहिये ॥८४॥

[८५]

धयोयो न सेव्यो न हि चाप्युपेयो
 ज्ञेयोऽपि कालो नियतोऽपि हेयः।
 ध्येयः प्रमेयो निजशुद्धभावो
 प्युपेयको योऽत्र सुधासुपेयः॥

ध्येय इति - कालः कालद्रव्यं न ध्येयो न ध्यातुं योग्यः। न हि चापि उपेय उपैतुं योग्यः। ज्ञेयोऽपि ज्ञानविषयोऽपि नियतो निश्चितः सन्नपि हेयो हातुं त्यक्तुं योग्यः। अत्र लोके यः निजशुद्धभावो निजस्य शुद्धपरिणामः अस्ति स एव ध्येयो ध्यातुं योग्यः। प्रमेयः प्रमातुं योग्यः। उपेयकः उपैतुं योग्यः। सुधासुपेयः पीयूषमिव सुखेन पेयः पातुं योग्योऽस्ति॥ ८५॥
 अर्थ - कालद्रव्य ध्येय नहीं है, सेव्य नहीं है, उपेय भी नहीं है, ज्ञेय होकर भी निश्चित ही हेय है। इस जगत् में जो निजशुद्धभाव है वह ध्येय है, प्रमेय है, उपेय है और सुधा के समान सुपेय है॥ ८५॥

[८६]

त्यक्तुं न हीशा विषयान् विमूढा
 वदन्ति मुक्तिर्भवतोऽस्तु कालान्।
 कषायभीमग्रहलुप्तबोधाः
 कुर्वन्ति किं किं न विनिन्द्यभावम्॥

त्यक्तुमिति - विषयान् पंचेन्द्रियभोगान् त्यक्तुं प्रहर्तुं नेशाः न समर्थाः विमूढा मोहिजीवा वदन्ति कथयन्ति - भवतः संसारात् मुक्तिर्भोक्षः कालात् समयान् अस्तु स्वयमेव भवतु प्रयत्नोभ्रत्र विषये विफलः। सत्यमेव, कषायभीमग्रहलुप्तबोधाः कषाय एव भीमो भयंकरो ग्रहः पिशाचस्तेन लुप्तो बोधो येषां ते तथाभूताः जनाः किं किं विनिन्द्यपापं न कुर्वन्ति॥ ८६॥
 अर्थ - जो विषयों को छोड़ने के लिये समर्थ नहीं हैं, ऐसे मोही मनुष्य कहते हैं कि संसार से मुक्ति काल आने पर स्वयं हो जायेगी। ठीक ही है, कषायरूपी भयंकर पिशाच के द्वारा जिनका ज्ञान लुप्त हो गया है ऐसे मनुष्य कौन कौन निन्दनीय पाप नहीं करते हैं ?॥ ८६॥

[८७]

स्वजातिवात्सल्यगुणं दधानः
 संभोगकार्ये न दिवा रतोऽस्तु।
 तथापि काको जगतादृतो नो
 मन्येऽत्र रूढिर्न हि चान्यहेतुः॥

स्वजातीति - यद्यपि स्वजातिवात्सल्यगुणं स्वस्य जातौ वात्सल्यमेव गुणस्तं स्वकीयजातिस्नेहगुणं दधानः। संभोगकार्ये सुरतक्रियायां दिवा दिवसे

न रतो न लीनोऽस्तु तथापि काको वायसो जगता लोकेन नो आदृतो नादरं
प्रापितः। अत्र विषये रूद्धिरेव कारणमिति मन्ये जानामि। अन्यहेतुरितरकारणं
न ह्यस्ति नियमेन नास्ति।। ८७।।

अर्थ - यद्यपि कौआ अपने जाति के साथ वात्सल्य रूप गुण को धारण करता और
दिन में रतिक्रिया में तत्पर नहीं रहता तथापि वह जगत् के द्वारा आदर को प्राप्त नहीं होता।
इसमें रूद्धि ही कारण है ऐसा मानता हूं। अन्य कारण नहीं है।। ८७।।

[८८]

आप्रादित्त्रो फलभारनम्रो
गन्धान्वितं यस्य न मंजुपुष्पम्।
सेव्योऽत्र मिष्टेन रसेन सर्वै-
रुदण्ड इक्षोर्ननु दण्डकोऽपि।।

आम्रंति - इक्षोः पौण्ड्रकस्य दण्डकोऽपि दण्ड एव दण्डकोऽपि यद्यपि
आप्रादित्त्रो रसालादितररिव फलभारनम्रः फलानां भारेण नम्रो नास्ति। यस्य
मंजुपुष्पं सुन्दरकुसुमं गन्धान्वितं सुगन्धसहितं नास्ति। प्रकृत्या च उदण्डो दण्डरूपो
अविनीतो वास्ति तथापि मिष्टेन रसेन कारणेन अत्र जगति सर्वैराबालवृद्धैः
सेव्यः सेवनीयो वर्तते।। ८८।।

अर्थ - ईख का दण्ड यद्यपि आप्रादि वृक्षों के समान फलों के भार से नम्र नहीं होता
और न जिसका सुन्दरफूल सुगन्ध से सहित है प्रकृति से उदण्ड - दण्ड रूप में खड़ा है (पक्ष
में अविनीत) तथापि मिष्ट रस के कारण जगत् में सब के द्वारा सेवनीय है।। ८८।।

[८९]

गुणीभवन्तीह यतेर्जरायां
तपांसि सर्वाणि च तान्विकानि।
अयत्नमुक्तं वृषमिष्टमन्नं
मन्दाग्निना वाऽकृतभोजनेन।।

गुणीति - इह जगति जरायां वृद्धावस्थायां यतेः साधोः तान्विकानि
तनौ शरीरे भवानि तान्विकानि शरीराश्रितानि सर्वाणि तपांसि तपश्चरणानि
गुणीभवन्ति अप्रधानीभवन्ति। वा समुच्चये मन्दाग्निना जठराग्नेः मान्द्यतया
अकृतभोजनेन न कृतं भोजनं येन तेन साधुना वृषं गरिष्ठम् इष्टं वाञ्छितं अन्नं
भोजनं अयत्नं प्रयत्नमन्तरेण मुक्तं त्यक्तं भवति।। ८९।।

अर्थ - इस जगत् में वृद्धावस्था के समय साधु के शारीरिक तप गौण हो जाते हैं और
मन्दाग्नि के कारण भोजन न कर सकने के कारण गरिष्ठ इष्ट भोजन बिना प्रयत्न के ही छूट
जाता है।। ८९।।

[९०]

सुशास्तृयोगाद्धि जगत् सुखि स्यात्,
स्याद्दुःखि भूरीतरतोऽप्यवश्यम्।
तानाश्रितान्नौ नयतेऽब्धितीरं,
छिद्रान्विता घोररसातलं चेत्।।

सुशास्त्रिति - जगत् भुवनं सुशास्तृ योगात् शोभनः शास्ता शासकः
सुशास्ता तस्य योगात् सम्बन्धात् हि निश्चयेन सुखि सुखसहितं स्यात्। इतरतः
कुशास्तुर्योगात् अवश्यं नियमेन भूरि अत्यधिकं दुःखि दुःखयुक्तं स्यात्।
तदेवोदाहरति - नौः तरणिः आश्रितान् स्वोपर्यारूढान् तान् जनान् अब्धितीरं
सागरतटं नयते प्रापयति। चेत् यदि नौः छिद्रान्विता सविवरा स्यात् तर्हि
घोररसातलं भयंकरपातालं नयते।। ९०।।

अर्थ - जगत् उत्तम शासक के योग से सुखी होता है और कुशासक के योग से अत्यधिक
दुःखी होता है। जैसे नाव आश्रिजनों को समुद्र के तट पर पहुंचा देती है, यदि वही नाव छिद्र
सहित है तो भयंकर रसातल में पहुंचाती है।। ९०।।

[९१]

ज्ञातोऽनुभूतो यदि नात्मभाव-
श्चेत्तस्य चर्चा कुरुते तपस्वी।
पित्तज्वरार्तं पवनार्दितं वा,
प्रलापयन्तं मनुते मनस्वी।।

ज्ञात इति - यदि यद्यपि आत्मभावः शुद्धात्मस्वभावो न ज्ञातो
ज्ञानविषयीकृत न चानुभूतः संवेदनविषयीकृतः। तथापि तपस्वी साधुः चेत्
यदि तस्य शुद्धात्मभावस्य चर्चा वार्ता करोति विदधाति तर्हि तं तपस्विभ्यं
मनस्वी शुद्धात्मज्ञानसंपन्नो जनः प्रलापयन्तं प्रलापं कुर्वाणं पित्तज्वरार्तं
पित्तज्वरेणार्तं पीडितं वाथवा पवनार्दितं पवनेन वातरोगेणार्दितं पीडितं
मन्यते, शुद्धात्मनो ज्ञानमनुभवमन्तरेण तस्य चर्चा हास्यकरी भवतीति भावः।।
९१।।

अर्थ - यद्यपि आत्मपदार्थ को न जाना है, न उसका अनुभव किया है तथापि साधु
यदि उसकी चर्चा करता है तो विचारशील मनुष्य उसे बकवाद करने वाला पित्तज्वर अथवा
वात से पीडित मानता है।। ९१।।

[९२-९४]

गौश्चर्यया पापततौ च मौनोऽ-
पृष्टोऽप्यमौनो निजधर्महानौ।
भीतोऽस्ति लोकैषणतोऽप्यभीतो,

दुःखोपसर्गेषु विविक्तधर्मैः॥
 परोपकारी तरुवन्निरीह-
 स्तथोद्यमी यो रविचन्द्रशीलः।
 सिंहोऽस्तिवृत्त्याऽनिलवद् विसंगो,
 योगेन मेरुः क्षमया धरास्ति॥
 सत्यैकजिह्वोऽप्यहिवद् विवासः,
 सुसंवृतात्मा भुवि कूर्मवद्भ्र।
 सदृष्टलक्ष्योऽपि नदप्रवाहो,
 मयांच्यते संजयतात् स योगी॥ (विशेषकम्)

गौरिति - परोपकारीति - सत्यैकेति - यः चर्यया गौः धेनुः
 प्राप्तसंतोषीत्यर्थः। पापततौ दुरितसमूहे मौनो पापकार्यसमर्थनरहितः। निजधर्महानौ
 स्वधर्महानिप्रसंगे अपृष्टोऽपि अमौनो मौनरहितः प्रतिकारकर्तैत्यर्थः। लोकैषणतः
 लोकख्यातेः भीतोऽपि त्रस्तोऽपि विविक्तधर्मैः अधार्मिकजनैः दुःखोपसर्गेषु
 कष्टप्रदोपसर्गेषु कृतेष्वपि अभीतो भयरहितोऽस्ति। परोपकारी सन्नपि तरुवद्भ्रक्षवत्
 निरीहः प्रत्युपकारानभिलाषी। तथा समुच्चये। उद्यमी पुरुषार्थी रविचन्द्रशीलः
 सूर्येन्द्र इव निर्भोकोऽस्ति। अनिलवत्पवन इव विसंगोऽपरिग्रहः इत्यर्थः। योगेन
 ध्यानेन मेरुः मन्दरवन्निश्चलः। क्षमया तितिक्षया धरास्ति सर्वं सहास्ति
 पृथिवीवत्सहिष्णुरिति भावः। सत्यैकजिह्वा सत्यमेवैका जिह्वा यस्य तथाभूतः
 सत्यवादी। अहिवत् पन्नग इव विवासोऽनियतनिवास स्थानः अस्ति। भुवि भूमौ
 कूर्मवत् कच्छप इव सुसंवृतात्मा स्वसंवृतेन्द्रियः सदृष्टलक्ष्योऽपि दृष्टेन निश्चितेन
 लक्ष्येण सहितोऽपि नदप्रवाहो नदस्येव प्रवाहो यस्य तथाभूतः लक्ष्यप्राप्तिं विना
 पुरुषार्थान्न विरमतीति भावः। एवंभूतो यो योगी अस्ति स मया अंच्यते पूज्यते।
 स संजयात् सम्यक्प्रकारेण जयशीलो भवतु॥ ९२-९४॥

अर्थ - जो चर्या से गाय है, पाप समूह में मौन है, निजधर्म की हानि में बिना पूछे
 भी प्रतिकार करने वाला है, लौकिकख्याति से भयभीत होने पर भी अधार्मिक मनुष्यों के द्वारा
 कृत दुःखदायक उपसर्गों में अभीत है, परोपकारी होकर भी वृक्ष के समान प्रत्युपकार की इच्छा
 से रहित है, सूर्यचन्द्रमा के समान उद्यमी है, वृत्ति से सिंह के समान निर्भय है, वायु के समान
 निष्परिग्रही है, ध्यान में मेरु के समान निश्चल है, क्षमा में पृथिवी के समान सहिष्णु है।
 सत्यैकजिह्व है - सत्यवादी है, सर्प के समान निश्चित निवास स्थान से रहित है, पृथिवी
 पर कछुवे के समान अपने आपको संवृत करने वाला है और निश्चित लक्ष्य से सहित हो लक्ष्य
 की प्राप्ति के लिये नदी के प्रवाह के गमान गतिशील है, वह साधु मेरे द्वारा पूजा जाता है, वह
 सदा जयवन्त रहे॥ ९२-९४॥

[१५]

अज्ञाः सुदूरा ननु तेभ्यः विज्ञाः,
स्वं नापि पश्यन्ति चलोपयोगाः।
स्वच्छेऽपि नीरे न मुखं सुदृष्टं,
वातेन लोले बुधभारतीयम्॥

अज्ञा इति - अज्ञाः न जानन्तीत्यज्ञाः ज्ञानशून्याः ननु निश्चयेन सुदूरा अतिदूरवर्तिनः स्वहितादिति शेषाः। ये विज्ञा अपि द्रव्यश्रुतोपलक्षिता अपि चलोपयोगाः चपलचेतसः सन्त स्वं स्वकीयशुद्धस्वभावं न पश्यन्ति नानुभवन्ति, तेभ्यः सुदूराः सन्ति। तदेवोदाहरति - वातेन वायुना चले स्वच्छेऽपि विमलेभ्यः नीरे सलिले मुखं वदनं न सुदृष्टं समीचीनतयावलोकितं न भवति। इयमेषा बुधभारती ज्ञानजनवागस्ति॥ १५॥

अर्थ - अज्ञानी जन तो निश्चयतः आत्महित से अतिदूर हैं ही परन्तु चंचल उपयोग वाले जो ज्ञानी भी स्वकीय आत्म तत्त्व को नहीं जानते हैं- नहीं अनुभवते हैं वे भी बहुत दूर हैं क्योंकि वायु से चंचल स्वच्छ जल में भी मुख अच्छी तरह नहीं देखा गया है, ऐसा ज्ञानी जनों का कहना है॥ १५॥

[१६]

जन्या सुतस्ताडितको रुदन् सन्,
सनीरनेत्रः सहसा हसन् सः।
दृष्टोभनिमेषोभ्रप्रतिशोधभावो,
यथा यथाजातयतिः स्थिरीस्यात्॥

जन्येति - जन्या मात्रा ताडितकः ताडित एव ताडितकः स सुतः पुत्रः रुदन् रोदनं कुर्वन् सनीरनेत्रः सजसलनयनः सन्नपि सहसा झटिति हसन् हास्यं कुर्वन् दृष्टः। इत्थं तस्मिन् अनिमेषः स्पष्टः अप्रतिशोधभावोऽभ्रप्रतिकारभावो यथा दृष्टस्तथा यथाजातयतिर्दिग्म्बरः साधुरपि स्थिरीस्यात् प्रतिशोधभावरहितत्वेन स्थिरीभवेत्॥ १६॥

अर्थ - माता के द्वारा ताडित पुत्र रोता है, आंसू बहाता है पर शीघ्र ही खिल उठता है उसमें स्पष्ट ही बदला न लेने का भाव जैसा देखा गया है वैसा ही निरग्रन्थ साधु में भी देखा जाना चाहिये, उसे भी स्थिर रहना चाहिये॥ १६॥

[१७]

वर्णस्य पात्रं किल विश्वशास्त्रं,
मलस्य पात्रं तव रूपिगात्रम्।
चिद्बस्तुमात्रं हि सुखस्य पात्रं,
सर्वं ह्यपात्रं स्मर चेतसाऽत्र॥

वर्णस्येति - विश्वशास्त्रं समस्तशास्त्रं किल निश्चयेन वर्णस्य वर्णानामक्षराणां जातिव्वादेकवचनं पात्रं भाजनमस्ति। तव भवतः रूपि सुन्दरं गात्रं शरीरं मलस्य विष्ठादेः पात्रमस्ति। हि निश्चयेन चिद्वस्तुमात्रं आत्मद्रव्यमात्रं सुखस्य शर्मणः पात्रमस्ति। एतद्भिन्नं सर्वं सुखस्यापात्रमस्ति। इति त्वम् अत्र लोके चेतसा मनसा स्मर स्मरणं कुरु।। १७।।

अर्थ - समस्त शास्त्र वर्ण - अक्षरों के पात्र हैं, तेरा सुन्दर शरीर मल का पात्र है। एक चैतन्य वस्तु ही सुख का पात्र है इसके बिना सभी सुख के अपात्र है, ऐसा तू मन से स्मरण कर।। १७।।

[१८]

या दृष्टा स्त्री प्रकृतिः साऽमूर्तो यो नियमतः स पुरुषः।

दृष्टौ स्त्रीपुरुषौ तु व्यवहारेणात्र समयोक्तौ।।

येति - या दृष्टा विलोकिता भवति मयेति शेषः सा स्त्री स्त्रीरूपा प्रकृतिः अस्ति। यश्च अमूर्तोऽदृष्टिगोचरोऽस्ति स नियमतः पुरुषोऽस्ति। इत्थं समयोक्तौ शास्त्रोक्तौ स्त्रीपुरुषौ व्यवहारेण दृष्टौ। सांख्यदर्शने प्रकृतिः पुरुषश्चेति द्वे मूलतत्त्वे स्वीकृते। तयोर्यद् दृश्यते सा प्रकृतिः कथ्यते। स्त्रीलिंगत्वात्तस्यां स्त्रीति व्यवहारो भवति। अमूर्तत्वाद् यो न दृश्यते सः पुरुषः कथ्यते। पुंलिंगत्वान्तस्मिन् पुरुषः व्यवहारः क्रियते। समये सांख्यदर्शने यौ प्रकृतिपुरुषौ प्रोक्तौ तौ व्यवहारेणैव प्रोक्तौ।। १८।।

अर्थ - जो देखी गई है वह स्त्री रूप प्रकृति है और जो अमूर्त है - दृष्टिगोचर नहीं है वह पुरुष है। शास्त्र में कहे गये जो स्त्री पुरुष हैं वे व्यवहार से ही कहे गये हैं।। १८।।

[१९]

क्षुद्रोऽस्मि बोधेन बलेन वीर !

त्वदाश्रयात् स्याद् विभुता ध्रुवात्र।

स्याद्गमे सा नदिका लघिष्ठा,

नदीपतिं प्राप्य विमानपात्रा।।

क्षुद्र इति - हे वीर ! वर्धमानजिनेन्द्र ! अहं बोधेन ज्ञानेन बलेन वीर्येण च क्षुद्रो हीनोऽस्मि। त्वदाश्रयात् तवाश्रयात् अत्र मयि ध्रुवा निश्चिता विभुता विशालता स्याद् भवेत्। सा नदिका सरित् उद्गमे उत्पतिस्थाने लघिष्ठा असतिलघ्वी भवति किन्तु नदीपतिं सागरं प्राप्य विमानपात्रा विशिष्टप्रमाणभाजनं स्यात्।। १९।।

अर्थ - हे वीर ! मैं ज्ञान और बल से क्षुद्र हूँ - हीन हूँ, परन्तु आपके आश्रय से मुझमें निश्चित ही विभुता - विशालता हो सकती है। जैसे कि नदी उद्गम स्थान पर अत्यन्त लघु होती है, परन्तु समुद्र को पाकर वह विशाल प्रमाण का पात्र हो जाती है।। १९।।

[१००]

नीतेः प्रणेता शिवपन्थनेता,
नीत्यै भया यः प्रणतिं सुनीतः।
धनाप्तये निर्धनिभिर्धनी किं,
सेव्यो न वा पृच्छति नीतिरेषाः॥

नीतेरिति - यो नीतेः सदाचरणपद्धतेः प्रणेता रचयिता शिवपन्थनेता
मोक्षमार्गनायकश्चास्ति स भवान् वीरो मयात्र लोके नीत्यै नीतिशतकपूर्त्यर्थं
प्रणतिं नमस्कृति सुनीतः सुप्रापितः। निर्धनिभिर्धनरहितैर्जनैः किं धनाप्तये
धनंप्राप्त्यै धनी जनः सेव्यः सेवनीयो न भजति ? इति एषा नीतिः पृच्छति
त्वामिति शेषः॥ १००॥

अर्थ - जो नीति के रचयिता है तथा मोक्षमार्ग के नेता हैं ऐसे महावीर भगवान् को ही
मैंने नीति - नीतिशतक की पूर्ति के लिये नमस्कार किया है। क्या निर्धन मनुष्यों के द्वारा
धन प्राप्त के लिये धनी पुरुष सेवनीय नहीं है ? यह नीति आप से पूछती है॥ १००॥

चिन्मय-धन के धनिक रहे हैं शिवसुख के जो जनक बने।
विरागता के सदन जिन्हें हो नमन सदा यह कनक बने।।
लिखी गई यह अल्प ज्ञान से नीतिशतक की रचना है।
रोग शोक ना रहे धरा पर ध्येय पाप से बचना है।।१।।

नया वस्त्र हो मूल्यवान हो मल से यदि वह समल रहा।
प्रथम बार तो छू नहीं सकता जल को, जल हो विमल अहा।।
उपदेशामृत सन्तों से सुन करता आना कानी है।
शास्त्रों का व्यवसाय चल रहा जिसका, बुध जो मानी है।।२।।

शिवसुखकारक भवदुखहारक मुनि का मुनिपन विमल घना।
देहाश्रित कुल-जात पात से सुनो ! कभी ना समल बना।।
यही समझ में सब को आता कृष्ण-वर्ण की गायें हों।
किन्तु दूध क्या ? काला होता दूध धवल ही पायें ओ।।३।।

यद्यपि वय से वृद्ध हुये हैं संयम से अति ऊब रहे।
विषयरसिक हैं विरति विमुख हैं विषयों में अति डूब रहे।।
उनकी संगति से शुचिचारित मुनियों का वह समल बने।
वृद्ध-साथ हो युवा चले यदि युवा चरण भी विकल बने।।४।।

ज्ञानवृद्ध औ तपोवृद्ध यदि पक्षपात से सहित तना।
उभय लोक में सुख से बंचित निज पर का वह अहित बना।।
सज्जन पीते पेय रहा है पावन पय का प्याला है।
छोटी सी भी लवण-डली यदि गिरती, फिर क्या ? हाला है।।५।।

पाप पंक में फसे हुये हैं, विषय-राग को सुख जाने।
मोह पाश से कसे हुये हैं वीत-राग को दुख माने।।
सत्य रहा यह, कर्म-योग से जिनको होता रोग यहां।
पथ्य कहां वह रुचता उनको अपथ्य रुचता भोग महा।।६।।

मानभूत के वशीभूत हो धनिक दान खुद करते हैं।
मान तथा धन की आशा से ज्ञान-दान बुध करते हैं।।
प्रायः ऐसा प्रभाव प्रचलित कलियुग का है विदित रहे।
बीतराग-मय पूज्य धर्म से इसीलिए ये स्खलित रहे।।७।।

काल रूप ले लोभ अनल वह जीवन में जब खिलता है।
 सुधी जनों का ब्रती जनों का अपनापन ही जलता है।।
 भीतर में नहीं भले बाह्य में भेष-गात्र वह भार रहो।
 निगला गज ने 'केंच' निकलता शेष मात्र बस बाहर ओ॥८॥

भव भव में नव तन का कारण यही परिग्रह माना है।
 वैर-कलह का जनक रहा है यही परिग्रह बना है।।
 यही परिग्रह राजमार्ग है जिस पर शनि का विचरण हो।।
 अतः परिग्रह तजता यह मुनि जिससे इसका सुमरण हो॥९॥

साक्षर होकर जीवन जिसका मोहादिक से शोभित है।
 ज्ञान, ज्ञानपन से वंचित है संयम से नहीं शोधित है।।
 शूकर के केशों को देखो कहां ललित हैं जटिल कहां?
 स्पर्शनीय या दर्शनीय या कोमल-कोमल कुटिल कहां?॥१०॥

पाप पंक में पतित हुआ हो साधु समागम यदि पाता।
 प्रथम पुण्य से भव वैभव पा मुक्ति समागम पुनि पाता।।
 मिश्री का यदि सुयोग पाती खट्टी हो वह यदपि दही।
 इष्ट मिष्ट श्रीखण्ड बनेगी, मूढ़ चाहता तदपि नहीं॥११॥

जग के जड़ जङ्गम जीवों का काय व्याधि का मन्दिर है।
 दुस्सह दुख का मूल हेतु है चित्त आधि का मन्दिर है।।
 साधु जनों का किन्तु काय वह अचलराज है, मन्दर है।
 निज-पर सुख का कारण मन है जीवित शिव का मन्दिर है॥१२॥

केवलज्ञानावरणादिक जड़ कर्मों का जब उदय रहा।
 पूर्ण ज्ञान का उदय नहीं हो अनन्त सुख का निलय रहा।।
 विशाल नभ मण्डल में जैसा उदित प्रभाकर लोहित हो।
 तारक दल वह लुप्त-गुप्त हो शशि भी शीघ्र तिरोहित हो॥१३॥

गृहस्थ जब तक गृह में रहता विरागता का श्वास नहीं।
 जैसा जीवन अनुभव वैसा सरागता का वास वहीं।।
 सूखी लकड़ी जलती जिससे धूम नहीं वह उठता है।
 गीली लकड़ी मन्द जलेगी धूम उठे, दम घुटता है॥१४॥

मुनियों को अध्यात्म शास्त्र वह प्रायः परमामृत प्याला।
विषयरसिक हैं गृही जनों को विषम-विषमतम है हाला।।
जीवन-दाता प्राण-प्रदाता नीर मीन को माना है।
औरों को तो मृत्यु रहा है यही योग्यता बाना है।।१५।।

तन से रीते शिव जिन जीते उनमें संभव हो भव ना।
स्वभावदर्शन विभावघर्षण तन-धारक में संभव ना।।
कहां दूध से प्रकाश मिलता तथा दूध में गन्ध कहां?
प्रकाश देता तथा महकता घृत से जल का बन्ध कहां?।।१६।।

भोग और उपभोगों से तो विरत रहे हो मानी हो।
भोग और उपयोगों में जो निरत रहे परमाणी हो।।
नासा पर फिर दृष्टि रही क्यों ? ऐसा यदि भगवान नहीं!
मान बिना यह परिणति ना हो भेरा यह अनुमान सही।।१७।।

जीव पुण्य का उदय प्राप्तकर नर जीवन को पाकर भी।
सुखद चरित ना दुखद असंयम प्रायः पाले पामर ही।।
उदार उरनाले पर्वत पर मुड़कर भी नहिं हँसती है।
खारा सागर रहा कृपण है सरिता जिस में फँसती है।।१८।।

दृष्टि रहित हो घोर घोरतर तप तपता उस तापस में।
श्रीमन्तों में धीमन्तों में तथा असंयत मानस में।।
अनायास ही होता रहता मद जिससे बहु दोष पले।
निशाकाल में निद्रा जैसी प्रायः आती होश टले।।१९।।

लाल तिलक बिन ललना जनका ललाटतल ना ललित रहे।
उद्यम के बिन तथा जगत में देश ख्यात ना दलित रहे।।
परम शान्त रस बिना किसे वह भाती कवि की कविता है।
सम दर्शन के बिना कभी ना भाती मुनि की मुनिता है।।२०।।

जीर्ण-शीर्ण तन कान्ति हीन है पर भव भी अब निकट रहा।
मोही का पर विषयों पर ही झपट रहा मन निपट रहा।।
बहुत पुराना इमली का वह रहा वृक्ष अतिवृद्ध रहा।
किन्तु खटाई इमली की नहिं वृद्धा यह अविरुद्ध रहा।।२१।।

एक रहा शृङ्गार रसों में रस में डूबे रहते हैं।
 तत्त्वज्ञान से विमुख रहे जो इस विध कुछ कवि कहते हैं॥
 किन्तु सुनो ! अध्यात्मशृंग तक पहुंचाता रस सार रहा।
 परम-शान्त रस कवियों का वह सुखकर है शृङ्गार रहा॥२२॥

नारायण प्रतिनारायण औ तीर्थङ्कर बलदेव धनी।
 महा पुरुष दे महामना वे कहां गये जिनदेव गणी॥
 काल-गाल में कवल हुये सब विस्मृत मृत हैं आज नहीं।
 हम सम साधारण जन की क्या ? कथा रही यह लाज रही॥२३॥

गृही बना पर उद्यम बिन हो धन से वंचित यदि रहता।
 श्रमण बना श्रामण्य रहित हो धन में रंजित यदि रहता॥
 ईख-पुष्प आकाश-पुष्पसम इनका जीवन व्यर्थ रहा।
 सही-सही पुरुषार्थ वन्द्य है जिस बिन सब दुस्वर्ग रहा॥२४॥

तत्त्व-बोध को प्राप्त हुये पर धन से यश से यदि रीते।
 प्रायः मानव धनी जनों की हां में हां भर कर जीते।।
 श्वान चाहता सुखमय जीवन जग में सात्त्विक नामी हो।
 पीछे-पीछे पूछ हिलाता स्वामी के अनुगामी हो॥२५॥

मोक्षमार्ग में विचरण करता श्रमण बना है नगन रहा।
 किन्तु परिग्रह यदि रखता है अणुभर भी सो विघन रहा॥
 पवन वेग से मयूर का वह पुच्छ-भार जब ताड़ित हो।
 मयूर समुचित चल ना सकता विचलित पद हो बाधित हो॥२६॥

बात सङ्ग की कहें कहां तक सुनो ! सङ्ग तो सङ्ग रहा।
 संघ-भार भी अन्त समय में सङ्ग रहा सुन दंग रहा।।
 वस्त्राभरणाभूषण सारे बोझिल हो मणिहार तथा।
 वृद्धावस्था में तो कोमल-मलमल भी अतिभार व्यथा॥२७॥

सुख चाहें उन शिष्यों के प्रति कठोरतर व्यवहार करें।
 कभी-कभी गुरु रुष्ट हुये से वचनों का व्यापार करें।।
 किन्तु हृदय से सदा सदय हो मार्दवतम हो लघुतम हो।
 जैसा श्रीफल कठोर बाहर भीतर उज्ज्वल मृदुतम हो॥२८॥

प्राणरूपा का आश्रय पाकर सन्त वचन भी पाप बने।
 पुण्यात्मा का आश्रय पाकर पुण्य बने भवताप हने।।
 नभ से गिरती जल की धारा इक्षु-दण्ड में मधुर सुधा।
 कटुक नीम में अहि में विष हो अब तो मन तू सुधर मुधा।।२९।।

अहंकार की परिणति से मैं पूर्ण रूप से विरत रहूं।
 तथा काय की ममता तजकर समता में नित निरत रहूं।।
 यही नियति है बार-बार फिर तन का धारण नहीं बने।
 कारण मिटता कार्य मिटेगा प्राण विदारण नहीं बने।।३०।।

प्रयास पूरा भले करो तुम पाप पाप से नहीं मिटता।
 पाप पुण्य से पल में मिटता पुरुष पूत हो सुख मिलता।।
 मल से लथपथ हुआ वस्त्र हो मल से कब वह धुल सकता?
 विमल सलिल से धोलो पल में मूल रूप से धुल सकता।।३१।।

सब सारों का सार रहा है चेतन निधि को त्याग जिया।
 रहा अचेतन दुख का केतन जड़ वैभव में राग किया।।
 कौन रहा वह बुद्धिमान हो सारभूत नवनीत तजे।
 क्षारभूत रसरीत छाछ में भूल कभी क्या? प्रीत सजे।।३२।।

धन के अर्जन संवर्धन औ संरक्षण में लीन रहा।
 बार-बार मर दुखी हुआ पर आत्मिक सुख से हीन रहा।।
 मोह मल्ल की महा शक्ति है उसे जगत कब जान रहा।
 पूँछ उलझती झाड़ी में है चमरी खोती जान अहा।।३३।।

जीवन को, जीवित रख सकती प्रजापाल के बिना प्रजा।
 प्रजापाल पर कहां रहे ओ ! कहां सुखी हो बिना प्रजा।।
 निश्चित ही पर-आश्रित है वह स्वयं भला क्या सिन्धु रहा?
 किन्तु बिन्दु निज आश्रित है यह सिन्धु हेतु है बिन्दु रहा।।३४।।

भोगी बन कर भोग भोगना भव बन्धन का हेतु रहा।
 योगी बन कर योग साधना भव-सागर का सेतु रहा।।
 जैसा तुम बोओगे वैसा बीज फलेगा अहो ! सखे।
 निम्ब वृक्ष पर सरस आम्रफल कभी लगे क्या? कहो सखे!।।३५।।

मोह भाव से दूर हुआ है, साधु परिग्रह त्याग रहा।
 समता से भरपूर हुआ है उसे कष्ट नहीं जाग रहा।।
 चिकनाहट से रहित हुआ है पात पका है पलित हुआ।
 सहज रूप से बाधा बिन ही पादप से वह पतित हुआ।।३६।।

विषयी का बस विषयराग ही भवदुख का वह कारण है।
 भविकजनों का धरम राग ही शिवकारण दुखवारण है।।
 सन्ध्या में भी लाली होती प्रभात में भी लाली है।
 एक सुलाती एक जगाती कितने अन्तर वाली है।।३७।।

वैसा बानर चंचल होता मदिरा पीता पामर है।
 बिच्छू ने फिर उसको काटा और हुआ वह पागल है।।
 उससे भी मानव मन की अति चंचलता मानी जाती।
 धन्य रहा वह विजितमना जो जिनवर की बाणी गाती।।३८।।

पंचेन्द्रिय के विषयों में जो प्रतीति सुख की होती है।
 मोह-भाव की परिणति है वह स्वरीति सुख की खोती है।।
 जल का मन्थन करने वाला पाता नहीं नवनीत कभी।
 किन्तु फेनका दर्शन पाता मति होती विपरीत तभी।।३९।।

वीतरागमय जिनवर का वह जिसके मन में स्मरण हुआ।
 ज्ञात रहे यह बात, उसी के पाप बाप का मरण हुआ।।
 सांबल में सरबर सरिता का मलिन रहे वह सलिल भले।
 अगस्त का जब उदय हुआ बस! विमल बने जल, कलिल टले।।४०।।

किसी पुरुष के दोष कभी भी हो बिना जो किये गये।
 अनायास ही सुधी जनों से सुनै गये हो लखे गये।।
 तन मन वच से कहें न पर को जग में वे जयवन्त रहे।
 सदा दया के निलय बने जो शान्तमना हैं सन्त रहे।।४१।।

महा भयानक दुस्सह दुःखमय-भवसागर के पार गहें।
 स्वभाव तज कर विभाव-भव में जिनवर नहीं अवतार गहें।।
 तेल निकलता है तिल से, घृत तथा दूध से वह निकले।
 किन्तु तेल तिल में नहीं बदले, नहीं दूध में घृत बदले।।४२।।

लुब्ध हुआ है विषयों में अति मुग्ध कुधी वृषरीत रहे।
 ज्ञानी की तुम बात पूछते जग से वह विपरीत रहे।।
 बालक को जब मोदक मिलता खाता खाता नृत्य करे।
 किन्तु वृद्ध वह यद्यपि खाता नृत्य करे ना तथ्य अरे।।४३।।

नग्न दिगम्बर तन से होना केवल यह पर्याप्त नहीं।
 किन्तु विमलता साथ रहे वह मन की, कहते आप्त सही।।
 ऐसा यदि ना, श्वान सिंह पशु नग्न सदा हैं सुखित बनें।
 किन्तु कहां? वे सुखित बने हैं रहें निरन्तर दुखित घने।।४४।।

परम शान्त निज आत्म में यदि जा बसने की चाह रही।
 शक्ति-भाव से भजो सरलता तजो कुटिलता 'राह यही'।।
 कुटिल-चाल से चलता है अहि बाहर में यह उचित रहा।
 बिल में प्रवेश जब करता है 'सरल चाल' हो, विदित रहा।।४५।।

हो सकता है जलधि तृप्त वह शत-शत सरिता नदियन से।
 तथा जहर भी सुधा सरस हो अनल तृप्त हो इन्धन से।।
 पंगू भी वह दैवयोग से गिरि चढ़ सकता संभव है।
 किन्तु तृप्ति लोभी की धन से कभी न होना सम्भव है।।४६।।

रहा मनोबल मुक्ति-मार्ग में साधकतम है गुरुतम है।
 तथा वचन बल तरतमता से अवश्यक हैं कुछ कम है।।
 तन बल तो बस रहा सहायक निश्चय के वह साथ सही।
 किन्तु सुनो ! तुम मुक्तिमार्ग में धनबल का कुछ हाथ नहीं।।४७।।

पापार्जन तन मन वच से हो पाप तनक ही तन से हो।
 विदित रहे यह सब को, तनसे पाप अधिक वाचन से हो।।
 कहूँ कहां तक मन की स्थिति में पाप-मेरु सम मन से हो।
 करे नियंत्रण मन को हभ सब धर्म कार्य बस! मन से हो।।४८।।

दान धर्म में रत होने से शोभा पाता वह भोगी।
 ध्यान कर्म में रत होने से शोभा पाता यह योगी।।
 पात्र बना है निरीह बनना गुण माना है जिनवर ने।
 तरक द्वार है इच्छा-ज्वाला हमें कहा है ऋषिवर ने।।४९।।

कृषक कृषी का कार्य करे वह ध्येय धान्य का लाभ रहा ।
 किन्तु घास का ध्येय रहा तो हास्य पात्र वह आप रहा ॥
 संग सहित-सागारी हो या संग रहित-अनगारी हो ।
 भवक्षय करने धर्मनिरत हो शिवसुख के अधिकारी हो ॥५०॥

यथाशक्ति औ तथाभक्ति से दान पात्र को दे दाता ।
 फल के प्रति यदि किसी तरह भी मन में लालच नहीं लाता ॥
 वही रहा है प्रशस्त दाता, बुध-मत्त हमको बतलाता ।
 कीर्ति फैलती जग में उसकी सुख पाता शाश्वत साता ॥५१॥

सही-दान बस वही कहाता विनय-भाव से गुला हुआ ।
 दाता पूजित बुध जन से हो नम्र-भाव में ढला हुआ ॥
 दुग्ध पान करके भी बालक तुरत वमन वह कर लेता ।
 मानवती माता के मुख को मुड़कर भी नहीं लख लेता ॥५२॥

चिन्तःओं से घिरा रहेगा आजीवन दिन रैन वही ।
 दो दो नारी जिसकी होती गृही जिसे सुख-चैन नहीं ॥
 लगभग वैसा गुरु संयत भी चिंतित रहता खेद रहा ।
 जिसके शिष्यों में आपस में वैर भाव मन-भेद रहा ॥५३॥

महाव्रतों में महा रहा है मुनियों का व्रत शील रहा ।
 इन्द्रियविषयों में रसना का विजय मुख्य सुखशील रहा ॥
 सब दानों में अभय-दान ही श्रेष्ठ रहा वरदान रहा ।
 सब धर्मों में धर्म-अहिंसा मान्य रहा मन मान रहा ॥५४॥

प्रशस्त ध्यानों में सुखदाता शुक्ल-ध्यान वह श्रेष्ठ रहा ।
 प्रधान तप में ध्यान रहा निज-निधि का निधान जेष्ठ रहा ॥
 सभी रसों में मधुर त्याग ही प्रथम रहा बुध श्लाघ्य रहा ।
 विज्ञ कहें बस यही साध्य है मुनियों का आराध्य रहा ॥५५॥

प्रमाण के अनुचर हो चलते जिन शासन के नय सारे ।
 भिन्न स्वभावी रहें परस्पर किन्तु लड़ें नहीं दृग-धारे ।
 भले नदी के एक कूल को अन्य कूल प्रतिकूल रहे ।
 किन्तु नदी को कूल दोनों मिल कूल सदा अनुकूल रहे ॥५६॥

मूढ़ सुनो तुम तन धारण ही दुस्सह दुख का मूल रहा।
सब दुःखों में दुःख वही है मन को जो प्रतिकूल रहा।।
उसमें भी है महा भयानक दुःख पराभव का होता।
आत्मबोध हो फिर क्या दुख है अभाव भव-भव का होता।।५७।।

बाहर से तो छोड़ दिया है धन मणि कंचन सकल अहा।
किन्तु उन्हीं में जाकर जिसका मन रमने को मचल रहा।।
शिव सुख उसको मिल नहीं सकता उसे तत्त्व क्या ? खबर नहीं।
सर्प कांचली भले छोड़ता किन्तु छोड़ता जहर नहीं।।५८।।

सभी सुखों में आत्मिक सुख ही उत्तम है श्रुति गाती है।
सब गतियों में पंचम गति ही उत्तम मानी जाती है।।
सब आभाओं में मणि-आभा मानव मन को भाती है।
सब ज्ञानों में अक्षय केवल-ज्ञान ज्योति सुख लाती है।।५९।।

जैसी मति होती है वैसी नियम रूप से गति होती।
जैसी गति होती है वैसी सुनो नियम से मति होती।।
(अभाव मति का जब होता है गति का अभाव तब होता।
अभाव मति गति का होने से प्रकटित स्वभाव अब होता।।६०।।

जल बिन कब हो जल में उठती लहरें जल के आश्रित हो।
गगन चूमता भवन बना है स्तम्भों पर आधारित हो।।
उत्तमतम गुण ज्ञानादिक भी विनयाश्रित हैं शोभित हैं।
बिना विनय के वृथा सभी गुण इस विध मुनि संबोधित हैं।।६१।।

शक्ति-शालिनी सेना की भी राजा से ही शोभा है।
मस्तक पर वर मुकुट शोभता राजा की भी शोभा है।।
नहीं शोभता बिना विनय के गुणगण का जो निलय बना।
इसीलिए बस सुधी जनों से पूजा जाता विनय घना।।६२।।

ज्यों ही इन्द्रिय सचेत होती विषयों का बस ग्रहण हुआ।
कषाय जगती क्रोधादिक फिर विधि-बन्धन का वरण हुआ।।
विधि बन्धन से गति मिलती है गति से काया मिलती है।
काया में फिर नई इन्द्रियां नई खिड़कियां खुलती हैं।।६३।।

फिर क्या पूछो वही-वही फिर चलती रहती चिर से है।
 परम्परा है बीज वृक्ष से, वृक्ष बीज से फिर से है।।
 किन्तु बीज को दग्ध करो तो वृक्ष कहां फिर जीयेगा।
 जीती, इन्द्रिय यदि तुमने तो शान्ति सुधा चिर पीयेगा।।६४।।

जीत इन्द्रियां विजितमना है यम संयम ले संयत है।
 आत्म-ध्यान में सहज रूप से वही लीन हो संगत है।।
 यथा-शीघ्र ही घुल मिल जाती सुनो दूध में शक्कर है।
 जीतो इन्द्रिय इसीलिए तुम विषयों का तो चक्कर है।।६५।।

ज्ञान मात्र से मात्र चरित से मात्र भावना के बल से।
 सिद्धि नहीं हो, होती शुचितम ध्यान साधना के बल से।।
 समुचित है यह बिना तपाये नहीं दूध से घृत मिलता।
 अनल योग पा, तप-तप कर ही कनक खरा भास्वत खिलता।।६६।।

विशेष औ सामान्य गुणों से सहित वस्तु है शाश्वत है।
 प्रभु के दोनों उपयोगों में एक साथ जो भास्वत है।।
 फैला-फैला कर पंखों को पंछी नभ में उड़ता ओ।
 किन्तु कभी ना दिखा किसी को एक पंख से उड़ता हो।।६७।।

हित हो अथवा अहित रहा हो निज आत्म में निहित रहे।
 सन्तों के ये वचन रहे हैं तुम सब को भी विदित रहे।।
 पर का इस में हाथ रहा हो निमित्त भर वह कहलाता।
 उपादान में फल लगता है सुनो ! गीत तुम यह गाता।।६८।।

ज्ञेय-मूल्य भी ज्ञान बिना नहीं दुख ही सुख का मूल्य रहा।
 बन्ध बिना नहीं मुक्ति रुचेगी निर्धन धन का मूल्य रहा।।
 कौन पूछता दाता को बिन पात्र, पथिक बिन पन्था को।
 गौण हुये बिन मुख्य कौन हो लोचन-मालिक, अन्धा हो।।६९।।

अज्ञ रहा तब मूल्य विज्ञ का बढ़ा अन्यथा वृथा कथा।
 शत्रु मित्र की याद दिलाता क्षुधा बिना है अन्न वृथा।।
 उचित रहा यह जहां निशा हो तथा दिवस भी रहे जहां।
 मूल्य निशाकर तथा दिवाकर का होता बुध कहें यहां ।।७०।।

अविवाहित हो जीवन जीता व्यभिचारी भी बना हुआ।
 गृही विवाहित उससे बर है शुभ आचारी बना हुआ।।
 एक पाप को पल पल ढोता दुर्मति से दुर्गति होती।
 एक पाप को नियमित धोता धर्म कार्यरत मति होती।।७१।।

कृपण सेठ से श्रेष्ठ रहा वह साधारण जीवन जीता।
 दयालु दाता पर के दुख का वैरी उद्यम-जल पीता।।
 प्रशस्त-दाता किन्तु नहीं जो अनीति-धन का दान करे।
 दान बिना भी मान्य रहा वह नीति निपुण गुणवान अरे!।।७२।।

श्रद्धा की मम आंखों में प्रभु किसविध आ अवतार लिया।
 कणभर होकर मन यह मेरा गुरुतम तुमको धार लिया।।
 विराग हो तुम अमूर्त भी हो मूर्त रहा यह अन्य रहा।
 धन्य रहे हो भगवन् तुम तो किन्तु भक्त भी धन्य रहा।।७३।।

महा विचक्षण योग्य शिष्य हो विनयी हो श्रमशील तना।
 योग, योग्य गुरु का पा गुरु हो विस्मय क्या समझील बना।।
 शिल्पी की वह शिल्पकला है जड़ भी चेतन हो जाता।
 कठिन-कठिन पाषाण-खण्ड भी विराग केतन हो जाता।।७४।।

चमक दमक है जिनके चारों ओर विषय ये परे हुये।
 निज में रमते सदा भ्रमर से बुधजन भ्रम से परे हुये।।
 किन्तु हिताहित नहीं जानते पर में रत जड़ मरते हैं।
 जैसे कफ में मक्खी फसती क्यों न विषय से डरते हैं?।।७५।।

भाग्य खुला तो मुख खिलता है प्रायः जग यह मुदित दिखे।
 पाप उदय में आता है तब मुख मुदित हो दुखित दिखे।।
 तपन ताप से नभ मण्डल औ धरती जब यह तप जाती।
 पली छांव में मृदुल लता जो मूच्छित होती अकुलाती।।७६।।

चरित-शरण में जब आता है शील-छांव में पलता है।
 ज्ञान स्वयं यह अविनश्वर शुचि पूर्ण-ज्ञान में ढलता है।।
 उचित शाण पर उचित समय तक अनगढ़ हीरा जब चढ़ता।
 सुजनों के वह कण्ठहार हो मूल्य चरम तक तब बढ़ता।।७७।।

नहीं भूलता उपकारक को कृतज्ञता गुण धरता है।
 श्वान सन्त सम कम सोता है निद्रा से अति डरता है।।
 किन्तु द्वेष रखता है निशिदिन निजी जाति से खेद यही।
 खेल खेलता कर्म कहाँ कब किस विधि खुलता भेद नहीं।।७८।।

उपादान हो निमित्त हो या गौण मुख्य की शर्त नहीं।
 कार्य पूर्ण हो जाने पर फिर कारण से कुछ अर्थ नहीं।।
 बढ़ते बढ़ते ऊपर चढ़ते अंतिम मंजिल वह आती।
 एक एक कर क्रमशः पीछे सभी सीढ़ियां रह जाती।।७९।।

अशुभ-भाव से जनित भ्रं कर कर्मों का वह नाश करे।
 शुभ भावों में वास कर रहे ध्यान सही जिन दास ! अरे!
 पवन योग पा उद्दीपित वह होता दावानल वन में।
 पूर्ण जलाता राख बनाता पूरण वन को वह क्षण में।।८०।।

यदपि मनुज की मोह भाव से सुप्त चेतना होती है।
 विराग पहली दृष्टि दूसरी राग रंगिनी होती है।।
 बादल दल से गिरती धारा प्रथम समय में विमला हो।
 ज्यों ही धरती को आ छूती धूमिल पंकिल समला हो।।८१।।

ऐसा देखा जाता जग में सभी नहीं श्रीफल खाते।
 मनुज तोड़ कर खाता हाथी गिरे हुये श्रीफल खाते।।
 आशा के तो दास नहीं हैं समता धन के धनी बने।
 मुक्ता खाता हंस मोक्षफल खाता है मुनि गुणी बने।।८२।।

पल-पल में प्रति पदार्थ-दल में अपनी अपनी पर्यायें।
 नई-नई छवि लेकर उठती मिटती रहती क्षणिकार्यें।।
 तरंगमाला तरल छबीली पवन चले तब जल में है।
 झिल-मिल, झिल-मिल करती उठती और समाती पल में है।।८३।।

नहीं काल में नहीं काल से गुख भिल सकता ज्ञात रहे।
 सुख तो निर्मल गुण है अपना आत्म तत्त्व के साथ रहे।।
 हित चाओ तो मन वच तन से निज आत्म में लीन रहो।
 यही प्रथम कर्तव्य रहा है भूल कभी मत दीन रहो।।८४।।

विज्ञ जनों के सेव्य नहीं है रहा काल यह ध्येय नहीं।
ज्ञेय भले हो नियत रहा हो किन्तु नियम से हेय सही॥
मोक्ष-मार्ग में शुचि चेतन ही सेव्य रहा है ध्येय रहा।
अमेय भी है उपेय भी है शान्त सुधासम पेय रहा॥८५॥

विषय त्याग से डरते हैं जो मूढ़ रहे वे भूल रहे।
मुक्ति समय पर मिश्रती इस विध कहते हैं प्रतिकूल रहे॥
मोह-भूत के बर्षाभूत हो आत्म-बोध से रहित हुये॥
कषाय-वर्षा नर क्या नहीं करता पाप पंक में पतित हुये॥८६॥

निजी जाति के प्रति ईर्ष्या नहीं सदा अनुराग धरे।
दिन में तो सम्भोग-कार्य में ना रत हो ना राग करे॥
तदपि कहां है काक समादृत कारण का कुछ पता नहीं।
लगता इसमें रूढ़ि रही हो नीति हमें यह बता रही॥८७॥

आम्रादिक तरु सम जो होता सरस फलों से भरा नहीं।
फूल फूलता यद्यपि जिसमें गन्ध नहीं है हरा नहीं॥
इक्षु दण्ड उदण्ड रहा है किन्तु रहा वह सरस महा।
इसीलिए आ-बाल वृद्ध सब जिसे चाहते हरस रहा॥८८॥

तन के आश्रित जितने तप हैं गौण सभी तब होते हैं।
जरा दशा में साधक मुनिजन मौन शमी जब होते हैं॥
जिसे रोग 'मन्दाग्नि' हुआ या जिसने भोजन पाया है।
इष्ट मिष्ट भोजन से अब ना अर्थ रहा प्रभु गाया है॥८९॥

उचित नाव के आश्रित जन को शीघ्र नदी का तीर मिले।
छिद्र सहित यदि नाव मिली तो घोर रसातल पीर मिले॥
शासक शासन उचित चलाता सबका वह संताप हरे।
अनुचित सो अभिशाप रहा है आप, पाप परिताप करे॥९०॥

बिन करनी कथनी में रत है तापस का भ्रम-भाव रहा।
ज्ञात नहीं अनुभूत नहीं क्या? शुचितम आत्म-भाव रहा॥
पित्तकोप से ज्वर पीड़ित या सन्निपात का वह रोगी।
जैसा प्रलाप करता रहता उसे मान ते बुध योगी॥९१॥

जिस की चर्या 'गो' सम होती पाप कार्य में मौन रहा।
 बिन पूछे निर्भीक बोलता धर्म कार्य ही गौण रहा।।
 तत्त्वेषण में डूब रहा है लोकेषण से भीत रहा।
 दुर्जन द्वारा दिये गये दुख उपसर्गों को जीत रहा।।९२।।

शरणागत के शरण प्रदाता निरीह तरुसम उपकारी।
 नियमित उद्यम में रत रहता रवि शशि सम है तमहारी।।
 सिंह वृत्ति का धारक भी है संग रहित है हवा समा।
 योगों में तो अचल मेरु है धरा बना है धार क्षमा।।९३।।

अहि सम जिसका खुद का घर नहीं मत्प्य बोलता इक रसना।
 जिसके तन मन सर्व-इन्द्रियां स्ववश कूर्म मम, परवश ना।।
 देख चुका गन्तव्य स्थान को किन्तु नदी सम भाग रहा।
 योगी वह जयवन्त रहे नित भजूं उसे मन जाग रहा।।९४।।

विज्ञों का उपयोग चपल यदि निज को निहार नहीं पाते।
 अज्ञों की क्या बात रही फिर पर में विहार कर जाते।।
 सलिल स्वच्छ हो सरवर का पर मुख उसमें नहीं दिख सकता।
 जहां पवन से लहर उठ रहीं वहां नेत्र क्या ? टिक सकता ?।।९५।।

जननी सुत को ताड़ित करती नेत्र सजल हो सुत रोना।
 माँ सहलाती, भूल तुरत सब हँसमुख सुत प्रत्युत होता।।
 नेत्र रहे प्रतिशोध-भाव बिन अपलक बालक जैसा हो।
 महाभाग्य वह यथाजात यति व्रत का पालक बैसा हो।।९६।।

शब्दों के तो पात्र रहे हैं जग के सारे शास्त्र महा।
 मल का कोई पात्र यहां है तेरा जड़मय गात्र रहा।।
 सुख का पावन पात्र रहा तो शुचितम चेतन मात्र रहा।
 ऐसा मन में चिंतन कर लो अपात्र सब सर्वत्र रहा।।९७।।

जो भी देखी जाती हमसे वही प्रकृति स्त्री कहलाती।
 अमूर्त जो है पुरुष रहा वह ऐसी कविता यह गाती।।
 मूर्त रूप से देखा जाता स्त्री पुरुषों का अभिनय जो।
 केवल यह व्यवहार रहा है भीतर निश्चय अतिशय हो।।९८।।

बल में बालक हूं किसलायक बोध कहां मुझ में स्वामी ।
तब गुणगण की स्तुति करने से पूर्ण बनूं तुम सा नामी ॥
गिरि से गिरती सरिता पहली पतली सी ही चलती है ।
किन्तु अन्त में रूप बदलती सागर में जा ढलती है ॥ ९९ ॥

रहे नीति के वीर! प्रणेता शिवपथ के जो नेता हो!
नीति प्राप्त हो तुम्हे भजूं मैं सकल—तत्त्व के वेत्ता हो ॥
क्यों न निर्धनी करे धनिक की सेवा धन से प्रीति रही!
रीति नीति हम कभी न भूलें गीत गारही नीति यही ॥ १०० ॥

समय एवं स्थान परिचय

धरम व्योम गति गन्ध का वीरजयन्ती—योग ।
मिला पुण्य के योग से मेटे भव-भव रोग ॥
सम्मेदाचल तीर्थ के पाद प्रान्त में बैठ ।
लिखा ईसरी नगर में काव्य रहा यह श्रेष्ठ ॥

विवरणिका

अ

अक्षप्रवृत्तेर्विषयोपलब्धि - सु/63
अक्षार्थकास्ते हितका भवन्ति - सु/6
अक्षार्थरागो भवद्दुःखदाता - सु/37
अघततिः सद्यना प्रखरामिता - नि/44
अजेयसेनापि विना न राज्ञा - सु/62
अज्ञाः सुदुरा ननु तेऽपि विज्ञाः - सु/95
अत इतो न घृणां कुरुते मनो - प/31
अतिलघौ लघुधिये मयि - श्र/100
अत्र सुखं न वैभवे - श्र/58
अथ निवारितकापदरक्षकाः - प/41
अर्थेन युक्तं नरजीवनं न - सु/24
अधिगतो चित्तानुचितः - श्र/20
अधिपतौ निजयिदिवमलक्षिते - नि/7
अध्यात्मशास्त्रं शभिने सुधा स्यात् - सु/15
अनघतां लघुनैति सुसंगतां - प/9
अनलयोगात् कलकः - भा/97
अनियतं विहरन्नपि स क्षमः - प/64
अनुदिनं त्वयि यो रमतेऽजसा - नि/29
अन्तं गतं ह्यनन्तं - भा/64
अन्येनालं मधुना वनं - भा/78
अब्धिर्नदेश्चानल इन्धनौघे - सु/46
अभयदानविधानसिखदिवधि - नि/89
अमितभा सति भाति विभावतः - नि/48
अयल्लदृष्टान् श्रुतकान् परेषां - सु/41
अयशसां रजसां वपुषाकरः - नि/15
अये ! सरस्वति ! मातः - श्र/5
अलंमजे यमतोऽनियमो हतः - नि/81
अवनितल इव पावन - भा/86
अशने सदंशनेन - भा/85
असमयवर्षास्तमितं - भा/84
असावभावो भावः - श्र/68
असि कुधीर्महसा वचसा न या - प/89
असि गुरुः प्रगुणैश्च समानतः - नि/86

असितकोटिमिता अमिताः तके - नि/14
असिनिजानुभवद्वि समाधितः - नि/65
असि शशी सितशीतसुधाकरैः - नि/23
असि शुचिश्च शशीव सुकेवली - नि/25
असि सदात्मनि वेति मुनीरतः - नि/38
असुमतः प्रति यो गतवैरतः - प/23
असुषमां सुषमा ममितां मनो - नि/17
असंयतानां त्रिषुषामपीह - सु/10
असंयते श्रीमति धीमतीह - सु/19
अस्मिन् धृतभावसति - भा/96
आ
आचार्यस्य सदा भक्ति - भा/70
आद्या विरागा द्वितया सरागा - सु/81
आम्नादिवन्तो फलभारनमो - सु/88
आसन्नमृत्युर्विषयो कषायी - सु/21
इ
इतत्त्विति केवलबोधशक्तिः - सु/13
इह पुरागतकेऽस्य च योगततां - प/46
उ
उन्मत्ततोऽप्यन्त सुपीतमद्यात् - सु/38
उपगता अदयैरुपहासतां - प/53
ए
एताद्रहता गमितं - भा/13
एतद्विषं साधनं - भा/12
एतदिद्वेषः प्लवन्त - भा/16
क
कटुककर्कशकणशुभेतरं - प/54
कठिनसाध्यतपोगुणवृद्धये - प/40
कतपनांगजरजितदेहकः - प/77
कनकतां दृशदोऽनलयोगतः - प/7
कनीयसा मे मनसा धत्ते यो - सु/73
कमलकोमलकौ ह्यमलौ कलौ - प/42
करणकुंजरकन्दरं - श्र/85
करणमानसजं लघु वैहिकं - प/94

करणमोदपदार्थ रसं प्रति - प/32
 करुणाभाववसत्यां सदिभरिदं - भा/7
 कलय व्रतानि पंच - भ्र/43
 कांचिदिच्छा भवनतः - भा/65
 कायेन वाचा तु गुरुः कठोरो - सु/28
 काले न कालेन च काचनश्रीः - सु/84
 किं जितानंग ! ते न ! - भ्र/97
 किं स्याद्भगवन्ममिदं - भा/15
 किलविदा कमयन्ति विरागिणः - नि/95
 कुधी सुखी नाके न ततो - भ्र/73
 कुमतिभिर्दलितोऽपि सखेदितः - प/56
 कुमुदमथो वा येन - भा/24
 कुरुकृपां करुणाकरकेवलम् - नि/50
 कृतकृपा निजंके च्युतवासना - प/29
 कृतमदमतापचितिर्यं - भा/72
 क्व सा दाहकता विना - भ्र/47
 क्षारतः संसारता पारावारतो - भ्र/77
 क्षुद्रोऽस्मि बोधेन बलेन धीर - सु/99
 ख
 खगणः कामहा ! लयं - भा/60
 खविषयो यो नागतः - भ्र/61
 खविषयं विरसं नहि मे मनो - नि/82
 ग
 गंगा गौश्च वामृतं - भा/93
 गणधरैः प्रणतोऽस्ति यदास्वयं - प/82
 गतगतिः सगतिश्च सदागति - नि/43
 गतमलो विरसस्त्वि कारणात् - प/55
 गन्तो लयं स्वात्मनि तेऽस्ति वांछा - सु/45
 गुणगणैर्गुरुभिश्च समानतः - नि/30
 गुणवतामिति चासि मतोऽक्षरः - नि/99
 गुणीभवन्तीह यते नरायां - सु/89
 गौश्चर्यया पापततौ च मौनो - सु/92
 च
 वंचलचित्तसंवरं - भा/27
 चरणमुकुटः शिरसित - भ्र/80
 चरणमोहकबन्धनहानयो - प/45
 चरणयुगमिदं तव मानसः - नि/45
 चर्याशय्यानिषट्पासु - प/98
 चलतु शीततमोऽपि सदागति - प/15
 चाप्ता ह्यस्मानसुरताऽस्ति - भ्र/96
 चित्ताकर्षि तथापिजैः - भ्र/प्र/5

चित्ताकर्षि तथापिजैः - प/मं/5
 चिन्तातुरोऽजसमयं ह्यगारी - सु/53
 चिदानन्दोषाकरो - भा/32
 ज
 जगति नाप्यधुना यशसासितः - प/93
 जगति सत्वदलः सकलश्वेलः - प/80
 जगदिदं द्विविधं खलु चेतनं - प/30
 जडजेन माऽक्षरेण - भ्र/67
 जडतनोर्मंदरागनिराकृति - नि/60
 जननसागरपोषणभाकरः - नि/67
 जन्या सुतस्ताडितको रुदन् सन् - सु/96
 जलाशये जलोद्भवमिवात्मानं - भ्र/33
 जलाश्रिता मंजुलवीचिमाला - सु/61
 जिगमिषुर्निकटं तव ना विना - नि/62
 जितको दृग्भयानकः - भा/33
 जितक्षुधादिपरिषहः - भ्र/13
 जितमोहहारकेण व्यालसता - भा/9
 जितेन्द्रियसंयमधारकः स - सु/65
 जिनमतस्त्वयि योऽपि मुंदालयम् - नि/13
 जिनपदपद्मयमस्य - भ्र/63
 जिपदौ शरणी त्वपि कौ कलौ - नि/11
 जिनमतोन्नति तत्परजीवनं - प/95
 जिनवरं परिवेत्ति विनिश्चित - नि/73
 जिनसमयं जानीत आत्मानं - भ्र/21
 जिनागमेऽन्योन्यविरुद्धधर्मा - सु/56
 जिनागमं सदाश्रित्वा - भा/82
 ज्वलतात्र शंकरेण त्यागो - भा/35
 जानोऽनुभूतो यदि नात्मभाव - सु/91
 जानरूपीकरे दीपो - भा/28
 जानान्न वृत्तान्न च भावनायाः - सु/66
 जानेन वृद्धो यदि पक्षपाती - सु/5
 त
 ततस्तदाप्त्यै भगतस्तिष्ठता - भा/50
 तथा जितेन्द्रियोगतो - भ्र/83
 तथा प्रतीतिस्तु सुखस्य तत्र - सु/39
 तदस्त्यसुमतामस्ति - भ्र/71
 तदाऽऽत्मा मेऽजायते - भ्र/88
 तनुभूतां व्याधिसुमन्दिरं सा - सु/12
 तनुरुषारूपाताऽशुचिसागरा - प/58
 तपनता तपनस्य निदाधिका - प/19
 तप्त ! मनोभववसुना - भ्र/66

तमनिच्छन् पुर्नमवं - अ/2
 तरुणतो रुणतः किरणावली - प/16
 तव नृतेः सुखदशच भृशंकर - नि/45
 तवमते सति ते विफला मता - नि/69
 तवललाटतले ललिते ह्यये - नि/90
 तवलवाशब्द तरन्ति सुभावि मे - नि/93
 तापसोऽतो विनाऽशं - भा/42
 तीर्थकराणां शिवकोशवानां - सु/23
 नृणशिलाकलके च सकारणं - प/49
 तेनाऽऽप्यते साऽऽशु - अ/55
 ते मुनिजनका नत्वा - अ/62
 ते यान्ति सुखं समये - अ/59
 तं जयताञ्जिनागमः - भा/77
 त्यक्तस्तु संगोगतमोहभाव - सु/36
 त्यक्तुं न हीशा विषयान् विमूढा - सु/86
 त्यजेत्वां संगमेन - अ/82
 त्रिपथगाम्बु सुद्वन्द्वन वासितं - प/21
 त्वदधरस्मितवीचिसुलीलया - नि/18
 त्वयि जगद् युगपन्मुनिरंजने - नि/20
 त्वयि रतो हि शठो भव वैभव - नि/80
 त्वयि रुचिं च विना शिवराधनम् - नि/63
 त्वयि रुचे रहिताय न दर्शनं - नि/77
 त्वं त्याज्यं त्यज मानं - अ/49
 द
 दक्षो दूरोऽक्षरतोऽतितापत् - भा/61
 दशपरीपहकाश्च नवाधिका - प/99
 दाता दयालुः परदुःखवैरी - सु/72
 दानं प्रशस्तं विनयेन साकं - सु/52
 दानेन भोगी भुवि शोभते स - सु/49
 दिव्यलोकप्रदानेश - भा/10
 दुःखमनुभवन्नवसु - भा/81
 दुःखस्य मूलं तनुधारणं वा - सु/57
 दुर्वेदनात्मनो यातु - भा/88
 दुःशान्चितं विदो युक्तं - भा/46
 दुःशा विना चरणस्य भारं - अ/91
 दैवेऽनुकूले मुदितं जगद्वा - सु/76
 ध
 धनार्जनारक्षणयोर्विलीनो - सु/33
 धनी तु मानाय धनं ददाति - सु/7
 ध्यानेषु शुक्लं च तपस्सु सत्सु - सु/55
 ध्येयो न सेव्यो नहि चाप्यभेयो - सु/85

ध्रुवममुं मुनिना भजेतामिति - प/70
 ध्रुवप्रसूतिर्ज्वलतो यथा स्या- सु/14
 न नागन्यमात्रं भवमुक्तिहेतुः - सु/44
 न निश्चयेन नयेन - अ/48
 ननु कृतानशनेन तु साधुना - प/8
 ननु दृगादिभिरात्मबलैः सुखं - नि/56
 ननु नरेश सुखं सुरसम्बद्धं - नि/92
 ननु निश्चयो यो नयः - अ/87
 ननु मुनेश्च यथा धृतवृत्ततः - नि/79
 ननु रविरिव पयोऽङ्ग - भा/99
 नभसकं कृष्णतमा अभयानकाः - प/18
 न मनोऽन्यत् सदा नय - अ/99
 न मयाऽकं न पावनं - भा/11
 नयति विस्मरणं सुखयाचना - नि/57
 नयनयुग्मनिभेन नयद्वयम् - नि/6
 न यतिं लुचिताद् गजं - भा/43
 न हि करोति तृषा किल कोपिनः - प/12
 न हि कैवल्यसाधनं - अ/78
 न हि गभीर इहेंद्रु नियोगतः - नि/61
 न हि जगज्जिन पश्यसि वस्तुतः - नि/53
 न हि रुचिस्तव तां प्रति कांचन - नि/31
 न हि सुखे किल दुःख समागमे - नि/88
 निगदितुं महिमा ननु पार्यते - नि/9
 निजतनोर्ममता वमतामतां - प/10
 निजनिधे निलयेन सताऽतनो - नि/10
 निजकचा स्फुरते भवतेऽयते - नि/2
 निर्दोषो भुविसुरभिः - भा/83
 निशापतिर्नालीकं तोषयति - भा/75
 निश्चयसोऽर्यै मृतये पथीह - सु/26
 निजस्य गतमदाः नवः - अ/89
 निजीयं ननु नरायं - अ/57
 निन्द्यं न नीतमस्तं मनो - अ/18
 निरस्म्यः सदागतिः - अ/38
 नीतेः प्रणेता शिवपन्थनेता - सु/100
 नो सुखं सदाशातो - अ/75
 प
 पतितपत्रकपादपराजितं - प/22
 पदयुगं शिवदं नु शमीह ते - नि/4
 पदं कुदृष्ट्यै देहि सादित - अ/32
 परपदं ह्यपदं विपदास्पदम् - नि/3
 परपरिष्कारवन्तः - भा/74

परमवीरक आत्मजर्थाह तं - नि/87
 परिग्रहो विग्रहमूलहेतुः - सु/9
 परिचयात् तव यत् त्वयि मे मनो - नि/40
 परिणतो दृशा साकं - अ/56
 परिमलं गुणवन्निजभावि त - प/75
 परिषहोऽस्तुनिजानुभविश्रुतं - प/87
 परिषहं कलयन् सह भावतः - प/23
 परोपकारी तस्वन्निरीह - सु/93
 पलमलैर्निचिताधिगद्येतना - प/76
 पवनो गतः परागं - भा/51
 पात्राय देयं विधिना प्रदाय - सु/51
 पापं वपुर्जं त्वणुकप्रमाणं - सु/48
 पापाय पापैर्जिनवाक् श्रिता सा - सु/29
 पापेन पापं न लयं प्रयाति - सु/31
 पुण्यमुदयागतमदशचाकमितरं - अ/94
 पूर्वानुवृत्तिस्तु पुनश्चिरेयं - सु/64
 प्रणमामि कुन्दकुन्दं - अ/3
 प्रतापी ह्यपि रोहितः - अ/74
 प्रत्ययो यस्य वृत्तं जिने - अ/45
 प्रत्येकभावे निजपर्यया वै - सु/83
 प्रवचनेऽचिन्ति साऽप्रतिमा नता - नि/55
 प्राप्तो वैरेवैष स्यात्मानुभवो - अ/27
 फ
 फलमिदं तु पुराकृत शावरे - प/ 57
 ब
 बध्यते विधिना विधिः - अ/29
 बलयुतोपि मुनिः स्वतनोर्मलं - प/78
 बुधनुता जिनशास्त्रविशारदा - प/83
 बुधनुतः स मुनिप्रवरो गतः - प/67
 भ
 भवत्येप्सिताऽप्रवारिर्माहृतमः - भा/3
 भवकारणतो देहरागात्किल - अ/26
 भवता निजानुभवतः - भा/89
 भवता विषयवासनाऽपास्य - अ/9
 भवति स्म भो ! भावतो - भा/98
 भवतु सा तु सतां वरभूतये - प/6
 भवत्यां भोगसंपदि मुनिमौदमेति - अ/31
 भवामि मुक्ता न भवे विभावे - सु/42
 भवोरुवनधनंजयः - भा/31
 भवहेतुभूता क्षमा - अ/44
 भव्यकौमुददोषेशः - भा/52
 भावना वेद्भि भवतः - अ/53

भायाच्च तनाकेन - भा/92
 भिन्नोऽहमंगान्मदरूपिणोऽपि - अ/34
 भूत्वा नरोऽयं सुकृतात् सुसंगं - सु/18
 भोमानुवृत्तिर्विधबन्धहेतुः - सु/35
 भोगोपभोगेषु स्तो न मानी - सु/17
 म
 मति रिता भवतो मम सादर - नि/46
 मतिरियं भवता मधि भाविता - नि/26
 मदनमार्दवमानसहारिणी - प/36
 मनाङ् मानं मोरसि मुनिरेतु - अ/7
 मनोबलं तद्गुरुमुकितमार्गं - सु/47
 मनोहरं मदीन्मत्तं - भा/100
 ममगुणेष्वधुनापि न वृद्ध्यः - प/92
 मम मतिः क्षणिका ह्यपि चिन्मयी - नि/83
 मममतिः स्तवनेत्सरोवरं - नि/68
 ममतमित मुरः कुमुन्द - भा/54
 ममविदावरणेन तिरोहितं - प/91
 ममसुवित्तनुरद्यमितोजसा - नि/96
 मधि रतोऽहमतो भवतो रुचि - नि/94
 मसकदंसकमत्कुणकादयः - प/27
 महतां वराजराजः - भा/26
 माने तु मेयस्य सुखस्य दुःखे - सु/69
 मायादिभावमवहन्ननघज्ञानघनौघममलं - अ/22
 मार्गस्मृतेर्वस्य गतो जिनेन्द्रो - सु/40
 मुक्तास्ते प्रभावतः - भा/80
 मुदमुपेभि मुनिर्मुनिभावतो - नि/33
 मुनितात्मनिशान्तेन - भा/30
 मुनिषु ममविपाकस्य - भा/25
 मूल्येन पुष्टं च मलेन जुष्टं - सु/2
 मोदोऽमुनाहमधुना - भा/37
 मोहतमः समुदायवृत्तमानस - अ/98
 मोहारेः पराभवे - भा/6
 मोहोरगरसायनं मुवर्ते - भा/62
 य
 यते ऽन्मतेऽमलं ! य - अ/95
 यतो जिनपददर्शनं - भा/5
 यत् संसारे सारं - अ/37
 यत्र रागाय वीचिर्म - अ/69
 यत्र कल्पते मदनता - भा/23
 यथा दहति सदागतिप्रेरितो - भा/45
 यथाः पृथिव्यां करिणो नरा वां - सु/82
 यथा मतिः स्याच्च तथागतिः सा - सु/60

यथोद्यतमिह रोहितः - भा/53
 यदनुवृत्ति ऋषि हि सदीपतां - प/61
 यदसि सत्यशिवोयसि सदा हितः - नि/5
 यदि कदाचिदतो हृदि जायते - प/74
 यदि भवभीतोऽसि भवं - श्र/50
 यदि तृणं पदयोश्च निरन्तरं - प/71
 यदि सदा विनये मिलिते सति - प/81
 यदुदितं वचनं शुचि साधुना - नि/71
 यमविहीनतपश्चरणेन किं - प/97
 ययुपधिर्जगता समुपासितः - नि/59
 यस्त्रियोगैरंजनं रागमयं - श्र/81
 यस्य हृदि समाजातः - श्र/36
 याति यतिर्यदि जातु न - श्र/8
 यातोऽस्म्यहं कारविकारभावः - सु/30
 या दृष्टास्त्रीः प्रकृतिः - सु/98
 यामव्योमाघगन्धे दोः - प/प्र/2
 योगैश्च धाराधरः - भा/69
 योग्यो विनेयो गुरुणा श्रमेण - सु/43
 यो ज्येष्ठमासे - भा/69
 योऽस्ति न सदाहारं - श्र/64
 यो दूरो निजस्वतश्चरति - श्र/42
 यो धत्ते सुदृशां समं - श्र/84
 यो भुवि मुनिर्लिंग - श्र/70
 यो मदादि न मन्तु - भा/49
 यो हीन्द्रियाणि जयति - श्र/16
 यः समयति स्वस्मयं - श्र/18
 यः स्वकमनुभवति स तां - श्र/24
 र
 रजोगतश्चि लोचकं लोचकः - भा/67
 रतेन निजे पदेन - भा/57
 रसयुते मिलिते नहि पीरसे - प/65
 रागादिकं चात्मभवं दहेत्तत् - सु/80
 रागादीन् सुधीः पुमान् - श्र/28
 रुचिमेति कुधीः पुमान् - श्र/46
 रुधिरकं तु पिबन्ति पिबन्ति ते - प/26
 रेपवृत्ति परित्यज्य - श्र/प्र/3
 रेपवृत्ति परित्यज्य ना - प/मं/3
 ल
 लसति भानु रयं जिनदास ! खे - नि/35
 लुब्धः समुग्धो विषयेऽप्यघात्मा - सु/43
 व
 वच आश्रित्य साधुतां - श्र/46

वर्णस्य पात्रं किल विश्वशास्त्रं - सु/97
 वसतिका प्रभृते नहि याचना - प/60
 वाहन्ति सन्धि न यमेन सार्धं - सु/4
 वामवमिना ह्यमानं - भा/17
 विकचकंजजय क्षम नेत्रकं - नि/41
 विकचपुष्पचया विहसन्ति ते - प/72
 विकृतरूप शवादिदर्शनात् - प/33
 विगतारागतयास्वमहिंसया - नि/28
 विगतेऽधे मनोभुवि विहरति - श्र/35
 विनग्णे शयनात्मनयोः सतः - प/73
 विजितनिद्रक एव सदा दरं - प/51
 विज्ञस्य चाज्ञेऽप्यहिते हितज्ञय - सु/70
 विदचलीकृतचंचलमानसः - प/44
 विदधानमामोदकं - भा/36
 विदाभिहाहं रमति - भा/71
 विद्याब्धिना सुशिष्येण - प/मं/4
 विद्याब्धिना सुशिष्येण - श्र/प्र/4
 विद्वेषभावोऽपि समं स्वजात्या - सु/78
 विधिदलाः कटुदुःखकरामया - प/68
 विधिनगाशनिरीश सुराजते - नि/66
 विधिनिशा किल संवियतेऽनया - नि/16
 विनयतो जितबोधपरीपहः - प/86
 विनयशंसनपूजनकादर - प/79
 विनाऽत्र रागेण वधूललाटो - सु/20
 विभावतः सुदूराणां - श्र/प्र/1
 विभावतः सुदूराणां - प/मं/1
 विभुरसीह सतां जिनसंगतः - नि/34
 विमदवंचितविश्वमकंपते ! नि/24
 विमलचेतसि पूज्य यतेः सति - प/17
 विमलरोचन भासुररोचना - प/39
 विमुक्तसंगा मनसा रमन्ते - सु/58
 विमुख किं बहुना निजभावतः - प/47
 वियति को वियतिर्वियुतोऽयतः - प/2
 विरत ईश ! भवामि न हंसतः - नि/97
 विरतोऽकामहानये शतकं - भा/4
 विरमति श्रुततो ह्यघकारतः - प/34
 विरगधनं न गधनं - भा/8
 विवाहितः संश्व वरो गृही सो - सु/71
 विविधकर्मलायवहेतवः - प/59
 विवेकयुक्ता अल्लिचट्वरन्ति - सु/75
 विशेषसामान्यचितं सदस्तु - सु/67
 विश्वस्य सारं प्रविहाय विज्ञे - सु/32

विशदः (पद) विद्वन्निता त्वयि तेऽज ! सा - नि/32

विपधरैर्विपभैर्विषयातिगः - प/24

विषयसक्तस्वप्नसामजकन्दरः - नि/42

वेद्यो रोगविनाशी - भा/ 76

वे यम्ययत्यप्ययं दिव्यं - भ्र/14

वेराग्यमूर्तिः प्रणति सुनीता - सु/1

वे विपमयीमविद्यां विहाय - भ्र/101

वे विपमयीमविद्यां विहाय - नि/100

वे विपमयीमविद्यां विहाय - प/100

व्यथित नारकिनोऽपि पिपासवः - प/14

व्रजति चैव मुनिर्मृगाराजतां - प/63

व्रतवता प्रारः समयोगतः - प/88

व्रतिनो न शल्यत्रयं कलयन्तु - भ्र/19

व्रतेषु शीलं च दमो दम्पु - सु/54

व्रतं विदग्धं व्रतिनां धियां वा - सु/8

श

शमनिधीं निजचिद्रिमलक्षिते - प/13

शमयति नान्तं वसुकं - भा/38

शमवतोऽत्र यतंमवतो यतः - प/11

शरीरसम्बन्धिकुलादियोगा- सु/3

शस्ताः प्रजाः सन्तु विनात्र राज्ञा - सु/34

शिरसि भाति तथा ह्यमले तरां - नि/91

शिवपथे चरताव्रत संगतः - नि/48

शिवसुखं प्रमुखं सुस्ममाप्रायः - प/1

शिष्याः स्युस्तके तव - भा/91

शीलरथो भयाऽऽरुदो - भा/22

शुचिचिते भ्रमणोऽत्र समानतः - प/3

शुचिर्विदेकदृशान आत्मा - भ्र/90

शुचौ स्वप्नदेशीतकं यौ - भ्र/4

शृंगार एवैकरसो रसेषु - सु/22

श्रमणतां श्रयता श्रमणेन या - प/19

श्रममितः श्रमणोऽत्र भुवि श्रुते - प/48

श्रमैकफलाम्भतः पौद्गलिक - भ्र/10

श्रयति श्रमणः समयं - भा/79

श्रीकृण्डलगिरी क्षेत्रे - प/प्र/1

श्रीज्ञानसागरकृप्रापरिपाकमेव - भा/101

श्रीज्ञानसागरसुमन्यनजातविद्यां - सु/105

श्रीमन्दमनोमराल ! विविक्त - भ्र/15

श्रीवर्धमान ! मास्य आकलय्य - भ्र/1

श्रुतिसुधामशनं समितातपः - प/66

श्रेयसा मनसा साधोः - भा/58

स

स उपसर्गं इहाजगता सुरैः - प/50

सकलवस्तुगमा तव नासिका - नि/85

सकलकः स मितितया - भा/73

संगोऽगोऽसंगरतः - भ्र/92

संगोऽस्तु संगोऽस्तु समाधिकाले - सु/27

सततमुक्तचरामदमोहिता - प/37

सति शिवे हि मनोपि नियोजयेत् - नि/76

सति तिरस्कृतभास्करलोहिते - नि/19

सति हृदि त्वयि मेत्र विरागता - नि/27

सतेति किं न वा - भा/44

सतः समयसारसतः - भ्र/93

सत्यस्मिन्नेव - भा/40

सत्यैकजिह्वोऽप्यहिवद्विवासः - सु/94

सत्सन्निधाने पतितोऽसुमान्यः - सु/11

सदा साऽऽत्मानुभूतिरुदेति - भ्र/30

सद्दर्मिणि धृतसमयः - भा/95

सद्दृग्विदग्ध्यां मित्रं युक्तं - भ्र/23

स ना नैति नालीकः - भ्र/54

स ना भुवि नायकेन - भा/29

सन्तः समालरन्तः सन्तु - भ्र/51

सपदि संपदि संविदि वा सुखी - प/96

सभयथावददो नहि केवलं - प/84

समधिरोहितबोधसुयानका - प/43

समयते निखिलं व्यवहारतः - नि/52

समयशामितरागविभावसु - नि/51

समयसारत ईश न सारतः - नि/54

समवध्य विधि किल शाश्वत - नि/74

समवलम्ब्य सतीं शुचिशारदां - प/4

समुदयागत ईश शुभे विधी - नि/64

समुदमेति वासन्तः - भ्र/72

समुदिता सह साधुना - भा/79

समुदितेऽसति वै सति मे विधी - प/5

समुपयोगवतो मम वा सुधीः - प/90

समुपलब्धौ समाधौ - भ्र/25

समौचितकोऽत्र कलिगः - भा/56

सरसि जन्तुसभा न कतापतः - प/20

सरसि ते स्तवने मम साधुता - नि/37

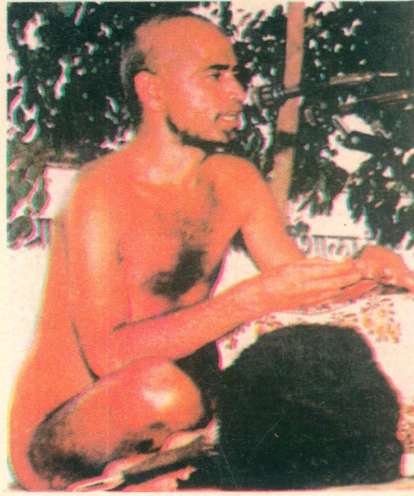
सरस्तत पुष्करेण - भ्र/39

सर्वमन्यद् व्यलीकं - भा/48

सर्विनयं ह्यभिनयं निरजं - नि/1

ससमयं च मुनेश्च्छयनं हितं 4/52
 स हि मुनिर्मयाऽरमितः 1/86
 सागारकोऽप्यसागरं 3/90
 सागारको वाप्यनगाको वा 5/50
 साधव इह समाहितं नमन्ति 3/1
 साधुता सा पदं ह्येतु 1-2
 साधुता सा पदं ह्येतु 4-2
 साधोः समाधिकरणं 3/47
 साभातु गजगतिताया सती 3/21
 सा श्रेयसः कषायात् 3/87
 सिद्धे स्वकार्ये ऋषि कारणानि 5/79
 सुकवितां विरचय्य च केवलं 2/72
 सुधियि वागमृतं कलुषायते 2/78
 सुकुफलं मिलतीह नियोगतः 4/62
 सुकृतैर्नोभ्यां मौनमिति 1/52
 सुखमजं न भजन्नापि दीदिवि 2/21
 सुखिनः सुखे सखे न 1/65
 सुखं सुखेषूत्तममात्मजं तत् 5/56
 सुधृतरत्नत्रयशरं गुरो 3/2
 सुपीतात्मसुधारसः संयमी 1/17
 सुरनगः सुरगौ सुरवैभवं 2/36
 सुरमिचन्दनलेपनरंजनात् 4/69
 सुरमणी प्रथमा प्रगुणावलिः 2/39
 सुरसयोगमितं यदयोगतं 2/12
 सुविधिना यदनेन विलीयते 4/35
 सुविनयशीलोऽकेन श्रित 3/14
 सुशास्तृयोगाद्धि जगत् सुखिस्यात् 5/90
 संज्ञाततत्त्वोऽप्यधनी गृही स 5/25
 संप्राप्य चारित्रसुशीलयोगं 5/77

संयमिभिर्महितेन शीलेन 3/18
 संसारदेहभोग्यः 3/34
 संसारमूलमेन आर्तौद्वयं 1/40
 संसारागाधपाठीना 3/94
 स्थितिर्निजात्मनि 3/41
 स्तवनतोऽस्तु मितं विधिबन्धनं 2/84
 स्तवनतो रसना च शिरो नतेः 2/98
 स्पृशति ते वदनं च मनोहरं 2/22
 स्वकमयं ह्ययि नोऽलभमानतः 2/47
 स्वजातिवात्सल्यगुणं दधानः 5/87
 स्तुतानि ह्यङ्ग तानि व्रतानि 3/20
 स्तुता यतिपतिना गता 3/59
 स्तुति बलं ह्यबलम्य मनोभवे 2/70
 स्तुतिरियं तव येन विधीयते 2/8
 स्वपददं च पदं हि दिगम्बरं 4/28
 स्वयमनुसमयं चरति 3/66
 स्वभावभुक्तिर्न विभावमुक्ति 5/16
 स्ववपुषा प्रथमं प्रथगम्बरं 2/58
 स्वसमयस्य सतोऽप्यनुवादकः 4/85
 स्वानुभवकरणपटवस्ते 1/11
 स्वानुभवैकयोगतः 1/41
 स्वीयतो भुवि भावतः 1/79
 स्वीयं मनो जहार 3/63
 स्वे वस मुदाऽमा यते ! 1/76
 स्वं सुदृशाऽमागच्छ 1/60
 ह
 हरति दययाऽमा नतः 3/55
 हिताहिते ते निहिते हि तेस्तो 5/69
 हिमांशुनाऽपि हिमेन ह्यलं 3/19



व्यक्तित्व -- कर्नाटक, बेलगाम के सदलगा की मृदु-मिट्टी से मलप्या व श्रीमति जी ने सृजा । गृह की द्वितीय संतान होकर भी अद्वितीय है । शैशव से ही सन्त दर्शन की भावना अतृप्त रही, समय-समय पर तृप्ति यत्किंचित् हुई । कौमार्य की दौड़ से कहीं तेज दौड़ कर राजस्थान की मरुभूमि में प्रवेश कर आचार्य श्री ज्ञानसागर जी से दीक्षित हो विद्या-बुद्धि/प्रतिभा/संयम/सेवा और अनुभव का संपोषण किया । तभी तेजस्वी वदन के अन्दर आध्यात्मिक कवि-हृदय का स्फुरण हुआ व मंद स्पन्दित ओष्ठों से धर्म की गाथा आरम्भ हुई, जो अद्यावधि अबाध वृद्धिगत है ।

यौवन की दहलीज पर पग धमाते ही धर्म-निकष-प्रदेश बुन्देल खण्ड में दाखिला ले, सुकोमल सुर्ख कनकाम तन से निरीह हो यथासूत्र धर्माचरण प्रस्तुत कर एकाधिपत्य जाहिर करते हुए स्वैर/स्वतन्त्र विचरण कर रहे हैं। यहाँ पायी इन्होंने मानव के अंदर उठती/उड़ती जिज्ञासाओं की चिड़ियों को पहचानने की अनुपम दृष्टि और आत्मानुशासन के धरातल पर जिन शासन की अश्रुत पूर्व बागडोर/एकाकी साधना के दुर्गमों में विचरते हुए अनुभूतियों की लेखनी से श्वेत पृष्ठों को रंगा और रंगते ही जा रहे हैं बहु भाषाविद् हो साहित्य जगत् में प्रवेश कर ।

कृत्तित्व - नर्मदा का नरम कंकर/डूबोमत, लगाओ डुबकी/तोता क्यों रोता, मूक माटी महाकाव्य ।

(काव्य संग्रह).पाँच संस्कृत शतक हिन्दी ।

पद्यमय! एवं अनेक जैन ग्रन्थों का पद्यानुवाद और कुछ हिन्दी अंग्रेजी की स्फुट रचनाएँ भी ।

जन्म - शरद पूर्णिमा संवत् २००३

दीक्षा - आषाढ़ शुक्ला २०२५

आचार्य पद - मार्गशीर्ष कृष्णा २-२०२९